मिथिला में वेद और वेदाङ्ग

डॉ. उदय नाथ झा 'अशोक'





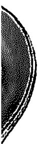
NAG PUBLISHERS

मिथिला मे वेद और वेदाङ्ग

डॉ. उदय नाथ झा 'अशोक'



नाग पब्लिशर्स



मिथिला में वेद और वेदाङ्ग

(वेदवाङ्मय एवं वेदाङ्गों में मिथिला का अवदानात्मक इतिहास)

डॉ. उदयनाथ झा 'अशोक'

व्या. सा. एम्. ए. (द्व), डी. लिट्, साहित्यरत्न
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय)
गङ्गानाथ झा परिसर, इलाहाबाद – 211002

Forwarded free of cost with
the compliments of Rashtriya
Sanskrit Sansthan, New Delhi



नाग पब्लिशर्स
११.ए, यू. ए., जवाहर नगर, दिल्ली ११०००७ (भारत)

प्राक्कथन —

सामान्यत: मिथिला की प्रसिद्धि, दर्शनशास्त्रों, विशेषकर न्याय और मीमांसा दर्शनों में उनके द्वारा किये गये योगदानों को लेकर ही मानी जाती है । परन्तु जनक, याज्ञवल्क्य से लेकर बाद के आचार्यों को देखने से इस सत्य को भी नकारा नहीं जा सकता कि उस प्रसिद्धि की नींव यदि कोई है तो वह वैदिक साहित्य ही है, वेद-वाङ्मय ही है । वेद-वेदाङ्गों में मैथिलाचार्यों के अवदानात्मक साहित्य की भित्ति पर ही यह प्रसिद्धिरूपी गगनचुम्बी अट्टालिका सुशोभित खड़ी दिखती है ।

यह वही मिथिला है, जहाँ वेदमाता गायत्री का दर्शन हुआ था, योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने आत्मज्ञान के रहस्य को उद्घाटित किया था, भगवान् वेदव्यास भी जहाँ अपने पुत्र शुकदेवजी को शिक्षा-दीक्षा पाने के लिए राजर्षि जनक के पास भेजे थे । शुकदेवजी भी द्वारपाल की ब्रह्मात्म सम्बन्धी बातें सुनकर क्षुब्ध हो गये थे । बाद में भी जहाँ शंकराचार्य पनिहारिणी एवं कुम्भकारों की ज्ञानभरी बातों से पल भर के लिए आश्चर्यचकित व स्तम्भित हो गये थे । इतना ही नहीं सम्पूर्ण विश्व में यदि कोई स्त्री-शिक्षा का प्रवल पक्षधर प्रदेश है, आदि-भू-भाग है, तो वह यही मिथिला है, जहाँ गार्गी-मैत्रेयी-सुलभा-सुनयना सरीखी ब्रह्मवादिनी हुई हैं । जब स्त्रियों के लिए वेदाध्ययन निषिद्ध नहीं था, उस प्राक् वैदिक युग में भी मैथिलानी अध्ययन-अध्यापन में रुचि रखती थी । शंकरानुवर्त्तियों की मानें तो आचार्य मण्डन मिश्र की पत्नी और कुमारिल भट्ट की बहन 'उभयभारती' भी नारी शिक्षा की ज्वलन्त उदाहरण रही हैं ।

ऐसी महिमामयी गरिमा-गरीयसी मिथिला में न केवल वेदाङ्ग साहित्य की रचना की गयी, वेद-वेदाङ्ग की व्याख्याएँ हुईं, वल्कि वेदों के कई मन्त्रों को देखा भी गया है और ऋचाओं का साक्षात्कार भी किया गया है । इतना ही नहीं कई ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् भी यहाँ प्रादुर्भूत हुई हैं । परन्तु इन सब का सङ्कलन एकत्र न देखकर मुझे इस दिशा में कुछ करने का भाव जगा । 'विनुभावहिं नहि प्रीति' के आधार पर ही हमें अपनी मातृभूमि के प्रति 'प्रीति' जगी और 'स्वान्त: सुखाय' स्वत: यह रचना हो गयी । पुस्तक प्रणयन की योजना कभी नहीं थी, आलेख लिखते - लिखते यह पुस्तक कब बन गयी – इसका पता तो मुझे चल ही नहीं पाया ।

वेद-वेदाङ्ग के क्षेत्र में मैथिल ऋषि-मुनियों के द्वारा, आचार्य और विद्वानों के द्वारा जो कुछ भी काम किया गया है, उसी सबका यहाँ लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है, संक्षिप्त विवरण और परिचय दिया है । वल्कि यह कहें कि सूचना मात्र दी गयी है तो अधिक उपयुक्त रहेगा । वेद की किस विधा में, वेदाङ्ग के किस शास्त्र में यहाँ के सपूतों ने, विद्या-विभूतियों ने काम किया है, किस प्रकार का योगदान दिया है – इसी सबकी सार-सूचना हमने इस पुस्तक में उपस्थापित की है । सम्भव है, प्रवाहवश इसमें कुछ ऐसे भी आचार्य आ गये हों, सम्मिलित कर

लिये गये हों, ऐसी कृति भी समा गयी हों, जिनका उल्लेख हमें यहाँ नहीं करना चाहिए था । पर विवादास्पद होने के कारण, मैथिल रहने के पीछे कुछ न कुछ आधार मिलने के कारण ही हमने उन्हें यहाँ समाविष्ट किया है । इसी प्रकार कुछ ऐसे भी आचार्य या रचनाकार रह गये होंगे, जिन्हें यहाँ सुतरां होना चाहिए था, पर हमारी अज्ञता और असावधानता ने ऐसा करने से वञ्चित कर दिया । इन दोनों ही विन्दुओं के लिए 'क्षमा याचना' शब्द यद्यपि बहुत ही छोटा पड़ेगा, फिर भी उसके अतिरिक्त मुझे और कुछ दिखायी भी तो नहीं देता है ।

जिन - जिन विधाओं या शास्त्रों में मिथिला के वरदपुत्रों के योगदानों को यहाँ दरसाया गया है, उन सभी विधाओं व शास्त्रों का संक्षिप्त परिचय भी हमने पूर्वार्द्ध भाग में दे दिया है, जिससे सामान्य पाठक भी अवगत हो सकें । परन्तु द्वितीय भाग की तृतीय पीठिका के आरम्भ में कुछ ऐसी बातें आ गयी हैं, जिन्हें वहाँ न होकर प्रथम भाग की चतुर्थ पीठिकागत व्याकरणवाले अंश में होनी चाहिये थीं । उस पूर्व रचित निबन्ध को हमने यथावत ही रख दिया है, इसी कारण ऐसा हुआ । इस अपराध के लिए भी एक मात्र 'क्षमा' ही शरण है ।

इतिहास जैसे विषय पर लेखनी प्रसार में मुझ जैसे अज्ञ का स्खलन स्वाभाविक है, अत: त्रुटियों के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ । मेरा यह प्रयास पण्डितों के लिए नहीं है और पण्डितों किंवा ज्ञानियों के लिए कोई ग्रन्थ लिखा भी नहीं जाता । क्यों कि जब कोई व्यक्ति किसी शास्त्र में निपुण हो जाता है तो वह 'विद्वान्' कहलाने लगता है और जब वही विद्वान् अनेकों शास्त्रों में पारङ्गत हो जाँए, तो उसकी गणना पण्डितों में होने लगती है । इसीलिए 'केचित्पण्डित पण्डिता:' कहा गया है । अतएव पाण्डित्य की दृष्टि से इसमें बहुत कुछ मिलना कठिन ही होगा ।

प्रस्तुत पुस्तक प्रणयन में मुझे जिन - जिन सामग्रियों किंवा पत्र-पत्रिका, पुस्तक एवं सन्दर्भग्रन्थों से तथा व्यक्तियों से यत्किञ्चित् भी सहायता मिली है, उन सभी के प्रति, मनीषीजनों के प्रति कृतज्ञता का सविनय प्रतिपादन करना मेरा प्रथम कर्त्तव्य है । पुन: उनका भी आभारी हूँ तथा उन हितैषी लोगों का भी अधमर्ण हूँ, जिन्होंने कई प्रकार के निर्देश दिये हैं । पारिवारिक दायित्वों से मुक्त कर लेखन-मनन एवं अध्ययन-अध्यापन में जिसने सदैव प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सहयोग दिया है, ऐसी धर्मपत्नी श्रीमती नन्दा झा एवं अपने तीनों पुत्रों चि. विपुल-छोटन-अतुल (हृदयनाथ-निर्भयनाथ-प्रणयनाथ) को भी कैसे भूल सकता हूँ, जिनके सहयोग के विना एक पंक्ति भी लिखना सम्भव नहीं था ।

यदि इस पुस्तक से किसी भी व्यक्ति का, विद्वान् या अनुसन्धाता का थोड़ा भी उपकार हो सका, तो मैं अपना प्रयास सफल समझूँगा । पाठकों से अतिरिक्त सूचना देने की प्रार्थना के साथ –

इलाहाबाद

वसन्तपञ्चमी, २०१३

विनीत

(डॉ.) उदयनाथ झा "अशोक"

सूचीपत्र

प्रथमभाग

द्वितीयभाग

परिशिष्ट

प्रथम भाग

प्रथम पीठिका

मिथिला का संक्षिप्त परिचय

अघ-हरादि-सुर-पञ्च नित घट बिच करें निवास ।
दु:ख-बाधा हरकर करें सब, मन में सुमति प्रकाश ।।
माता-तात तथा गुरु-वन्दन ताके पाद समर्पित चन्दन ।
भक्ति-सशक्ति सभा-सम्बर्द्धन कर, सादर करता अर्पण ।।

कुछ ऐतिहासिकों व आचार्यों ने यह माना है कि वैदिक काल में आर्य लोग सरयू पार कर पूर्व की ओर प्रस्थान किये थे, जहाँ की भूमि नदियों की बहुलता के कारण दलदल थी। इसी भूमि को देवताओं की सहायता से ऋषियों ने हवन कर - करके सुखाया, तब जाकर कहीं वह बसने लायक बन सकी।

यही भूमि 'तीरभुक्ति' या 'तिरहुत' कहलायी, नदियों के तट (तीर) पर होने के कारण। 'मिथिला' या 'विदेह' नाम तो इसके बाद के हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि तीरभुक्ति या तिरहुत जहाँ क्षेत्र का वाचक था, प्रान्त का वाचक था; वहीं 'मिथिला' स्थानविशेष की संज्ञा थी। किन्तु कुछ लोग यह नहीं मानते। वे शतपथ ब्राह्मण की एक कथा को उद्धृत कर कहते हैं कि — एक दिन मिथि (मिथिल, माथव या विदेहमाथव) ने अग्निदेव को अपने मुख में छिपा रक्खा था। उनके पुरोहित गोतम ने उन्हें पुकारा, पर मुख में अग्नि होने के कारण वे बोल न सके। तब गोतम ने उन्हें "बीति होत्र" आदि मंत्र के द्वारा पुकारा; पर फिर भी कोई उत्तर न मिला। अनन्तर पुरोहित ने जब "तंत्वा घृतस्नवीमहे" इत्यादि मंत्र पढ़कर पुकारा, तो घृत के नाम सुनते ही अग्निदेव मिथि के मुख से निकल पड़े। अपनी ज्वालामयी जिह्वा को लप-लपाते हुए अग्निदेव जिधर जाते, उधर ही दलदल भूमि सूखती चली जाती। गोतम और मिथि उनके पीछे चल रहे थे। अग्निदेव वहाँ की सभी नदियों को सुखाकर, भूमिको कठोर

बनाते हुए आगे निकल पड़े। बस, केवल कोशल की पूर्वी तट पर बह रही 'सदानीरा' को वे सुखा नहीं पाये[१]। यहीं सदानीरा के तट पर मिथि व गोतम को अग्निदेव ने बसने की सलाह दी। कुछ लोग कहते हैं कि यही क्षेत्र 'तीरभुक्ति' बना।

यह सही है कि शतपथ ब्राह्मण[२] के अनुसार माथवराजा अपने कुलपुरोहित गोतम रहूगण को साथ कर यज्ञ करने व उपनिवेश बनाने के उद्देश्य से, सरस्वती तट से सदानीरा (गण्डकी नदी) के तीर तक आये, जो कोशल राज्य की पूर्वी सीमा थी। कहते हैं, उन दिनों, आज की कर्मनाशा नदी की भाँति कोई भी व्यक्ति सदानीरा का जल न तो छूता था और न ही उसके पूरब कोई जाता था। सर्वप्रथम यही माथव राजा ने इसके तट पर यज्ञ किया और वैश्वानर अग्निदेव की सलाह तथा आशीर्वाद से नदी को पार किया। सदानीरा से पूरब आकर माथव या मिथि ने मिथिला की स्थापना की। तथा इसी गण्डक नदी को मिथिला व कोशल राज्यों की सीमा मानी गयी।

भविष्य पुराण के अनुसार अयोध्या के मनुपुत्र निमि इस यज्ञभूमि में आये और उनके पुत्र (?) मिथि ने अपने भुजबल से वहाँ तीरभुक्ति के पार्श्व में एक नगर बसाया, जिसका नाम 'मिथिला' पड़ा और वे मिथि या मिथिल, पुरी निर्माता होने के कारण 'जनक' कहलाये —

"निमेः पुत्रस्तु तत्रैव मिथिर्नाम महान् स्मृतः।
प्रथमं भुजबलैर्येन तैरहूतस्य पार्श्वतः॥
निर्मितं स्वीय नाम्ना च मिथिलापुरमुत्तमम्।
पुरी-जनन-सामर्थ्याज्जनकः स च कीर्त्तितः॥"

आदिकवि वाल्मीकि भी इसी की पुष्टि करते दिखते हैं —

"निमिः परमधर्मात्मा सर्वतत्त्ववतां वरः।
तस्य पुत्रो मिथिर्नाम जनको मिथिपुत्रकः॥"

आचार्य पाणिनि के अनुसार जहाँ शत्रु मर्दित किये जाँये, वही 'मिथिला' है — "मिथिलादयश्च। उण् १/५८। मथ् इल् च। मथ्यन्ते शत्रवो अस्याम्"। 'मथ्यन्ते शत्रवो यस्यां सा मिथिला' (मथ् + इलच्)।

इसी व्युत्पत्ति के आधार पर पं. अच्युतानन्द दत्तजी यह मानते हैं कि मिथि ने 'अयोध्या' के समानार्थक 'मिथिला' नामकी नगरी बसायी[३]। वस्तुतः इससे यह भी पता चलता है कि यहाँ के शासकों के प्रचण्ड भुजदण्डों में कितना प्रबल प्रताप था।

अगस्त्य रामायण में कहा हैं —

"अन्तोबहिश्च सर्वत्र मथ्यन्ते रिपवः सदा।
मिथिला नाम सा ज्ञेया जनकैश्च कृता मही।।"

अर्थात् शरीरस्थ और बाह्यशत्रु जहाँ पराजित किये जाँए वही मिथिला है। वृहद् विष्णुपुराण के पाताल खण्ड में पराशर-मैत्रेय के सम्बाद में भी ऐसा ही श्लोक आया हुआ है। जिससे सिद्ध होता है कि वस्तुतः जहाँ शत्रु या शत्रुओं का मथन हो, मर्दन हो, वही मिथिला है।

वेद-ब्राह्मण में मिथिला का वैशिष्ट्य

मिथिला में एक भी पग भूमि ऐसी नहीं, जहाँ कभी न कभी कुण्ड-वेदी न बनी हो अथवा जहाँ हवनादि सामग्रियों से अग्निदेव सुतर्पित न हुए हों। यह तो सभी जानते ही हैं कि सदानीरा आदि नदियों के कारण विदेहक्षेत्र जलमग्न था या फिर दलदल था। यहीं गौतममुनि की प्रेरणा से इक्ष्वाकुकुमार निमि ने एक यज्ञ किया। वह यज्ञ इतना बड़ा था कि यज्ञवेदी के आसपास की भूमि भी शुष्क हो गयी। इसी स्थान का नाम निमि के विदेह हो जाने के बाद और मिथि किंवा मिथिल की उत्पत्ति के पश्चात् 'मिथिला' पड़ा। फिर देवता, महर्षि, राजर्षि और मनुष्यों द्वारा यज्ञ होता रहा, भूमि शुष्क होती गयी और मिथिला का क्षेत्र बढ़ता गया। यह वही क्षेत्र है जिसे शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिनशाखा के शतपथ ब्राह्मण में 'अनूपदेश' कहा गया है, अनूप — जलप्राय देश यानि परम पवित्र मिथिला। यज्ञों से हुई शुष्क भूमि का क्षेत्र अधिक, पर निवासियों की संख्या आपेक्षिक कम। कालान्तर में वन-प्रधान क्षेत्र हो गया। हिमालय और विन्ध्य का मध्यवर्ती भाग 'यज्ञकेन्द्र' के रूप में जाना जाने लगा। साक्षात् परमपिता परमेश्वर, परब्रह्म ब्रह्माजी भी यहाँ पर यज्ञ करने के लोभ को संवरण नहीं कर पाये। एक- एक तिल भूमि विभिन्न समयों की

यज्ञ-वेदिकाओं की साक्षी है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में एक बड़ी विलक्षण कथा आयी हुई है कि — "जनकोह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे— तत्र ह कुरुपाञ्चालानां ब्राह्मणा अभि समेता बभूवुस्तस्य जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कः स्विदेतेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति। स ह गवां सहस्रमव रुरोध दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः। तान्होवाच-ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति ते ह ब्राह्मणानद धृषुरथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सौम्योदज सामश्रवाऽ इति — ताहोदाचकार तेह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठोऽब्रवीतेत्यथह जनकस्य वैदेहस्य होताऽश्वलो बभूव— सहैनं पप्रच्छ—त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोसी इति— सहोवाचनमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वय स्म इति त ह ततएव प्रष्टुं दध्रे — होताऽश्वलः, इत्यादि सहोवाच — जनको वैदेहोऽभयं त्वागच्छताद्याज्ञवल्क्य— येनोभगवन्नभयं वेदयसे- नमस्तेऽस्त्विमे— विदेहा अयमस्मि।"

अर्थात् — एक समय कुरुपांचाल देशों के ऋषि-मुनि राजर्षि जनक के दरवार में पहुँचे। मिथिला के भी ऋषि मुनि उपस्थित थे। राजर्षि जनक को हुआ कि क्यों न इसी अवसर पर सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी को कुछ गायें दी जायें। उन्होंने आदेश दिया और एक सहस्र गाय दान के लिए तैयार हो गयी। प्रत्येक गाय के शृंग को स्वर्णशृंग से युक्तकर और खुर को रौप्यखुर से सुसज्जित किया गया था। राजर्षि ने घोषणा की — "आप लोगों में जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ हों, वे ये सारी गायें ले जाँये।" परन्तु किसी ने यह साहस नहीं किया। कुछ देर देखने के बाद योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य सामश्रवा को इन सारी गायों को आश्रम में ले जाने का आदेश दिया। जब सामश्रवा गायों को ले जा रहा था तो उपस्थित सभी ऋषि-मुनि क्रुद्ध हो गये, यह क्या विना निर्णय हुए ही कोई अपने आप को सवश्रेष्ठ कैसे कह सकता है ? न वाद-विवाद, न शास्त्रार्थ, फिर अपने को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मविद् मानना कहाँ तक संगत है ? फिर क्या था, उन्हीं में से एक महर्षि, आश्वल नामक 'होता' आगे आये और याज्ञवल्क्य से ब्रह्मविज्ञान में भिड़ गये। परन्तु सब व्यर्थ गया, कोई भी

ऋषि-महर्षि टिक नहीं पाये, याज्ञवल्क्य को पूरी सभा ने विजयी घोषित किया। फिर एक वार वेद-ब्राह्मण में मिथिला का डंका बजा।

योगीश्वर याज्ञवल्क्य — याज्ञवल्क्य अपने मामा वैशम्पायन से यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता की शिक्षा ली थी, जो उन दिनों मात्र 'यजुर्वेद' से ही जानी जाती थी। तैत्तिरीय संहिता अथवा कृष्णयजुर्वेद की संज्ञा उन दिनों नहीं पड़ी थी। परन्तु वैशम्पायन के क्रुद्ध हो जाने पर इन्होंने उन सारी विद्याओं को उगल (वान्त कर) दिया, जिसे तित्तिर बनकर वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने चुन लिये और इसी कारण उस संहिता का नाम तैत्तिरीय संहिता पड़ा[४]। अनन्तर सूर्य की आराधना से याज्ञवल्क्य को दिन के मध्य भाग में शुक्ल यजुर्वेद (वाजसनेय संहिता) तथा शतपथ ब्राह्मण की प्राप्ति हुई।

शुक्ल यजुर्वेद एवं शतपथ ब्राह्मण के स्मर्त्ता-कर्त्ता अथवा द्रष्टा हैं योगीश्वर याज्ञवल्क्य। कुछ लोग मानते हैं कि वेदव्यास ने वेदों का विभाग किया था, पर वे शुक्ल यजुर्वेद संहिता का विभाग नहीं किये थे। इन्होंने अपने तर्क में दो बातों का उल्लेख किया है कि — पहला तो यह कि व्यासदेव द्वारा विभक्त, संग्रहीत अथवा पठित वेदों पर आचार्य सायण ने अपना भाष्य लिखा था, जो शुक्ल यजुर्वेद पर नहीं है, अतः इसके संग्रहकर्त्ता व्यासजी नहीं हैं। दूसरा तर्क यह है कि महाभारत आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों से यह विदित होता है कि याज्ञवल्क्य ने ही इन दोनों भागों (शुक्ल यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण) को मिथिला में रहकर राजर्षि जनक के यज्ञ में बनाया अथवा स्मरण किया। जो भी हो, पर इतनी बात सच है कि इन दोनों ग्रन्थों को छोड़ अन्य किसी भी वेद मंत्रों के स्मर्त्ता, कर्त्ता या द्रष्टा याज्ञवल्क्यजी नहीं हैं।

याज्ञवल्क्य बहुत बड़े वेदान्ती भी थे, जिन्होंने उद्दालक आरुणि से वेदान्त पढ़े थे[५]। रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य ने कहा है कि शुक्ल यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण को बने हुए ५००० वर्ष हुए हैं और इसी समय मिथिला राज्य की स्थापना भी हुई होगी।

रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य एवं बाबू काशी प्रसाद जायसवाल जैसे कुछ विख्यात विद्वानों का यह मत है कि ऋग्वैदिक काल में आर्यों को सदानीरा या मिथिला का पता नहीं था, वरना इन दोनों का उल्लेख ऋग्वेद में भी अवश्य हुआ होता। उत्तर वैदिक काल में ही आर्य लोग विदेह या मिथिला आये होंगे। परन्तु ऋग्वेद के ३१ वें मण्डल व ३८ वें सूक्त के अनेकों मंत्रों को देखने से ये सारी बातें खण्डित हो जाती हैं, क्यों कि उन मंत्रों के कर्त्ता गोतम रहूगण को साथ कर माथवराजा मिथिला गये थे — यह बात सिद्ध होती है[६]।

विष्णुपुराण, जो कि ऐतिहासिकों की दृष्टि से सर्वाधिक प्रामाणिक पुराण माना जाता है, उसमें[७] कहा गया है कि वैवस्वत मनु के पुत्र इक्ष्वाकु के दूसरे पुत्र थे निमि। जब वसिष्ठ के द्वारा ये शापित होकर विदेह (विगत देह) हो गये तो भृगु, गोतम आदि ऋषियों के तपोबल से पुनः जीवित हो उठे। किन्तु इन्होंने कहा — "मैं अब जीना नहीं चाहता, यदि आप सब मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मात्र यही वर दीजिए कि मैं मनुष्यों के पलकों पर निवास करूँ"[८] और तभी से निमि 'निमेश' बनकर मनुष्यों के पलकों पर रहने लगे।

इधर अराजक राज्य का चलना कठिन देख ऋषियों ने निमि को मथ डाला और उससे उत्पन्न मिथिल (मिथि) को तिरहुत का राजा बनाया। ये बिना पिता अर्थात् स्वयं उत्पन्न होने के कारण 'जनक' हुए, मथकर उत्पन्न होने के कारण मिथि, मिथिल अथवा माथव कहलाये; जब कि विगत देह से उत्पन्न होने के कारण 'विदेह' भी इनका ही नामान्तर हुआ। 'आईने तिरहुत' नामक पुस्तक के अनुसार पिता के समान प्रजापालक होने के कारण प्रजा के द्वारा ही इन्हें 'जनक' की उपाधि दी गयी। इन्होंने ही मिथिलापुरी बसायी। जब निमि पहलीवार यहाँ आये तो उस समय इस क्षेत्र का नाम 'वैजयन्त' था, जिसका अनुमोदन वाल्मीकिय रामायण से भी हो जाता है। भविष्यपुराण और श्रीमद्भागवत से भी विष्णुपराण की उपर्युक्त बातों की पुष्टि होती है।

जनक वंश के तीन नाम हैं — मिथिवंश, जनकवंश एवं विदेहवंश। इन्हीं तीन नामों से जगज्जननी सीता के भी तीन नाम पाये जाते हैं —

मैथिली, जानकी एवं वैदेही।

महाभारत (भीष्मपर्व) से यह ज्ञात होता है कि भारत युद्ध में मिथिला नरेश सुबाहु कौरवों की ओर से और उनके पुत्र व सेना पाण्डवों की ओर से युद्ध किये थे। प्रायः अपने मित्र श्रीकृष्ण की नीति ही इन्होंने भी अपनायी होगी। एक वार पाण्डवों ने भी अपने राजसूय यज्ञ के समय मिथिला पर आक्रमण कर विदेहराज सुबाहु जनक को पराजित किया था। कहा जाता है कि पाण्डवों के द्वारा इन्हें पराजित करना यद्यपि असम्भव था, किन्तु विना पराजित किये यज्ञ की पूर्णता भी तो संभव नहीं थी। अतः भगवान् श्रीकृष्ण मध्यस्थ हुए, जो दोनों के परम मित्र थे। उन्हीं की सम्मति से पाण्डवों ने अपने को विजित घोषित किया था और सुबाहु ने भी पराजय मान ली थी। इसी बात को महाभारत के सभापर्व (अध्याय- ३७) में इस प्रकार बताया गया है — "पाण्डुना मिथिलां गत्वा विदेहाः समरेजिताः। विजिझे पुरुषव्याघ्र नातितीव्रेण कर्म्मणा ।।"

'शक्तिसंगम तंत्र' के अनुसार तीरभुक्ति के नामसे जाने जाने वाली विदेहभू (मिथिला) गण्डकी (सदानीरा) के तट से लेकर चम्पारण्य (पूर्णियाँ जिले का चम्पानगर, न कि मोतिहारी जिले का चम्पारण्य) की अन्तिम सीमा तक फैली हुई है — "गण्डकी तीरमारभ्य चम्पारण्यान्तरं शिवे। विदेहभूः समाख्याता तैरभुक्ताभिधातु सा ।।"

वृहद्विष्णुपुराण के अनुसार भी लगभग यही सीमा बतायी जाती है — "कौशकीन्तु समारभ्य गण्डकीमधिगम्य वै। योजनानि चतुर्विंशद् व्यायामः परिकीर्त्तितः ।। गंगा प्रवाहमारभ्य यावद्धैमवतं वनम्। विस्तारः षोडश प्रोक्तो देशस्य कुरुनन्दन ।। मिथिला नाम नगरी तत्रास्ते लोक विश्रुता। ...." आदि। अर्थात् कौशिकी (कोशी) नदी से लेकर गण्डकी पर्यन्त मिथिला राज्य की पूर्वी - पश्चिमी सीमा २४ योजन अर्थात् ९६ कोस की लंवाई की है। जब कि गंगानदी से लेकर हैमवतवन (हिमालय) तक की चौड़ाई १६ योजन अर्थात् ६४ कोस की है। इसके बीचकी भूमि मिथिलानगरी कहलाती है।

नदीतट की भूमिको 'तीरभुक्ति' कहा जाता है, जिसका तद्भव

'तिरहुत' है। यही है मिथिला के तीरभुक्ति नामकरण का कारण और इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि —

"जाता सा यत्र सीता सरिदमलजला वाग्वती यत्र पुण्या
यत्रास्ते सन्निधाने सुरनगरनदी भैरवो यत्र लिङ्गम्।
मीमांसान्याय - वेदाध्ययनपटुतरैः पण्डितैर्मण्डिता या
भूदेवो यत्र भूपो यजन-वसुमती साऽस्ति मे तीरभुक्तिः ॥"

कनिंघम और काशी प्रसाद जायसवालजी लिखते हैं कि पाणिनि ने जिन वृज्जियों की बात लिखी है, उसके दो भेद हैं — लिच्छवी और वैदेह। ये दोनों एक ही जाति या राष्ट्र के दो रूप हैं, दो शाखाएँ हैं। वृजियों को ही पाली भाषा में वज्जी या वज्जि कहा जाता है। कनिंघम के अनुसार वैशालीवाले वैसे ही लिच्छवी कहलाते हैं, जैसे मिथिलावाले वैदेह[९]।

यह भी कहा जाता है कि वैशाली राज्य का संस्थापक विशाल नाभागवंश का राजकुमार था। वाल्मीकिय रामायण के बालकाण्ड में वैशाली का उल्लेख तो मिलता है, पर परवर्ती महाकाव्य महाभारत में वैशाली का कोई उल्लेख देखा नहीं जाता। फलतः कुछ लोग यह मानते हैं कि नाभागवंशियों की शक्ति क्षीण होने पर या फिर अन्य किसी कारणवश विदेहों ने वैशाली को मिथिला में मिला लिया था।[१०]

बौद्धकाल में वैशाली गणतांत्रिक राज्य थी, जहाँ लिच्छवियों का आधिपत्य था। यह लिच्छवी कौन थे— इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक ऐकमत्य नहीं हैं, पर इन्हें मनुस्मृतिकार ने व्रात्य क्षत्रिय कहा है — "झल्लो मल्लश्च राजन्याद् व्रात्यान्निच्छविरेव च।" वस्तुतः लिच्छवी शब्द निच्छवि से ही बना होगा, और इन्हें वृज्जीजाति का माना गया होगा।[११]

निमिके बड़े भाई 'विकुक्षि' थे, जिनसे रघुवंश चला। दुर्गादास लाहिड़ी जैसे कुछ लोगों के अनुसार निमि के अनुज का नाम विशाल था, जिन्होंने 'विशाला' नामकी नगरी बसायी और जो बाद में वैशाली नामसे प्रसिद्ध हुई। यही नगर आजका बसाढ़ (जिला - हाजीपुर) है। इतिहास

गवाह है कि जब रामचन्द्रजी मिथिला आये तो उन्हें रास्ते में विशालापुरी भी मिली थी और उस समय वहाँ के राजा सुमति थे।[१२]

बौद्धजातकों के अनुसार विदेहों का राज्य कुल तेईस सौ मीलों तक फैला हुआ था, जिसकी राजधानी मिथिला थी और उसका घेरा लगभग पचास मील का था।[१३]

"जन्मना जनकः सोऽभूद्वैदेहस्तु विदेहजः। मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता॥" (श्रीमद्भागवत)। निमि के बाद १९ वीं पीढ़ी में राजर्षि सीरध्वज जनक हुए, जो जगज्जननी सीताजी के पिता थे, जो जीवन्मुक्त थे — "ऐते वै मैथिला राजन्नात्मविद्याविशारदाः। योगेश्वर प्रसादेन द्वन्द्वैर्मुक्ता गृहेष्वपि॥" (श्रीमद्भागवत)।

देवीभागवत में एक कथा आयी है कि जब व्यासजी सुमेरु पर्वत पर थे, तब उनके पुत्र शुकदेवजी उनके पास गये और मुक्ति पाने की इच्छा से उनसे वन जाने की आज्ञा मांगी। पर व्यासजी ने कहा कि राजर्षि जनक की भाँति घर में ही रहकर ज्ञान प्राप्त करो और मिथिला जाकर उनसे दीक्षा ले लो। अनन्तर शुकदेवजी मिथिला आये और जनकजी से मिलने पहुँचे, पर हाय री विडम्बना। यहाँ तो द्वारपाल ने ही रोक लिया। विना हमारे प्रश्न का जबाव दिये आप आगे बढ़ ही नहीं सकते। द्वारपाल ने जिज्ञासार्थ प्रश्न किया — "किं सुखं द्विज ! किं दुःखम् ?" इस तरह के आध्यात्मिक प्रश्न से शुकदेवजी चकित रह गये। क्या यहाँ का द्वारपाल भी अध्यात्मविद्या प्रवीण होता है ? इन्होंने द्वारपाल के प्रश्नों का समाधान तो कर दिया, पर आत्मग्लानि से कभी उबर नहीं पाये कि मुझ जैसे व्यक्ति को यहाँ द्वारपाल से भिड़ना पड़ा।

शुकदेवजी का आगमन सुनकर जनकजी बड़े प्रसन्न हुए, पर वे उनसे मिलने नहीं आये। उनके लिए विश्राम आदि की व्यवस्था करबा कर उनके योगी होने की परीक्षा के लिए उनकी सेवा में कुछ सुन्दरी दासियाँ भिजवा दी — "गीतवादित्रकुशलाः कामशास्त्र विशारदाः। ता आदिश्य च सेवार्थं शुकस्य मंत्रिसत्तमः॥" ये सब देखकर शुकदेवजी बहुत क्षुब्ध हो गये, 'आखिर यह कैसा राजर्षि है, पिताजी कहाँ

भेजकर फँसा दिये'। इन्होंने दासियों को माता समझकर व्यवहार किया और स्वयं योग में लीन हो गये। इधर इन दासियों से सारा वृत्तान्त सुनकर प्रातः जनकजी अपने गुरु, मंत्री आदि के साथ उनसे मिलने आये तो शुकदेवजी से उन्हें बहुत कुछ सुनना पड़ा। पर जनकजी के द्वारा सारा वृत्तान्त बताने पर शुकदेवजी का गुस्सा शान्त हुआ और उन्होंने जनकजी को अपना गुरु मान लिया। योगवासिष्ठ तथा गर्गसंहिता में भी इस देवीभागवत की कथा का विस्तृत वर्णन हुआ है। वस्तुतः अध्यात्मज्ञान के लिए मिथिला का इससे बढ़कर और क्या गौरव हो सकता है।

जब शुकदेवजी मिथिला पधारे थे, तब उन्होंने यहाँ की प्रजा को सुखी, प्रसन्न और सदाचार निपुण देखकर बड़े प्रसन्न हुए थे— "प्रविष्टो मिथिला मध्ये पश्यन् सर्वर्द्धिमुत्तमाम्। प्रजाश्च सुखिताः सर्वाः सदाचार सुसंस्कृताः ॥"

महाभारत में एक कथा यह भी आयी है कि मिथिला का एक मांस विक्रयी व्याधाने एक क्रोधी ब्राह्मण को गृहस्थाश्रम का मर्म समझाया था, कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का सामञ्जस्य दिखलाया था।

जनकजी गृहस्थाश्रम में रहकर भी जीवन्मुक्त थे। तभी तो इनके आध्यात्मिक ज्ञान देखकर और पारमार्थिक उपदेश सुनकर कई बड़े ऋषि-मुनि भी मुग्ध हो जाया करते थे और इस परम पावन मिथिला को तीर्थ मानकर किसी न किसी नदी के तट में या फिर किसी न किसी निर्जन वन में अपनी कुटी बनाकर तपस्या किया करते थे।

भागवत के १०म स्कन्ध के उत्तरार्द्ध में आया हुआ है कि मणि की खोज में शतधन्वा का पीछा करते-करते श्रीकृष्ण और बलरामजी जब मिथिला आये तो यहाँ उन्होंने शतधन्वा को मार तो दिया, पर उसके पास से मणि प्राप्त नहीं हुआ। फलतः पश्चात्ताप करते हुए श्रीकृष्ण ने बलरामजी को वापस भेजकर स्वयं अपने अनन्यसखा सुबाहुजनक से मिलने पहुँच गये — "वृथा हतः शतधनुः मणिस्तत्र न विद्यते। अहं विदेहमिच्छामि द्रष्टुं प्रियतमं

मम ।।"

महारामायण[१४] के अनुसार मिथिलेश सीरध्वज जनक प्रतिदिन कैलाश पर जाकर शंकरजी की पूजा किया करते थे, रावण भी प्रतिदिन वहाँ पूजा करने आता था। एक दिन वेद विषयक वाद-विवाद पर दोनों भिड़ गये और अन्त में रावण को हार का सामना करना पड़ा। भीतर ही भीतर रावण इन पर आक्रमण करने को सोच रहा था तो भगवान् शंकर ने भाँप लिया, उन्होंने रावण से कहा – "तुम अपने मन से यह आत्मघाती विचार निकाल दो, युद्ध में भी तुम इनसे जीत नहीं सकते। अपने गुरुदेव की चेतावनी से ही वह सम्हल गया और जनक के बल का लोहा मान बैठा। आखिर, जिनके बल के साक्षी साक्षात् शंकरजी हों, उनका और कहना ही क्या ?

एक बार सुधन्वा ने भी मिथिला पर आक्रमण किया था, पर उसे भी मुँह की खानी पड़ी थी। वाल्मीकि रामायण में जनकजी विश्वामित्रजी से कहते हैं कि मैं दो भाई हूँ, सुधन्वा को मारकर मैंने अपने छोटे भाई कुशध्वज को सांकाश्यपुरी का राजा बनाया है –

"कस्य चित्त्वथ कालस्य सांकाश्यादागतः पुरात्।
सुधन्वा वीर्यवान् राजा मिथिलामवरोधकः ।।
स च मे प्रेषयामास शैवं धनुरनुत्तमम्।
सीतां च कन्यां पद्माक्षीं मह्यं वै दीयतामिति ।।
तस्या प्रदानान्महर्षे ! युद्धमासीन्मया सह।
स हतो विमुखो राजा सुधन्वा तु मया रणे ।।
निहत्य तं मुनिश्रेष्ठ सुधन्वानं नराधिपं।
संकाश्ये भ्रातरं शूरमभिषिञ्चि कुशध्वजम् ।।"

इससे यही सिद्ध होता है कि उन दिनों तक मिथिला सदा विजयिनी थी, किसीसे यह पराजित नहीं हुई थी। चाहे वह शस्त्र हो या शास्त्र, मिथिला 'मिथिला' (मथ् + इलच्) थी।



१. आदिकाल की मिथिला, मिथिलांक, पृ. - ३६ ।
२. १/४/१/१०-१७ ।
३. आदिकाल की मिथिला, मिथिलांक, पृ. - ३७ ।
४. महाभारत, शान्तिपर्व, ३६० अध्याय ।
५. बृहदारण्यकोपनिषद् ।
६. प्राचीन मिथिला, मिथिलांक, पृ. - २६ ।
७. ४र्थ अंश, प्रथम परिच्छेद में ।
८. प्राचीन मिथिला, मिथिलांक, पृ. - २६ ।
९. प्राचीन मिथिला, मिथिलांक, पृ. - २८ ।
१०. बौद्धकालीन मिथिला, मिथिलांक, पृ. - ७९ ।
११. बौद्धकालीन मिथिला, मिथिलांक, पृ. - ७९ ।
१२. प्राचीन मिथिला, मिथिलांक, पृ. - २७ ।
१३. बौद्धकालीन मिथिला, मिथिलांक, पृ. - ७९ ।
१४. मिथिलांक, पृ. - १६५ के आधार पर ।

द्वितीय पीठिका

वेद, वैदिक साहित्य एवं वेदाङ्ग

यह निश्चित है कि जो व्यक्ति वैदिक साहित्य से अनभिज्ञ हैं, वे भारतीय संस्कृति-सभ्यता से भी अनभिज्ञ हैं। वैदिक साहित्य को जाने विना भारतीय संस्कृति को जाना ही नहीं जा सकता। साथ ही, जब तक आप भारतीय संस्कृति को नहीं जानेंगे, तब तक भारत की आत्मा से परिचित नहीं हो पायेंगे। वल्कि, यही कहना समीचीन होगा कि भारतीय संस्कृति को जाने बिना न तो हम भारत से परिचित हो सकते और न ही भारतीय समाज से। अतएव भारत की भाषा, संस्कृति, लोक-व्यवहार, समाज, संस्कृति, यहाँ के मानवों का स्वभाव-चरित्र, दर्शन, परम्परा आदि सभी को जानने के लिए प्रथमतः वेद को, वैदिक साहित्य को जानना नितान्त आवश्यक है।

वेद आर्यों के पवित्र धर्मग्रन्थ हैं, जिन्हें ईश्वरीय ज्ञान माना गया है तथा स्वतः एवं अन्तिम प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। आर्यों की सारी निष्ठायें इन्हीं वेद पर आधारित हैं। वेद की निन्दा घोर पाप माना गया है और वेद निन्दक को नास्तिक कहा गया है — "*नास्तिको वेदनिन्दकः*"। यह अपौरुषेय है, अनादि और अनन्त है; किन्तु इनके मंत्रों को ऋषियों ने तपस्या करके देखा और उसे अपने शिष्यों को दिया। इसी कारण ऋषियों को मंत्रद्रष्टा कहा गया है — "*ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः*"।[१]

'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति चार धातुओं से मानी गयी हैं और ये धातु हैं — विद् सत्तायाम्, विद्ज्ञाने, विद्लृ लाभे और विद् विचारणे। इसीलिए कहा भी है —

"सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति वित्ते विचारणे।
विन्दन्ति विन्दते प्राप्तौ श्यन् लुकश्नं शेषु चक्रयात्।।"

परन्तु अधिकांश विद्वान् विद्ज्ञाने धातु (विद् + घञ् = अ = वेद) से ही

वेद की निष्पत्ति मानकर, इस शब्द का अर्थ उत्तम ज्ञान या धार्मिक ज्ञान करते हैं। किन्तु वेद शब्द ज्ञानार्थक होने पर भी रूढ़ हो गया है अर्थात् यह शब्द संसार के सर्वाधिक पुरातन धर्मग्रन्थ मात्र के लिए प्रयुक्त होता है। कुरान, बाइविल, जिन्दावेस्ता, त्रिपिटक ही क्यों न हो, संसार के सभी साहित्यों में भारतीय साहित्य की जो श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है, उसका एकमात्र कारण है, यहाँ के वेद और वैदिक साहित्य। अथवा वह समस्त वाङ्मय जो शताब्दियों ही नहीं, सहस्राब्दियों से ऋषि - ऋषिकाओं के द्वारा प्राप्त होता आ रहा है। आर्यों की सभ्यता - संस्कृति को भी जानने का यही एक मात्र साधन है।

लैटिन भाषा का एक शब्द है विदेरे (Videre), यह विद् धातु का ही लैटिन रूपान्तर लगता है, जिस धातु से अंग्रेजी का Idea शब्द बना है। वैसे वेद के लिए अंग्रेजी का वीजन् (Vision) शब्द ही अधिक उपयुक्त और समीचीन प्रतीत होता है। क्यों कि जहाँ इसका अर्थ '*दर्शन*' होता है, वहीं वेद को देखकर ही प्राप्त किया गया है, उसका दर्शन हुआ है। भारतीय परम्परा और शास्त्रों के अनुसार हमारे ऋषियों ने वेद के मंत्रों को देखा था, आत्मसाक्षात्कार किया था। फिर बाद में उन्होंने उन मंत्र समूहों को अपने छात्रों को दिया। इसी कारण उन्हें ऋषि कहा गया अर्थात् "*ऋषयो मंत्रद्रष्टारः*"। इसी बात को ऋग्वेद में इस प्रकार बताया गया है कि — "*अपने अन्तःकरण में जिन वाणियों को ऋषियों ने प्राप्त की, उसे उन्होंने समस्त मानवों को दिया*"[२]। निरुक्त में भी इसी बात को कुछ इस तरह कहा गया है कि — "*मन्त्रा मननात् छन्दा सिंछादनात् तथा ऋषिर्दर्शनात्स्तोमान् ददर्श*"।

भारतीय परम्परा में वेद को प्राचीनतम और पवित्रतम ग्रन्थ माना गया है। स्मृतिकार ने भी कहा है — "*धर्मं जिज्ञास्यमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः*", अर्थात् धर्मविषयक जिज्ञासाओं के समाधानार्थ श्रुति ही प्रमाण है। साथ ही वेद धर्म का मूल है और वह समस्त ज्ञान से युक्त है — "*वेदोऽखिलो धर्ममूलम्*", "*सर्वज्ञानमयो हि सः*"। इतना ही नहीं, स्मृतिकारों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम,

भूत-भविष्य-वर्त्तमान सभी का परिज्ञान एक मात्र वेद से ही होता है —

"चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वाराश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ।।"

इन उद्धरणों का अभिप्राय यही है कि भारतीय जीवन में वेदों की महनीय महत्ता मानी गयी है।

वेद को विद्वानों व आचार्यों ने अलग - अलग ढंग से परिभाषित किया है, जिनमें सायणाचार्य की परिभाषा बड़ी सटीक है कि जो ग्रन्थ अभीष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट निवारण का अलौकिक उपाय निर्दिष्ट करे, वही '*वेद*' है — "*इष्टप्राप्त्यनिष्ट परिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति सः वेदः*"[३] । महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार सभी मनुष्य सभी क्रियाओं को जिनसे जानते हैं अथवा प्राप्त करते हैं। मनुष्यों की सारी क्रियाएँ जिनसे होती हैं अथवा जिनमें ये मानवीय क्रियाएँ हैं अथवा जिन क्रियाओं को लेकर मनुष्य विचार करते हैं और जिनके द्वारा मनुष्य विद्वान् होते हैं, वे ही '*वेद*' हैं — "*विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति लभन्ते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्याः यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः*"[४] । किसी प्राचीनाचार्य ने कहा है कि धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सभी के ज्ञानों को देने वाले ही वेद हैं — "*विदन्ति विन्दन्ति वा धर्मादिकमनेनेति वेदः*", जब कि किसी अन्य आचार्य ने मोक्ष प्रदायक कर्मों का ज्ञान प्राप्त कराने वाले को ही वेद कहा है — "*निः श्रेयसकराणि कर्माणि वेदयतीति वेदः*"।

इन परिभाषाओं के आधार पर मात्र यही कह सकते हैं कि उस समस्त वाङ्मय के लिए वेद शब्द का प्रयोग होता है जो सहस्रों वर्षों में ऋषियों द्वारा प्राप्त हुआ है, जिनमें चारों वेद, उनके ब्राह्मण, आरण्यक

और उपनिषद् समाविष्ट हैं। इनमें से चारों वेदों को 'मन्त्र' एवं शेष साहित्य को 'ब्राह्मण' कहकर, कहा भी गया है कि —

१. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्[५]।

२. मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः[६]।

३. मन्त्रब्राह्मणं वेद इत्याचक्षते[७]।

४. मन्त्राश्च ब्राह्मणञ्च वेदः[८]।

यह सही है कि 'वेद' शब्द से व्यापक अर्थ का बोध होता है, जैसे 'शास्त्र' पद से सम्पूर्णता का ज्ञान होता है। फिर भी 'मंत्र' शब्द से 'संहिता' का और 'ब्राह्मण' शब्द से केवल 'ब्राह्मण' का ज्ञान होता है। यह शब्द उन्हीं अर्थों में रूढ़ हो गया है। इसी कारण प्रायः निम्नोद्धरण में ब्राह्मण ग्रन्थ का स्थान मंत्रात्मक संहिता भाग के बाद ही आया है — "*यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः, तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानस्वरूपकत्वात् मंत्रा एवादौ समाम्नाताः*"। इधर कुछ आधुनिक विद्वानों ने अनुसन्धान से यह निश्चित किया है कि उपर्युक्त मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद वाले सभी वाक्य प्रसंगात् आये हुए हैं और प्रसंगात् शब्दार्थ बदलते रहते हैं। अतः 'वेद' शब्द से केवल 'मंत्र-संहिता' का ही बोध करना चाहिये। हाँ, 'वैदिक साहित्य' से अवश्य ही ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि का भी ग्रहण सम्भव है। इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि 'वेद' की अवधि उपनिषत् पर्यन्त मानी गयी है। अपने मीमांसा सूत्र में भी प्रायः इसी ओर महर्षि जैमिनि ने इशारा किया है — "*तच्चोदकेषु मंत्राख्या*" तथा "*शेषे ब्राह्मणशब्दः*" आदि।

ऋचाओं किंवा मंत्रों से वेद का अभिव्यक्त हुआ है। जैसा कि कारिकाओं से दर्शनशास्त्र, सूत्रों से व्याकरण, श्लोकों से काव्य-स्मृति आदि। मंत्र वह है, जिसमें ईश्वरीय आदेशों का सम्यक् प्रतिपादन किया गया हो — "*मन्यते ज्ञायते वा या विचार्यते ईश्वरादेशो येन सः मन्त्रः*"। दूसरे अर्थों में यदि कहें तो गायकों के सृजनात्मक विचारों किंवा सूक्तों को अथवा ऋषियों की गद्यात्मक-पद्यात्मक उक्तियों को मन्त्र कहते हैं। अथवा जिन शब्दपुञ्जों या वाक्य समूहों के रूप में ऋषियों ने परमात्मस्वरूप के ज्ञान का साक्षात्कार किया, वही 'मंत्र' संज्ञात्मक शब्द है। सारांश

यही है कि जिनके द्वारा यज्ञ-यागों का अनुष्ठान सम्पन्न हो और जिसमें देवताओं का स्तुति-विधान किया गया हो, वही 'मंत्र' है, जो "*मननात् मंत्राः*" होते हैं।

वेद के दो हिस्से हैं — मंत्रभाग और ब्राह्मणभाग। मन्त्रभाग को संहिता भी कहते हैं, संहिता अर्थात् समूह अथवा संकलन। अर्थात् मंत्रों के समूह को संहिता कहा गया है। प्रकारान्तर से समस्त वेदों को हम दो अन्य भागों में विभक्त कर सकते हैं — कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। इन दोनों में यद्यपि परामर्श का भेद नहीं हैं, फिर भी उद्देश्य के भेद होने से यह विभाजन कोई गलत नहीं होगा। ज्ञानकाण्ड से जहाँ प्रधानतः उपनिषद् को लिया जाता है, वहीं कर्मकाण्ड से अवशिष्ट वैदिक साहित्य ग्राह्य हैं।

उन दिनों अर्थात् वैदिक काल में यज्ञ ही मुख्य कर्मकाण्ड हुआ करता था, उन्हीं यज्ञों में देवताओं की स्तुति हुआ करती थी और इन्हीं यज्ञों के आधार पर तत्कालीन संस्कृति का विकास हुआ। प्रत्येक यज्ञ के लिए चार ऋत्विजों (यज्ञ पुरोहितों) का होना अनिवार्य था। एक देवता विशेष की स्तुति में मन्त्रों का उच्चारण करता था, जो 'होता' कहलाता था। दूसरा यज्ञ का विधिवत सम्पादन करता था, जिसे 'अध्वर्यु' कहा जाता था। तीसरा मन्त्रों का सस्वर गान करता था — इसे 'उद्गाता' की संज्ञा दी गयी थी और अन्तिम यानि चौथा ऋत्विक् 'ब्रह्मा' होता था, जिसका काम समस्त विधि-विधानों का निरीक्षण करना था, ता कि यज्ञ कार्य में या मन्त्रोच्चारण आदि में कहीं कोई त्रुटि न हो। यदि कदाचित् त्रुटि हो जाती थी, तो ये ही 'ब्रह्मा' स्वयं तत्क्षण मङ्गलकारी मन्त्रोच्चारण करके विघ्नों का निवारण करते थे। इसलिए प्रत्येक ऋत्विक् के उपयोगी मंत्रों का संकलन महर्षि वेदव्यास के द्वारा अलग - अलग किया गया

अर्थात् वेद को यज्ञ के विभिन्न अनुष्ठानों के अनुसार चार भागों में बाँटा गया। इन चार भागों को ही बाद में 'ऋग्वेद', 'यजुर्वेद', 'सामवेद' एवं 'अथर्ववेद' — संहिता कहा गया और प्रत्येक संहिता के

लिए एक - एक ऋत्विक् निर्धारित किये गये, जो क्रमशः होता, अध्वर्यु, उद्‌गाता एवं ब्रह्मा कहलाये।

भारतीय विश्वास और मान्यता के अनुरूप 'वेद' प्रजापति ब्रह्मा के निःश्वास से उत्पन्न और ऋषियों द्वारा दृष्ट है। यहाँ वेद से तात्पर्य 'मंत्र' से है, जो संहिताओं में पाये जाते हैं। श्रवण के माध्यम से गुरु-परम्परा के द्वारा अधीत ये मंत्र ही 'श्रुति' हैं और श्रुति हीं 'मंत्र' हैं। इन मंत्रों का समुच्चय सूक्त और सूक्तों का समुच्चय 'संहिता' कहलाती है। स्मरणीय है कि 'श्रुति' वेद का ही पर्याय है, क्यों कि पहले लेखन कला या मुद्रणकला का आविष्कार नहीं हुआ था, फलतः ऋषि-मुनि लोग अपने अपने गुरुमुख से वेद को सुनकर कण्ठस्थ किया करते थे और अपने अपने शिष्यों को कण्ठस्थ कराया करते थे। अतएव श्रुति-परम्परा (कण्ठपरम्परा) से ही वेद सुरक्षित रह सके, जिस कारण इनका नाम ही 'श्रुति' पड़ गया। भगवान् मनु भी कहते हैं — '*श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः*'। वस्तुतः आज के वैज्ञानिक युग में भी वेद वैदिक विद्वानों के द्वारा श्रवण माध्यम से कण्ठस्थ रूप में, कम ही सही, किन्तु निर्वाहित होता आ रहा है।

वेद भारतीय ज्ञानगंगा के उत्स हैं, वे अपने आप में पूर्ण और आदि-अन्त से रहित हैं। परन्तु 'वैदिक' शब्द से चारों वेदों के बाद के उन समस्त साहित्यों व ग्रन्थों का बोध होता है, जिन्हें हम ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि नामों से जानते हैं। कुछ विद्वान् ब्राह्मण, आरण्यक आदि साहित्य को भी ब्रह्मा से ही निःसृत अथवा उनके द्वारा निर्मित मानते हैं। परन्तु कुछ लोगों के मत में जब अपने प्राचीन रचना-विधान और गम्भीरता के कारण वेदमंत्रों के व्याख्यान की आवश्यकता हुई तो ब्राह्मण साहित्य को प्रस्तुत किया गया, जिसमें वेदव्याख्या के अतिरिक्त सृष्टि उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त, शब्द व्युत्पत्ति एवं शब्दों का व्याख्यात्मक इतिहास तथा अन्यान्य जनकथाओं का उल्लेख भी प्राप्त होता है। इसी ब्राह्मण का अन्तिम अंश आरण्यक है, जिसका पाठ रहस्यपूर्ण है। इसमें वेदों के आध्यात्मिक पक्ष, यज्ञों की क्रिया, अनुष्ठान

आदि के साथ-साथ यज्ञ-रहस्य और पौरोहित्य का भी विवेचन मिलता है। आरण्यक की विषयवस्तु का विस्तार उपनिषद् में पाया जाता है। यहाँ यह भी परम अवधेय है कि भारतीय दर्शन में 'वेद' किसे कहा जाय, ब्राह्मणादि भी अपौरुषेय है या नहीं — ऐसे विविध प्रश्नों को लेकर निश्चय ही मत वैभिन्य पाये जाते हैं, फिर भी वेद के प्रामाण्य एवं सत्ता को सभी स्वीकार करते ही हैं। और यह भी निर्विवाद है कि 'वेद' शब्द चारों वेद का बोधक है, 'वैदिक' शब्द वेद विषयक बहुविध ज्ञान सामग्री का द्योतक है। इसी प्रकार 'वेदाङ्ग' शब्द से उन शास्त्रों व साहित्यों का बोध होता है, जो वस्तुतः वेद भिन्न होते हुए भी उन्हीं से सम्बन्धित अथवा उन्हीं पर आधारित हैं, जैसे — शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष।

संहिता एवं शाखा

व्याकरणशास्त्र के अनुसार जिसमें पदों के अन्तको दूसरे पदों के आदि से मिलाया जाय, वही संहिता है — "*पदान्तात् पदादिभिः सन्दधातीति संहिता*"। किन्तु प्रातिशाख्यों के अनुसार "पदप्रकृति संहिता" कहलाती है अर्थात् पदों की मूल-प्रकृति को 'संहिता' कहते हैं। इन सब लक्षणों को यदि देखा जाय, उनकी मीमांसा की जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि मूल वैदिक मंत्रों को जहाँ पृथक् - पृथक् वर्गों में विभक्त कर उनका अलग - अलग स्वरूप बनाया जाता है, वही संहिता है। इसीलिए संक्षेप में, मंत्रों के समुदाय को 'संहिता' कहा गया है। मंत्र अर्थात् एक वैसा वाक्य, जिसमें किसी देवता विशेष की स्तुति हुआ करती है और उसमें प्रयुक्त होनेवाले अर्थ को स्मरण कराने की सम्पूर्ण क्षमता विद्यमान होती है। ऐसे ही मंत्रों का समुच्चय संहिता है। मंत्र अनादि और अनन्त हैं, परन्तु वैदिक यज्ञक्रियाओं का सुचारु रूप से सम्पादन हेतु संहिताओं का संकलन महर्षि वेदव्यासजी ने यज्ञों की

आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया है। यजुर्वेद भाष्यं में आचार्य महीधर ने कहा भी है — "*तत्रादौ परम्परया प्राप्तं वेदं वेदव्यासो*

मन्दमतीन् मनुष्यान् विचिन्त्य तत्कृपया चतुर्धा व्यस्य ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यांश्चतुरो वेदान् पैल-वैशम्पायन-जैमिनि-सुमन्तुभ्यः क्रमादुपदिदेश ।"

परन्तु यह भी कहा जाता है कि वेदों का यह संकलन किं वा विभाजन कोई एक बार नहीं हुआ है। वल्कि विष्णुपुराण[९], मत्स्यपुराण[१०] आदि के अनुसार तो इस वेद का २८ अट्ठाइस बार विभाजन हो चुका है। अन्तिम विभाजन भगवान् वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन ने किया है। यद्यपि पहले का विभाजन भी वेदव्यासों ने ही किया था, किन्तु वे व्यक्तिनाम न होकर पद नाम थे। 'व्यास' एक गद्दी का नाम है, पद का नाम है, जैसा कि 'शङ्कराचार्य'। जिस व्यास ने वेद का विभाजन किया, संकलन किया उसे 'वेदव्यास' की संज्ञा मिली। महाभारत में कहा भी गया है कि — "*वेदान् विव्यास यस्मांत्स वेदव्यास इतीरितः । तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदान् महामतिः ॥*[११]"

वेदों की इन संहिताओं किं वा विभागों की संख्या चार है — ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता तथा अथर्ववेद संहिता। किन्तु कुछ लोग अथर्ववेद संहिता को छोड़ शेष तीन को ही मानते हैं और 'वेदत्रयी' कहकर पुकारते हैं।

यह सत्य है कि भारतीय परम्परा में पुरातन काल से ही दो विचारधाराएँ रहीं हैं; जिनमें एक के अनुसार वेदों की संख्या तीन है; जो वेदत्रयी-परम्परा मानी जाती है। जब कि दूसरी परम्परा वेदों को चतुर्धा मानती है। इसका कारण यह है कि वेदमंत्रों में मुख्यतः तीन प्रकार की ही पाठ्य सामग्रियाँ निहित हैं — ऋचा (पद्य), यजुष् (गद्य) और साम (गीत)। इन्हीं तीनों को 'त्रयी' अथवा 'वेदत्रयी' कहते हैं। मनु महाराज ने कहा है कि यज्ञ की सिद्धि के लिए परमात्मा ने ऋक्-यजु और साम इन तीन लक्षणवाले वेदों को क्रमशः अग्नि, वायु और सूर्य के लिए प्रकट किया — "*अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम् । दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुस्सामलक्षणम्*[१२] *॥*"

जब कि शतपथ ब्राह्मण (१/५) के अनुसार स्वयं अग्नि, वायु और सूर्य ने तपस्या करके क्रमशः इन तीनों वेदों को प्राप्त किया था। इसी के एक दूसरे सन्दर्भ में स्पष्ट कहा गया है कि — "*त्रयी वै विद्या ऋजो यजूंषि सामानि।*"[१३]

वेदत्रयी के अन्तर्गत 'ऋच्' का अर्थ है प्रार्थना अथवा स्तुति — "*ऋच्यते स्तूयते अनया इति ऋच्*", जब कि यजुष् शब्द का तात्पर्य पूजा-अर्चना से है — "*यजति यजते वा अनेन इति यज् + उषि = यजुष्*"। साथ ही सामन् का अर्थ विघ्न शान्ति और देव तुष्टि होता है — "*स्यति नाशयति विघ्नमिति सामन्, समयति सन्तोषयति देवान् अनेन इति सामन्*"।

वेदों को चतुर्धा माननेवाली परम्परा कहती हैं कि जिन मन्त्रों का समावेश उन तीन वेदों में नहीं हो पाया था, जैसे मारण-मोहन-वशीकरण-उच्चाटन आदि, ऐसे मन्त्रों को लेकर ही अथर्ववेद का संकलन हुआ। यह वेद कोई नया नहीं है, यजुर्वेद में भी कहा गया है — "*तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि यज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे। तस्माद्यजुस्ततस्मादजायत*[१४]"। शतपथ ब्राह्मण (अ. ११,१४), ऐतरेय ब्राह्मण (५/३३), गोपथब्राह्मण (१/९), तैत्तिरीय संहिता (१०/७/२), तैत्ति. आरण्यक (२/८), श्रौतसूत्र (१०/१८), महाभारत (द्रो. प. ५१/२४) आदि प्राचीन ग्रन्थों से भी वेद के चतुर्धा होने की बात सिद्ध होती है।

वस्तुतः वेद के चार विभाजन ही युक्ति संगत प्रतीत होता है। क्यों कि यज्ञकार्य सम्पादन के लिए चार ऋत्विक् होते हैं और प्रत्येक ऋत्विक् के लिए एक एक वेद निर्धारित है। जैसे — 'होता' यज्ञों में उसके देवता विशेष की मंत्रों द्वारा प्रशंसा करता है, सम्बद्ध देवता का आवाहन अथवा आह्वान करता है। होता से सम्बद्ध मंत्रों का संकलन ऋग्वेद में पाया जाता है अथवा यों कहें कि इसी वेद में ऐसे मंत्रों को वेदव्यास जी ने संकलित किया है, जिसका प्रयोजन 'होता' को होता है। 'अध्वर्यु' यज्ञों का विधिवत सम्पादन करता है अर्थात् यज्ञों में किसी देवता विशेष के

मन्त्रों का उच्चारण करते हुए यज्ञ की विधियों का सम्यक् सम्पादन ही अध्वर्यु नामक ऋत्विक् (यज्ञ पुरोहित) का कार्य होता है। इसके उपयोगी मंत्र यजुर्वेद में संगृहीत हैं। तीसरे ऋत्विक् का नाम है 'उद्गाता'; जो यज्ञों में आवश्यक मन्त्रों को जोड़ से गाता है। उच्चगति, उच्चस्वर या तारस्वर से गानेवाले को ही 'उद्गाता' कहते हैं। इनसे सम्बद्ध और सभी उपयोगी मंत्र सामवेद संहिता में संगृहीत हैं। जब कि यज्ञों का सम्यक् निरीक्षण 'ब्रह्मा' करता है और उसके उपयोग में आनेवाले मंत्र अथर्ववेद संहिता में संकलित वा सुरक्षित हैं। ब्रह्मा के जिम्मे ही वह सम्पूर्ण दायित्व होता है, जो यज्ञानुष्ठान में त्रुटि या बाधाओं को दूर करता है। यदि कदाचित् यज्ञों के बीच मंत्रोच्चारण में कोई दोष या त्रुटि आ जाए अथवा ऐसी कोई सम्भावना बने, जिससे विघ्न होने का खतरा उत्पन्न हो, तो ऐसे अवसर पर ब्रह्मा ही उसका तुरन्त निवारण करता है और वही मांगलिक मंत्रों का उच्चारण कर सम्भावित विघ्नों को भी दूर करता है।

यही है संहिताओं के विभागों का कारण और उद्देश्य। भगवान् वेदव्यास ने यज्ञानुष्ठानों में ऋत्विजों के द्वारा प्रयुक्त होने वाले मंत्रों को इसी कारण चार संहिताओं में विभाजित किया। यह भी यहाँ ध्यातव्य है कि इन चारों ही संहिताओं में प्रत्येक की अपनी अपनी पृथक् शाखाएँ व उपशाखाएँ हैं। अपना अपना ब्राह्मण, अपना अपना आरण्यक और अपनी अपनी उपनिषदें हैं, जिसकी चर्चा आगे करेंगे।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि संहिताओं के बाद 'शाखा' आती है। शाखा अर्थात् शाख किं वा चरण। यह सभी जानते हैं कि प्राचीन काल में ऋषियों के आश्रम में अध्ययन या शिक्षण के आधार पर जो अलग-अलग विद्यावंश[१५] चला; वही विद्यावंश चरण या शाख नाम से जाना जाने लगा। जिस विद्याकुल में वेद के जिस अंश या अंग का चलन (अध्ययन-अध्यापन, वाचन और श्रवण) होता था, वह अंश या अंग उस ऋषि के नाम से विश्रुत हो जाता था। यही वैशिष्ट्य उनकी शाख बनी और उसी आधार पर शाखाओं का नामकरण हुआ। जैसे — ऋग्वेद की शाखायें यथा — शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, शांखायन, माण्डूकेय या माण्डूकायन आदि। यजुर्वेद की शाखाओं में यथा — माध्यन्दिन और

काण्व शुक्ल यजुर्वेद की तथा तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक, कठ-कपिष्ठल आदि कृष्ण यजुर्वेद की। सामवेद की शाखायें यथा — कौथुम, जैमिनीय, राणायणीय आदि। ऐसे ही अथर्ववेद की शाखाओं में पैप्पलाद, शौनक आदि।

ऋग्वेद संहिता

संहिताओं में ऋग्वेद प्रथम और सबसे प्राचीन है। इस वेद में जो मंत्र या सूक्त प्राप्त होते हैं, उसके द्रष्टा ऋषियों का समय एक नहीं है। अतएव विभिन्न कालों व विभिन्न ऋषियों द्वारा प्राप्त होने के कारण इसके मन्त्रों की भाषा और शैली में स्वाभाविक भिन्नता देखी जा सकती है। ऋग्वेद की भाषा, विभक्ति और क्रिया को देखते हुए पाश्चात्य विद्वानों ने भी यह माना है कि अन्य तीनों वेदों की अपेक्षा ऋग्वेद प्राचीनतम है। इसके मंत्र अन्य वेदों में तो प्राप्त हो जाते हैं, पर अन्य वेदों का विशेष मंत्र किंवा स्वतन्त्र मन्त्र ऋग्वेद में नहीं मिलते। उनके अनुसार इस वेद की रचना किसी एक काल में नहीं हुई। भिन्न-भिन्न कालों में इसके भिन्न-भिन्न अंशों का प्रणयन किया गया और बाद में उन्हें संकलित कर "ऋग्वेद संहिता" का नाम दिया गया। पाश्चात्य विद्वानों के मत में इसके कर्त्ता वसिष्ठ, गृत्समद आदि ऋषिगण हैं, जिन्होंने ऋग्वेद को बनाया। परन्तु भारतीय मान्यताओं व सिद्धान्तों के अनुसार ऋषि इसके कर्त्ता नहीं, वल्कि द्रष्टा हैं। जिन मंत्रों को जिन ऋषियों ने देखा या पाया, वे मंत्र उन्हीं ऋषि के नाम से जाने जाने लगे। गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वसिष्ठ — ऐसे ही ऋषियों में परिगणित हैं, जिन्हें द्रष्टा माना गया है। "ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः"। ये सभी ऋषि क्रमशः ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल से लेकर सप्तम मण्डल पर्यन्त के द्रष्टा हैं। आठवें मण्डल के जो सूक्त हैं उनके द्रष्टा कण्व वंशीय एवं अंगिरस गोत्रीय ऋषि हैं; जब कि प्रथम, नवम एवं दशम मण्डल के सूक्तों — मंत्रों के द्रष्टा ऋषि अनेक हैं। एक-एक सूक्त को प्राप्त करने वाले, उन मंत्रों का दर्शन करने वाले ऋषि अलग-अलग रहे हैं। ये भी सत्य है कि इन

द्रष्टाओं में सब ऋषि ही नहीं हैं, कुछ ऋषिकायें भी हैं, जिन सबका नाम अनुक्रमणिका में पाया जाता है। उदाहरणार्थ — पुरूरवा, इन्द्र, उर्वशी, वृषाकपि, पौलोमी, यम, यमी आदि।

पहले ऋग्वेद को तीन प्रकार से विभाजित किया गया था — अष्टक, अध्याय और वर्ग में। परन्तु बाद में वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर इसका पुनर्विभाजन हुआ, जिसमें भाग तो वही तीन रहे, पर नाम में अन्तर आ गया, इसका नया नामकरण किया गया — मण्डल, अनुवाक् और सूक्त। इसमें से मण्डल अष्टकों में विभक्त है, जिन्हें अध्याय कहा जा सकता है।

इस दूसरे विभाजन के अनुसार ऋग्वेद में कुल दश मण्डल हैं और मण्डलों में संग्रहीत मंत्र-समूह 'सूक्त' कहलाते हैं। इन 'सूक्तों' की संख्या — १०२८ है, जिनमें प्रत्येक सूक्त के खण्डों को 'ऋचा' नाम से जाना जाता है। ऋग्वेद में मंत्रों की कुल संख्या — ११००० (ग्यारह हजार) है, जिनमें उच्चकोटि का साहित्य विद्यमान है। हो भी क्यों नहीं, यह संसार के समस्त साहित्यों में प्राचीनतम और भारतीय संस्कृति को जानने के लिए उपयोगी जो है। इसमें जहाँ देव विषयक प्रार्थनाओं सहित आख्यानों के सूक्त, वेदान्त सम्बन्धी मंत्र, दान-स्तुति के मुख्यता प्रतिपादक मंत्र आदि मिलते हैं, वहीं द्यूत क्रीड़ा सम्बन्धी सूक्त, व्याधि निवारणार्थ सूक्त आदि भी प्राप्त होते हैं। परन्तु ऋग्वेद के छन्द पूर्णतया अविकसित हैं। इनमें पंक्ति, महापंक्ति, जगती, त्रिष्टुप् आदि छन्द जहाँ परवर्ती साहित्य में कम हो गये हैं, वहीं गायत्री, अनुष्टुप् मात्र का प्रयोग मिलता है।

इसमें उपलब्ध और कथोपकथन के रूप में प्राप्त आख्यान साहित्य भी छन्दोबद्ध उपनिबद्ध हैं, जिसके आधार पर परवर्ती काल में बहुत सारे कथा-साहित्यों का निर्माण हुआ है। मसलन वीरगाथात्मक काव्य, नाटक, इतिहास, पुराण आदि। ऋग्वेद के इन आख्यानों से भारतीय पुरातन संस्कृति, संस्कार, धर्म, इतिहास, नीति, सामाजिक दशा आदि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। परन्तु ऋग्वेद काल में वर्ण व्यवस्था नहीं थी, हाँ उसके बीज जरूर उसमें प्राप्त हो जाते हैं। खान-पान की रोक-टोक,

पत्नी के साथ यज्ञानुष्ठान करना, परलोक की चिन्ता आदि कुछ भी उन दिनों नहीं थी। किन्तु उस समय, सर्वत्र धार्मिकता का प्राधान्य अवश्य था।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में जो उर्वशी-पुरूरवा का आख्यान आया है, वही, कुछ अन्तर के साथ काठक संहिता, शतपथ ब्राह्मण, हरिवंश पुराण, कथासरित्सागर और यहाँ तक कि कालिदास कृत विक्रमोर्वशीय में भी पाया जाता है। इसी मण्डल के दशवें मंत्र में यम-यमी का सम्बाद है, जो बड़ा विचित्र आख्यान लगता है। क्यों कि इसके अनुसार यमी अपने भाई से विवाह करना चाहती है, पर यम उसे देव नियमों के नाम पर मना कर देता है। नाटकीय शैली का यह आख्यान बड़ा विचित्र, किन्तु रमणीक है। उत्तरकालीन ग्रन्थों में इस पर कोई भी प्रकाश नहीं डाला गया है, जब कि इस कथा से आर्य सभ्यता के तत्कालीन नैतिकस्तर का अनुमान लगाया जा सकता है। जिसमें भाई-बहनों का विवाह अनुचित माना जाता था। इसी मण्डल के सूर्यसूक्त में सोम तथा सूर्या के वैवाहिक सम्बन्ध का वर्णन प्राप्त है, जो विवाह अश्विनीकुमारों ने कराया था। दशम मण्डल में ही कुछ और आख्यान प्राप्त होते हैं, जिनमें वृषाकपि का आख्यान एवं पोलोमि का आख्यान मुख्य हैं।

दशम मण्डल की ही भाँति पञ्चम मण्डल में भी कई सूक्तों में कई आख्यान मिलते हैं, जिनमें श्यावाश्य का आख्यान सुतरां मनोरञ्जक और मुख्य है। इसके अनुसार राजा रथवीति की पुत्री श्यावाश्य प्रेम करता है, उससे विवाह करना चाहता है, पर रानी अपनी बेटी का विवाह किसी आदर्श कवि के साथ करवाना चाहती है। अनन्तर श्यावाश्य कुछ दिनों के परीश्रम और अध्ययन से स्वयं एक अच्छे कवि और विद्वान् बनकर आता है, फिर दोनों का विवाह सम्पन्न होता है।

इस प्रकारकी और भी कई आख्यानों से पूरा ऋग्वेद भरा पड़ा है, जिनमें कुछ ऐसे संवाद भी हैं, जिन्हें फुटकर आख्यान कहा जा सकता है। ऐसे ही आख्यानों में मुख्य हैं — सोम प्रकरण, द्यूत प्रकरण आदि, जो अत्यन्त मनोहर और रुचिकर हैं।

ऋग्वेद के समय आर्यो का मुख्य व्यवसाय पशुपालन हुआ करता था और मुख्य पशु 'गविष्ठ' माना जाता था। गाय के लिए यहाँ 'अघन्या' शब्द प्राप्त होता है, जिसका अर्थ है — जो मारी न जाय। धान और जौ की खेती अधिक हुआ करती थी। व्यवसाइयों में रथकार, बढ़ई, चमार, सुनार, शिल्पकार, नाविक आदि का उल्लेख मिलता है। इसमें एक नाम पाया जाता है 'सोम' का, जो एक वनस्पति है। इसे कूटकर आसव-विशेष तैयार किया जाता था, जिसका यज्ञ के अवसर पर पान होता था, वहीं 'सोमपान' कहलाता था। ईरान के देवता भी इसी प्रकार से निर्मित आसव का पान करते थे, जिसे 'होम' कहा जाता था। उनके धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' के अनुसार 'होम' पीकर वे बड़े प्रसन्न होते थे। इतना ही नहीं, इन दोनों ही धर्मग्रन्थों में सोम या होम का प्रयोग चन्द्रमा तथा लता विशेष के लिए हुआ है।

एक - एक वेद की अनेक संहिताओं का उल्लेख मिलता है, जिनमें आज कम ही उपलब्ध हैं। जैसे ऋग्वेद की ही २१ इक्कीस शाखाओं का उल्लेख महाभाष्य के पस्पशाह्निक में हुआ है और २७ शाखाओं (संहिता) का पता बाद में लगाया गया। किन्तु इसकी पाँच ही शाखाएँ — शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, शंखायन और माण्डूकेय[१६] — हैं। इनमें भी मात्र शाकल शाखा ही उपलब्ध होती है। शेष काल के गाल में अन्तर्हित हो गयी।

एक सामान्य नियम के अनुसार संहिता की जितनी शाखाएँ होती है, उतने ही उसके ब्राह्मण ग्रन्थ होते हैं; आरण्यक होते हैं, उपनिषद् भी उतनी ही होती हैं। परन्तु भारत में इन प्राचीन ग्रन्थों के साथ यह विडम्बना रही है कि समय- समय पर शासनतंत्र बदलते रहने से, भारतीय संस्कृति-विरोधी शासक के आ जाने के कारण, उनके समयों में कई प्राचीन ग्रन्थ जला दिये गये, नदियों व सागर में बहा दिये गये अथवा इस देश से बाहर ले जाये गये। प्रकाशन यंत्र का अभाव, प्रतिलिपियों की कमी आदि के कारण आज स्थिति यह है कि वेद पुराण से लेक़र शास्त्रों की जो भी पुस्तकें प्राप्त होती हैं, वे सब मात्र २० या २५

प्रतिशत ही होंगी, शेष का तो अवशेष भी प्राप्त नहीं होता।

'शाखा' के अनुसार ब्राह्मणादि ग्रन्थों की संख्या भी मेल नहीं खाती। प्रायः यह देखा जाता है कि शाखा किसी विशेष सम्प्रदाय की है, तो उसके ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्पसूत्र आदि किसी दूसरे सम्प्रदाय के। एक के साथ दूसरे को जोड़ कर काम चला लिया गया। यथा ऋग्वेद की ही जहाँ मात्र शाकल शाखा प्राप्त होती है, वहीं 'ब्राह्मण' आदि एक के बदले दो - दो प्राप्त होते हैं। जैसे कि ब्राह्मण में — ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीतकि ब्राह्मण; आरण्यक में — ऐतरेय आरण्यक और कौषीतकि आरण्यक; उपनिषद् में यथा — ऐतरेयोपनिषद् एवं कौषीतकि उपनिषद्। कल्पसूत्रों में भी जैसे — आश्वलायन श्रौतसूत्र, शांखायन श्रौतसूत्र, आश्वलायन गृह्यसूत्र तथा शांखायन गृह्यसूत्र आदि।

यजुर्वेद संहिता

'यजुष्' अर्थात् पूजा या यज्ञ। जैसे ऋग्वैदिक मंत्रों का विषय देवताओं के आवाहन एवं आराधन से सम्बद्ध है, उसी प्रकार यजुर्वेद के मंत्रों का विषय यज्ञ विधियों को सम्पन्न करना है। किस यज्ञ में कौन से मंत्र का प्रयोग किया जाय, इसका विधान यही वेद करता है। जैसा कि सभी जानते हैं, यज्ञों के अनेक प्रकार हैं, जिसके द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया जाता है और उससे देवता सुवृष्टि करते हैं, धन-धान्य की बृद्धि करते हैं, प्रजा में सुख-समृद्धि लाते हैं। इस वेद के लक्षण में कहा गया है कि — "वेदब्राह्मणयोर्वेदस्त्रिगुणं यत्र पठ्यते। यजुर्वेदः स विज्ञेयो ह्यन्ये शाखान्तराः स्मृताः ॥"

यजुः संहिता अध्वर्यु का स्रोत है। मुख्यतया यज्ञानुष्ठानों से सम्बन्धित इस वेद में ऐसे गद्यवाक्यों का समूह है, जिनका प्रयोग यज्ञ के अवसर पर होता है। यह वेद दो भागों में विभक्त है, जिनके पृथक्-पृथक् वैदिक साहित्य हैं। ये दो भाग हैं — कृष्णयजुर्वेद एवं शुक्लयजुर्वेद।

महीधर भाष्य के अनुसार बुद्धि की मलिनता से जब यजुओं का रंग काला पड़ गया, तब उसका नाम 'कृष्णयजुर्वेद' हुआ। जब कि परस्परानुसार सूर्य के द्वारा याज्ञवल्क्य को दिन के मध्य काल में वेदोपदेश अथवा वैदिक मंत्र देने के कारण दूसरे विभाग का नाम 'शुक्लयजुर्वेद' पड़ा। शुक्लयजुर्वेद में केवल मंत्र ही संग्रहीत हैं; जब कि कृष्णयजुर्वेद में छन्दोबद्ध मंत्रों के अतिरिक्त गद्यमय विनियोग भी हैं।

शुक्लयजुर्वेद की सबसे अधिक प्रसिद्ध और प्रमुख संहिता का नाम "वाजसनेयि संहिता" है। एक मात्र इसीके अध्ययन से सम्पूर्ण यजुर्वेद के वर्ण्य विषय का ज्ञान मिल जाता है और इसीलिए इसे समस्त यजुर्वेद की प्रतिनिधि भी मानी गयी है। इसका उपदेश भगवान् सूर्य ने याज्ञवल्क्य को वाजि (घोड़े) का रूप धारण करके दिया था, अतः इसकी संज्ञा वाजसनेयि संहिता पड़ी। इसकी दो शाखायें हैं — एक माध्यंन्दिन शाखा, जो उत्तर भारत में प्रचलित है और दूसरी काण्वशाखा, जो दक्षिण भारत में पूजी जाती है। योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने सूर्यदेव से प्राप्त संहिता को अपने १५ शिष्यों को दिया था, जिनमें माध्यन्दिन, जाबाल आदि प्रमुख थे। अपने गुरु सें प्राप्त विद्या से इनके शिष्यों ने अपनी-अपनी उपशाखा का निर्माण व प्रवर्त्तन किया। याज्ञवल्क्य के १५ शिष्यों के अनुसार इस उपशाखा की संख्या भी १५ हुईं। जैसे — काण्व, माध्यन्दिन, जाबाल, बुधेय, शाकेय, तापनीय, काणीस, पौण्ड्रवहा, आवर्त्तिक, परमावर्त्तिक, पाराशरीय, बैनेय, बौधेय, यौधेय तथा गालव।

वाजसनेयि संहिता में कुल ४० चालिस अध्याय हैं, जिनमें से पच्चीस में आर्यों के महान् वैदिक यज्ञों का सांगोपाङ्ग वर्णन किया गया है। इसके प्रथम व दूसरे अध्याय में दर्श पौर्णमास्य यज्ञ, पितृयज्ञ, पिण्डयज्ञ आदि के सम्बन्ध में बताया गया है तथा उनके प्रार्थना मंत्र संग्रहीत हैं। तीसरे अध्याय में ऋतुयज्ञ, दैनिक अग्निहोत्र, चातुर्मास्यारिक अग्निहोत्र आदि का वर्णन मिलता है। जब कि चौथे अध्याय से लेकर आठवें अध्याय पर्यन्त सोमयज्ञ, राजसूययज्ञ, पशुयज्ञ, वाजपेयियज्ञ आदि का विधान वर्णित है। नवें एवं दशवें अध्यायों में जहाँ इन यज्ञ [illegible] देवताओं की प्रार्थनाएँ मिल[illegible] [illegible]हीं [illegible] से अट्ठारहवें

अध्याय पर्यन्त अग्निचयन सम्बन्धी प्रार्थनाएँ प्राप्त होती है। एक सामान्य आभाणक प्रायशः सुनने में आता है कि "सौत्रामण्यां सुरां पिवेत्" अर्थात् सौत्रामणि यज्ञ विशेषतः सुरापान करनेवालों के लिए होता है। इस यज्ञ का विधान और वर्णन वाजसनेयि संहिता के १९ वें अध्याय से लेकर २१ वें अध्याय तक पाया जाता है। साथ ही २२ से २५ अध्यायों के बीच अर्थात् इन चार अध्यायों में आर्यों के महान् अश्वमेध यज्ञ का वर्णन वर्णित है।

२६ से लेकर ३९ अध्याय पर्यन्त के कुल १४ अध्याय 'खिल' कहलाते हैं, जिनमें परिशिष्ट के रूप में विविध यज्ञों का विधान निर्देशित है। बीच में तीसवाँ अध्याय, एक ऐसा अध्याय है, जिसमें प्रार्थना मंत्र न होकर, पुरुषमेध यज्ञ में बलि दिये जाने वाले १८४ पुरुषों की संख्या बतायी गयी हैं। अन्यान्य खिल अध्यायों में सर्वमेध, पुरुषमेध, अन्त्येष्टि क्रिया और प्रवर्ग्य नामक संस्कार आदि का विधान दिया गया है। इसका अन्तिम अर्थात् चालिसवाँ अध्याय ईशोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है।

वाजसनेयि शाखा का ब्राह्मण 'शतपथ ब्राह्मण' कहलाता है, जब कि इसका आरण्यक 'बृहदारण्यक' से प्रसिद्ध है। ईशोपनिषद् के अतिरिक्त इसका एक और उपनिषद् है, जिसका नाम 'बृहदारण्यकोपनिषद्' है। जब कि इसके कल्पसूत्रों में मात्र कात्यायन श्रौतसूत्र तथा पारस्कर गृह्यसूत्र ही प्राप्त होते हैं।

शाखा आदि की दृष्टि से सभी वेदों में कृष्णयजुर्वेद सर्वाधिक सबल और परिपूर्ण है। महाभाष्य में भगवान् पतञ्जलि ने इसकी एक सौ एक शाखाओं की ओर इशारा किया है; जब कि 'चरणव्यूह' में महर्षि शौनक ने ८६ शाखाओं को ही गिनाये थे और यही संख्या मीमांसा भाष्य[१७], वायुपुराण[१८], ब्रह्माण्डपुराण[१९] आदि में भी बतायी गयी है। अस्तु, उपलब्धि की दृष्टि से कृष्णयजुर्वेद की चार संहिताएँ हैं — तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और कठ-कपिष्ठल। इन चारों संहिताओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध और परिपूर्ण तैत्तिरीय संहिता ही है, जिसे आपस्तम्ब संहिता भी कहा जाता है। इसमें सात खण्ड हैं, जो अष्टक या

काण्डों में विभक्त हैं। प्रत्येक काण्ड कुछ - कुछ अध्यायों में विभाजित है, जो कि प्रश्न या प्रपाठक कहलाते हैं।

मैत्रायणी संहिता इसी तैत्तिरीय संहिता से मिलती-जुलती है, हाँ कहीं - कहीं उसके क्रम में कुछ अन्तर अवश्य देखे जाते हैं। यही स्थिति कमों-वेश काठक संहिता की भी है, जब कि चौथी शाखा कठ-कपिष्ठल संहिता आज भी पूरी तरह प्राप्त नहीं होती, जो प्राप्त भी होती है, वह भी मातृका के रूप में ही। अतः इसके सम्बन्ध में अधिक कुछ कहना कठिन है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कृष्णयजुर्वेद का एक - एक ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थ है, जब कि इसकी तीन उपनिषदें हैं — तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक, तैत्तिरीयोपनिषद्, मैत्रायणी उपनिषद् एवं कठोपनिषद्। इसी तरह कृष्णयजुर्वेद के चौदह सूत्रग्रन्थ भी पाये जाते हैं, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं — आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, बौधायन श्रौतसूत्र, हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र, भारद्वाज श्रौतसूत्र, वैखानस श्रौतसूत्र, मानव श्रौतसूत्र, मानव गृह्यसूत्र, वाराह गृह्यसूत्र, काठक गृह्यसूत्र, आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र, बौधायन गृह्यसूत्र, भारद्वाज गृह्यसूत्र तथा वैखानस गृह्यसूत्र।

यजुर्वेद में प्रायशः सभी मन्त्र ऋग्वेद से ही लिये गये हैं, परन्तु इसमें न तो ऋग्वेद की भाँति पूरा मंत्र मिलता है और न इसका स्वरूप ही ऋग्वेद की तरह है। यज्ञ विषयात्मक इस वेद में छोटी - छोटी ऋचाएँ व छोटे - छोटे वाक्य दिये गये हैं, परन्तु इसके गद्य भी ऐसे हैं, जो कहीं - कहीं संगीतात्मक एवं काव्यमय हो गये है। मंत्रों को यज्ञानुकूल एवं संस्कारानुकूल बनाने के लिए इनमें परिवर्त्तन कर दिये गये हैं। अरणि से अग्नि उत्पन्न करने की विधि इसमें बड़ी ही विलक्षण रीति से दी गयी है। जब कि यजुर्वेद में अन्य वेदों की भाँति पुरूरवा-उर्वशी प्रेमवर्णन, विघ्नकारी तत्त्वों के लिए अभिशाप वर्णन आदि भी यथा स्थान देखे जा सकते हैं। देवों को प्रसन्न करने के लिए उन्हें अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है, जो कि बाद के विष्णुसहस्रनाम, शतरुद्रीय आदि के आधार बने।

दो-एक वाक्यों का लघुतर गद्य इसकी अपनी निजी सम्पत्ति है। इन्द्राय स्वाहा, अग्नये स्वाहा, औषधे यजस्व, ॐ भूर्भुवः स्वः — आदि इसके उदाहरण हैं। जहाँ 'ॐ' शब्द का प्रारम्भ यजुर्वेद से ही हुआ है, वहीं उसका पर्यायवाची 'प्रणव' शब्द तो बहुत बाद का है। इसमें न केवल यज्ञादि सम्बन्धी सूचनाएँ, नियम-उपनियमों के लिए वाद-विवाद ही प्राप्त होते हैं, वल्कि उच्चकोटि का साहित्य भी मिलता है। इस वेद का मुख्य उद्देश्य ही पौरोहित्य शिक्षा है। मूलतः यजुर्वेद के संस्कारों व यज्ञों का उद्देश्य देवताओं की पूजा करना कम, प्रत्युत् इसके माध्यम से देवताओं पर प्रभाव डालकर अपने यजमानों की इच्छा पूरी करने के लिए उन्हें विवश करना अधिक है। जो भी हो, वैदिक धर्म एवं भारतीय संस्कृति के इतिहास को जानने वाले अध्येताओं के लिए यजुर्वेद निश्चय ही एक अत्यन्त महत्त्वशाली धरोहर है।

सामवेद संहिता

'साम' का अर्थ होता है सुन्दर या सुखकर वचन। इसी कारण संगीत विद्या या गान भी साम की ही कोटि में आता है। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए वेदमन्त्रों का उद्गाता सामवेद की ऋचाओं का गान करता है अर्थात् इसमें ऐसी ऋचाओं का संकलन हुआ है, जो गेय हैं और उसे उद्गाता नामक ऋत्विक् (यज्ञ पुरोहित) गाता है। इसके अधिकांश मंत्र ऋग्वेद से ही लिये गये हैं। सामवेद की १८७५ ऋचाओं में मात्र ७५ ऋचायें ही इसकी स्वतंत्र हैं। सामवेद दो भागों में विभक्त हैं — पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। इनमें पूर्वार्चिक चार पर्वों में विभाजित है, जब कि उत्तरार्चिक में दशरात्र, सम्बत्सरसत्र, प्रायश्चित्त, क्षुद्र आदि यज्ञानुष्ठानों का विधान वर्णित हैं। इसके उपर्युक्त चार पर्वों में पहला अग्नि से सम्बन्धित पर्व है, जो आग्नेय पर्व से प्रसिद्ध है। दूसरा इन्द्र से सम्बन्धित होने के कारण ऐन्द्रपर्व कहलाता है। तीसरा पवमान अर्थात् सोम सम्बन्धी होने के कारण पवमान पर्व के नाम से जाना जाता है। जब कि चौथे आरण्यक पर्व में अरण्य सम्बन्धी विषयों का समावेश किया गया है।

व्याकरण महाभाष्य में इस वेद की एक सहस्र शाखाओं का उल्लेख पाया जाता है, किन्तु दुर्भाग्यवश आज इनमें मात्र तीन शाखायें ही उपलब्ध हैं — कौथुम, जैमिनीय एवं राणायणीय। इनमें कौथुम शाखा का अधिक प्रचार गुजरात में, जैमिनीय का कर्नाटक में और राणायणीय का महाराष्ट्र में देखा जाता है।

सामवेद के प्रथम द्रष्टा महर्षि जैमिनि थे, जिन्होंने अपने पुत्र सुमन्तु को इस वेद का उपदेश दिया था। सुमन्तु ने सृत्वा को और सृत्वा ने अपने शिष्य सुकर्मा को, सुकर्मा ने भी अपने प्रियशिष्य सूर्यवर्चासहस्र नामक ऋषि को सामवेद का उपदेश दिया। सूर्यवर्चासहस्र को अनध्याय के दिन वेद का ज्ञान मिला था, अतः उसका सारा ज्ञान नष्ट हो गया। फिर सुकर्मा से धीमान् पौष्यञ्जी को इसका ज्ञान प्राप्त हुआ। अनन्तर हिरण्यनाभ, लौगाक्षि, कुथुमी आदि अनेक ऋषि इस परम्परा में आते गये। परन्तु लौगाक्षि की शिष्यपरम्परा ही अधिक विश्रुत हुई, जिस परम्परा में ताण्ड्य पुत्र राणायण भी हुए हैं और उन्होंने ही एक मान्य परम्परा का प्रवर्त्तन किया है। जब कि कुथुमी के तीनों शिष्य कौथुम नाम से ही प्रसिद्ध हुए और इन सब की शाखा कौथुम शाखा के नाम से जानी गयी। सामवेद की औपमन्वय (उपमन्यु प्रवर्तित) आदि शाखा अब केवल इतिहास का ही विषय रह गया है।

इसकी तीन शाखाओं के प्राप्त होने पर भी सामवेद के चार ब्राह्मण ग्रन्थ पाये जाते हैं— ताण्ड्य, षड्विंश, सामविधान और जैमिनीय। परन्तु आरण्यक दो ही मिलते हैं — छान्दोग्यारण्यक और जैमिनीयारण्यक। जब कि उपनिषद् तीन हैं — छान्दोग्योपनिषद्, केनोपनिषद् तथा जैमिनीयोपनिषद्। इन सबके अतिरिक्त सामवेद से सम्बन्धित सात सूत्रग्रन्थ भी देखे जाते हैं। जैसे — आर्षेयकल्पसूत्र अर्थात् रचयिता के नाम पर मशक कल्पसूत्र, लाटायन श्रौतसूत्र, गोभिल गृह्यसूत्र, द्राह्यायण श्रौतसूत्र, खदिर गृह्यसूत्र, जैमिनीय श्रौतसूत्र तथा जैमिनीय गृह्यसूत्र। इनमें क्रमशः तीन कौथुम शाखा से, दो राणायणीय शाखा से तथा दो जैमिनीय शाखा से सम्बद्ध हैं।

अथर्ववेद संहिता

'अथर्वा' नामक ऋषि के नाम पर इस वेद का नामकरण हुआ है। पहले 'अथर्वन्' शब्द अग्नि पूजक पुरोहितों के अर्थ में प्रयुक्त होता था, पर बाद में यह पुरोहित मात्र के लिए कहा जाने लगा।

गोपथब्राह्मण के अनुसार जब सृष्टि की उत्पत्ति के लिए ब्रह्माजी ने एक कठिन तपस्या की, तो उनके शरीर से तेज स्वरूपा दो जलधाराएँ उद्गमित हुईं और उन्हीं धाराओं में से एक के द्वारा 'अथर्वा' की और दूसरी धारा से 'अंगिरा' की उत्पत्ति हुई। भृगु (अथर्वा) अथवा अंगिरा के वंशजों को जो मंत्र दृष्ट हुए, उन्हीं मंत्रों को 'अथर्ववेद', 'भृग्वंगिरस' अथवा 'अथर्वांगिरस' नाम से पुकारा जाता है। इस वेद के २० काण्ड हैं, जो अथर्वाऋषि के २० ऋषिपुत्रों या शिष्यों अथवा वंशजों द्वारा दृष्ट हैं। इसके सभी बीस काण्ड ३४ प्रपाठकों, १११ अनुवाकों एवं ७३१ सूक्तों में विभक्त हैं। इन काण्डों में कुल ५८४९ मंत्र पाये जाते हैं, जिनमें बारह सौ के करीब मंत्र (ऋचा) ऋग्वेद से ही लिये गये हैं। इस वेद का प्रायः षष्ठांश भाग गद्य में ही उपनिबद्ध हैं। अस्तु।

जैसा कि ऊपर कहा है अथर्ववेद का एक नाम अथर्वांगिरस भी है, यह इसका प्राचीनतम नाम है, भृग्वंगिरस भी पुराना ही नाम है। पहले ये दोनों अथर्वा और अंगिरस अग्नि पुरोहित (Fire Priest) ही थे और दोनों दो प्रकार के जादू-टोना के प्रतीक माने जाते थे। अथर्वन् शब्द का अभिप्राय, उस जादू-टोना से है, जो पवित्र हो, सुखकर हो। जब कि अंगिरस पद का अभिप्राय उस जादू से हैं, जो अपवित्र हो तथा कष्टकर हो। अथर्वन् वे पुरोहित हैं, जो अपने मंत्रों से रोगों का निवारण करते हैं तथा अंगिरस अपने मंत्रों द्वारा प्रतिद्वन्द्वियों या शत्रुओं का नाश करते हैं अथवा उन्हें अभिशाप देते हैं। इस प्रकार का 'अथर्वांगिरस' बाद में केवल अथर्वन् से ही जाने जाने लगा और वही पीछे अथर्ववेद से प्रसिद्ध हो गया।

महाभाष्य के अनुसार अथर्ववेद की कुल नौ शाखायें थी — पैप्पलाद, शौनकीय, दामोद, तोत्तायन, जामल, ब्रह्मपालास, कुनरवा, दवदर्शी और चरणविद्या। किन्तु इनमें मात्र दो — पिप्पलाद और शौनकीय शाखा ही आज उपलब्ध होती हैं। इनमें भी पिप्पलाद शाखा साङ्गोपाङ्ग प्राप्त नहीं होती, जिसकी संहिता के अतिरिक्त मात्र एक 'प्रश्नोपनिषद्' ही मिलती है। शेष, न तो कोई ब्राह्मण पाया जाता है और न ही आरण्यक। जबकि इसके विपरीत शौनकशाखा अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित है। शौनक संहिता के अतिरिक्त इस शाखा में 'गोपथब्राह्मण', 'मुण्डकोपनिषद्', 'माण्डूक्योपनिषद्', 'वैतान श्रौतसूत्र' तथा 'कौशिक गृह्यसूत्र' भी पाये जाते हैं।

इतना सब कुछ होने के बाद भी इस वेद की गणना प्राचीन काल में वेदों में नहीं होती थी। तभी तो 'वेदत्रयी', "आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च साश्वती:", "ऋक्यजु:सामलक्षणम्" — आदि वाक्य प्रचलित हुए होंगे। पुरुषसूक्त में भी 'ऋक्यजुस्साम' इन तीन ही वेदों का उल्लेख मिलता है। इस सबके पीछे प्रायः यही कारण रहा होगा कि इसमें संग्रहीत मंत्रों का सम्बन्ध प्रायः यज्ञों से नहीं है। इसमें मात्र यज्ञगत सम्भावित विघ्न निवारणार्थ मंत्र, यज्ञ संरक्षक पुरोहित 'ब्रह्मा' के लिए संग्रहीत किये गये हैं। इसके मंत्रों में मारण, मोहन, उच्चाटन आदि क्रियाओं का भी विशेष वर्णन मिलता है। इसके बीस काण्डों में १४ वाँ, १८ वाँ तथा २० वाँ काण्ड क्रमशः विवाह, श्राद्ध एवं सोमयज्ञ से सम्बन्धित हैं। बाँकी सभी काण्डों में वे ही विषय उपनिबद्ध हैं, जो समाज में हेय और नगण्य समझे जाते थे, जैसे — मारण, मोहन, उच्चाटन, अभिशाप आदि।

हाँ, यह सही है कि अथर्ववेद वेदत्रयी की अपेक्षा नवीन जरूर है, परन्तु इसकी भी निश्चित तिथि निर्द्धारित करना सम्भव नहीं है। इसके कुछ यज्ञीय मंत्र, सूत्र और यजुर्वेद की भाँति गद्यमय अध्याय आदि को लेकर इसे भी वेदों में परिगणित कर 'वेद चतुष्टयी' शब्द को बलशाली बनाया गया है। इसका संकलन ही किसी यज्ञ विधान के लिए न करके,

यज्ञ में उत्पन्न होने वाले संभावित विघ्नों के निवारणार्थ हुआ था, अतः इसमें संग्रहीत मंत्र आयुवृद्धि, प्रायश्चित एवं पारिवारिक एकता के लिए हैं। साथ ही इसमें जहाँ कुछ मंत्र प्रेतात्माओं, राक्षसों के निवारणार्थ तथा शाप के लिए हैं, वहीं कुछ मारण-मोहन-उच्चाटन आदि से सम्बद्ध भी हैं। जब कि आध्यात्मिक भावों से परिपूर्ण मंत्रों का भी अभाव इसमें कतई नहीं है।

इसमें छन्दों का क्रम तो ऋग्वेद के समान ही है, पर भाषा अवश्य ही उसके बाद की प्रतीत होती है, जो सर्वसाधारण में प्रचलित भाषा के समान है। इसी वेद में सर्वप्रथम वर्णचतुष्टय का वर्णन मिलता है, और तो और ब्राह्मणों को भी भूसुर इसी वेद में कहा गया है।

जहाँ ऋग्वेद का दृष्टिकोण धार्मिक एवं पारलौकिक है, वहीं अथर्ववेद की दृष्टि सर्वथा लौकिक रही है। क्यों कि ऋग्वेद में देवताओं की प्रार्थना, संस्कार, यज्ञ-मंत्र आदि की बहुलता देखी जाती है। जब कि अथर्ववेद में भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस, रोग आदि — वे सब वर्णित हैं, जिनका प्रभाव प्रायः सभी जातियों पर परिलक्षित होता है। इसके भेषजसूक्तों में रोगों व देवताओं को सम्बोधित किया गया है। इसके अलावे वे सभी मंत्र इन भेषजसूक्तों में पाये जाते हैं, जो रोग निवारण में किसी न किसी प्रकार समर्थ हैं। जड़ी-बूटियों के साथ - साथ आग और जल को भी रोगनाशक कहा गया है। कौशिकी सूत्रों का निर्माण भी प्रायः इसी आधार पर हुआ होगा, जिनमें बीमारियों के निदान और कारणों का उल्लेख पाया जाता है। अथर्ववेद में ऐसे मंत्रों का भी बाहुल्य देखा जाता है, जिसके द्वारा किसी भी रोग को एक के ऊपर से दूसरे पर भेजा जा सके। मृगारसूक्तों में जहाँ रोग निवारण के लिए देवताओं से प्रार्थना करने की बात आयी है, प्रार्थना और प्रायश्चित आदि आये हैं, वहीं आयुष्यसूक्त में स्वस्थ रहने और दीर्घायु होने की बात कही गयी है। 'जीवेम शरदः शतम्' आदि दीर्घायु परक मंत्रों का बहुशः प्रयोग अथर्ववेद में पाये जाते हैं। इसके दम्पतिसूक्तों में परस्पर प्रेमभाव और ऐक्य को दरसाने का वर्णन विद्यमान है, तो कौशिकसूक्तों में विभिन्न प्रकार के प्रेमविवाह,

वशीकरण सम्बन्धी उपचार वर्णित हैं। वर्षागीत, अन्त्येष्टि संस्कार, राजकर्म, पितृपूजा आदि कई प्रकार के उपयोगी और नित्य कामों में आनेवाले विषय इसमें भरे पड़े हैं। अतएव लौकिक समाज और परिवार के लिए यह वेद नितान्त उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है।



१. निरुक्त - १/१० ।
२. ऋ. १०/७१/३ ।
३. तैत्तिरीय सं. भाष्यभूमिका ।
४. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका ।
५. आपस्तम्ब श्रौ. सू. २४/१/३१ ।
६. आप. य. प. - ३१ ।
७. बौधायन गृ. सू. २/६/२१ ।
८. पूर्वमीमांसा शाबर भाष्य २/१/३२ ।
९. ३/३/१९/२० ।
१०. १४४/११ ।
११. म. भा. १/२ ।
१२. मनुस्मृति १/२३ ।
१३. शत.ब्रा. (१/६/७/१) ।
१४. यजु. (अ. ३१; मंत्र - ७) ।
१५. वंशो द्विधा-विद्यया जन्मना चेति ।
१६. चरणव्यूह (शौनक) के अनुसार ।
१७. 1/1/30 ।
१८. 61/5 - 10 ।
१९. 34/2 - 13 ।

तृतीय पीठिका

ब्राह्मण

'ब्रह्मन्' शब्द की निष्पत्ति बट् वर्धने धातु से हुई है, जिसका अर्थ वर्द्धन, विस्तार, वितान और यज्ञ होता है। अतः यज्ञार्थक ब्रह्मन् शब्द से निष्पन्न 'ब्राह्मण' का तात्पर्य है वह ग्रन्थ विशेष जो यज्ञ की विविध क्रियाओं को बतावे। सामान्यतः यदि कहा जाय तो संहिताओं में संग्रहीत मंत्रों की विस्तृत व्याख्या का नाम ही 'ब्राह्मण' है, जो वैदिक ऋचाओं का भाष्य कहलाता है। अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों में वैदिक मंत्रों की ही व्याख्या मिलती है। परन्तु यह व्याख्या एक ऐसी व्याख्या है, जो यज्ञ का सविस्तार वर्णन प्रस्तुत करती है। साथ ही इसमें, तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक अवस्थाओं का अंकन भी पाया जाता है। जब कि यह वैदिक कर्मकाण्ड का विस्तृत व्याख्यात्मक वर्णन करता है। यज्ञ सम्बन्धी विधान, रीति एवं यज्ञोत्सव विषयक सभी वैदिक यज्ञों का यह एक संग्राहक ग्रन्थ है, जिसे अंग्रेजी में Theological metters भी कह सकते हैं।

ब्राह्मण शब्द के तीन अर्थ हैं — मंत्र, यज्ञ और रहस्य। इसके अनुसार जो ग्रन्थ मंत्रों की व्याख्या और विनियोग प्रस्तुत करे वही 'ब्राह्मण' है। अथवा जो ग्रन्थ यज्ञों की विधि और फिर उन विधियों के अर्थ, फल आदि का विशद व्याख्यान करे वही 'ब्राह्मण' है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि जिस ग्रन्थ में वैदिक मंत्रों व यज्ञों के रहस्य को उद्घाटित किया जाय, उसे ही 'ब्राह्मण' कहते हैं। इसीलिए प्रायः ब्रह्म (अर्थात् मंत्र, यज्ञ और रहस्य) के ज्ञाता को 'ब्राह्मण' कहा गया है — "ब्रह्म जानाति इति ब्राह्मणः।"

यज्ञात्मक 'ब्रह्म' के प्रतिपादक इस ब्राह्मण ग्रन्थ को वेदों के बाद त्वरित स्थान दिया गया है। क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में जहाँ वेद के दार्शनिक सिद्धान्तों व मान्यताओं का उद्घाटन हुआ मिलता है, वहीं इसमें वैदिक

आख्याओं का पल्लवन भी देखा जाता है। जिस प्रकार प्राचीनता की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों का स्थान संहिताओं के बाद सर्वप्रथम आता है, उसी प्रकार महत्त्व की दृष्टि से इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। इसीलिए तो इन दोनों को मिलाकर ही 'वेद' कहा गया है — "मंत्र ब्राह्मणो यज्ञस्य प्रमाणम्" अथवा "मंत्रब्राह्मणात्मको वेदः"[१]।

ब्राह्मणग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है — ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। किन्तु विषय विभाग की दृष्टि से इसके चार भाग हैं — विधिभाग, अर्थवादभाग, आख्यान भाग और उपनिषद् भाग। इसमें उपनिषद् को 'वेदान्त' कहा गया है। क्यों कि "मंत्रब्राह्मणात्मको वेदः" के अनुसार जिन ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेद-ब्राह्मण-आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों को मिलाकर 'वेद' कहा गया है, उन सभी में उपनिषद् सबसे अन्त में आती है। अर्थात् उपनिषद् वेद का अन्तिम भाग है, यहीं पर वेद का अन्त होता है, अतः यह 'वेदान्त' कहलाता है।

प्रत्येक वेद (मंत्र-संहिता भाग) के अलग - अलग कई शाखा-संहिताएँ थी, कई मिलती भी हैं। इनमें प्रत्येक संहिता के अलग - अलग ब्राह्मण ग्रन्थ थे। प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ११३० संहिता ग्रन्थों के होने से इसकी भी उतनी ही संख्या थी, पर आज ब्राह्मण के मात्र १८ ग्रन्थों का ही पता चलता है, जो 'अष्टादशब्राह्मण' के नाम से जाने जाते हैं। वेदानुसार सम्बद्ध ब्राह्मण में सबसे प्रथम गणनीय है — 'ऐतरेय ब्राह्मण', जो ऋग्वेद से सम्बद्ध और महर्षिमहीदास के द्वारा संग्रहीत माना जाता है। महीदास इतरा नामक दासी के पुत्र होने के कारण ऐतरेय कहलाते थे और उनके ही नाम पर इस ब्राह्मण का नाम 'ऐतरेय ब्राह्मण' रक्खा गया। 'कौशीतकी ब्राह्मण' भी ऋग्वेद का ही ब्राह्मण है, जिसे 'सांख्यायन ब्राह्मण' भी कहा जाता है। कुछ लोग इसे ऐतरेय से सम्बद्ध होने के कारण इसको उसका पूरक मात्र मानते हैं।

शुक्लयजुर्वेद की दोनों शाखाओं अर्थात् माध्यन्दिन तथा काण्वशाखाओं के ब्राह्मण को 'शतपथ ब्राह्मण' कहा जाता है। अर्थात् इसके दो रूप पाये जाते हैं — माध्यन्दिन शतपथ एवं काण्व शतपथ।

माध्यन्दिन में १४ काण्ड हैं, जो १०० एक सौ अध्यायों में विभक्त है, जब कि काण्व शतपथ में १७ काण्ड तथा १०४ अध्याय हैं। इन्हीं सौ अध्यायों के कारण इसका नाम 'शतपथ' पड़ा। कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी और काठक संहिताओं के ब्राह्मण मानो उनके परिशिष्टांश ही हैं; जब कि आपस्तम्ब और आत्रेय शाखाओं का संयुक्त ब्राह्मणग्रन्थ है — 'तैत्तिरीय ब्राह्मण'।

सामवेद की तीन शाखायें प्रसिद्ध है — कौथुमीय, जैमिनीय और राणायणीय। इनमें से राणायणीय शाखा का कोई भी ब्राह्मण उपलब्ध नहीं होता, जब कि जैमिनीय शाखा के दो ब्राह्मण पाये जाते हैं — जैमिनीय ब्राह्मण और जैमिनीय उपषिद् ब्राह्मण। इन्हीं दोनों को क्रमशः आर्षेय ब्राह्मण और छान्दोग्य ब्राह्मण भी कहा जाता है। कौथुमीय शाखा का ब्राह्मण ग्रन्थ ४० अध्यायों में विभक्त है, जिनमें प्रथम पच्चीस अध्यायों को 'पंचविंश ब्राह्मण' अथवा 'ताण्ड्य ब्राह्मण' कहा जाता है। २६ से ३० तक के अध्यायों को 'षड्विंश ब्राह्मण', तीसवें अध्याय के अंतिम भाग वाले अंश को 'अद्भुत ब्राह्मण', ३१ और ३२ — इन दो अध्यायों को 'मंत्र ब्राह्मण' तथा शेष आठ अध्यायों को 'दैवत ब्राह्मण' के नाम से जाना जाता है। किसी - किसी के मत में अन्तिम आठ अध्यायों को 'छान्दोग्य ब्राह्मण' भी कहा जाता है, जिसके मात्र एक अंश का नाम ही 'दैवत ब्राह्मण' है। यहाँ यह स्मर्त्तव्य है कि पञ्चविंश या ताण्ड्य ब्राह्मण को ही सामवेदीय मुख्य ब्राह्मण होने के कारण विद्वानों ने 'महाब्राह्मण' या 'प्रौढ़ब्राह्मण' की संज्ञा दी है।

अथर्ववेद की पैप्पलाद, शौनक, स्तौदा, मौजा, जामला, जलदा, ब्रह्मवदा, देवदर्शा और चारणवैद्या (नामान्तर — पैप्पलाद, शौनक को छोड़ क्रमशः दामोद, तोत्तायन, जामला, कुनरवा, ब्रह्मपालास, देवदर्शी तथा चरणविद्या) — इन नव शाखाओं के होने पर भी इसका एक ही ब्राह्मण ग्रन्थ पाया जाता है, और वह है — गोपथब्राह्मण। यह दो काण्डों व ग्यारह प्रपाठकों किं वा अध्यायों में विभक्त है। अर्थात् इसके प्रथम काण्ड में पाँच एवं द्वितीय काण्ड में छः अध्याय हैं।

इन ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ को ही सर्वोपरि माना गया है — "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"। इसी यज्ञ से वैयक्तिक आत्मोद्धार और सामाजिक कल्याण सम्भव है। साथ ही साथ ब्राह्मण ग्रन्थ के माध्यम से उसके सम्बद्ध वेद के पश्चाद्वर्ती इतिहास की झलक भी प्राप्त हो जाती है। समस्त पुराण साहित्य की प्रमुख कथाओं का उपजीव्य भी ये ही ब्राह्मण ग्रन्थ रहे हैं। अर्थात् वेदों की सांकेतिक कथाओं का जहाँ ब्राह्मण ग्रन्थों में विकास हुआ है, वहीं पुराणों में वह पल्लवित हो गयी है। सारांशतः ब्राह्मण के दो विषय मुख्य हैं — विधि और अर्थवाद, नियम व सिद्धान्त (प्रणाली) अथवा उनकी व्याख्या या अर्थ। अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों में इन सात विन्दुओं पर विचार हुआ है —

(१) वेदों के पवित्रज्ञान का विवेचन, (२) यज्ञों के विविध रूपों विधियों तथा उनके फलाफल की सांगोपांग व्याख्या, (३) सृष्टि की उत्पत्ति का निरूपण, (४) विभिन्न आख्यानों और कथाओं का सरस काव्यात्मक वर्णन, (५) जीवन के यथार्थ स्वरूप का चित्रण, (६) जादू-टोना तथा तांत्रिक अभिचार-क्रियाओं के रहस्यों का उद्घाटन तथा (७) आध्यात्मिक सिद्धान्तों की विशद मीमांसा।

आरण्यक

सामान्यतः 'आरण्यक' ब्राह्मण ग्रन्थों का एक भाग मात्र है, जिसमें यज्ञों के आध्यात्मिक रूपों का वर्णन प्राप्त होता है। ब्राह्मण की भाँति आरण्यक भी संहिताओं की व्याख्या प्रस्तुत करता है, फिर भी इसका ब्राह्मण के साथ कुछ मौलिक अन्तर भी है। और इसी अन्तर के कारण यह 'आरण्यक' ब्राह्मण साहित्य से पृथक् माना जाता है। वह, यह अन्तर है कि जहाँ आरण्यक साहित्य में प्राप्त यज्ञों के आध्यात्मिक रूपों का वर्णन मिलता है, वहीं ब्राह्मण साहित्य में मात्र यज्ञ का वर्णन और संगृहीत मंत्रों की व्याख्या ही प्राप्त होती है।

ये आरण्यक ग्रन्थ सम्भवतः जंगल में वाणप्रस्थियों के द्वारा पढ़े

जाने के कारण ही 'आरण्यक' कहलाये होंगे, क्योंकि 'अरण्य' पद जंगल या वन का बोधक है, उसीका पर्याय है। तभी तो भाष्यकार सायणाचार्य ने ऐतरेय आरण्यक के भाष्य में कहा है — "अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते" अर्थात् अरण्य (वन) में पढ़े जाने के कारण इसे आरण्यक कहते हैं। 'अरण्य' शब्द से 'भव' अर्थ में 'बुञ्' प्रत्यय करने से यह 'आरण्यक' शब्द निष्पन्न होता है। ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ होने के कारण इस आरण्यक का अपना खास महत्त्व है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास — इन चार आश्रमों में से जिस प्रकार गृहस्थियों के लिए ब्राह्मणग्रन्थ की उपयोगिता है, उसी प्रकार वानप्रस्थियों के लिए इस आरण्यक (Forest Text) की। जैसे वानप्रस्थ का सम्बन्ध अरण्य से है, उसी प्रकार वानप्रस्थियों का आरण्यक से। संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि जैसे ब्राह्मण ग्रन्थ गृहस्थाश्रमवालों के यज्ञ-यागादि के कर्मों के प्रतिपादक ग्रन्थ माने गये हैं, वैसे ही आरण्यक वानप्रस्थियों के कर्मकाण्ड विषयक ग्रन्थ रहे हैं।

'आरण्यक' ब्राह्मण और उपनिषद् साहित्य के बीच एक सेतु का काम करता है। एक ओर जहाँ यह ब्राह्मणग्रन्थों के परिशिष्ट का काम करता है, वहीं दूसरी ओर उपनिषदों की अद्वैतवादी विचारधारा की भूमिका भी प्रस्तुत करता है। उपनिषदों के आत्मा-परमात्मा, सृष्टि-उत्पत्ति, ज्ञान-कर्म-उपासना एवं तत्त्वचिन्तन के सभी सूत्र आरण्यक में ही मिल जाते हैं। साथ ही वैदिक यागों की आध्यात्मिक व्याख्या करना ही इन आरण्यक ग्रन्थों का मुख्य विषय रहा है। अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों में जिन यज्ञों का विधान प्रस्तुत किया गया है, उन यज्ञ-यागादि की विविध विधियों और उनके अनुष्ठानों की आध्यात्मिक व्याख्या की गयी है। साथ ही यह उस अध्यात्म की ओर उन्मुख है, जिसकी चरम परिणति उपनिषदों में हुई है। अतः आरण्यक, ब्राह्मण तथा उपनिषद् दोनों के बीच की कड़ी है।

संक्षेप में यही इसका सार है कि नगरों में न पढ़े जाने वाले और

अरण्य में अध्येतव्य इस वैदिकसाहित्य में वैदिक यज्ञों के रहस्य एवं दार्शनिक तत्त्वों का विचार वानप्रस्थियों के लिए संगृहीत किया गया है।

वेदानुसार ही इस आरण्यक साहित्य का भी वर्गीकरण किया गया है। परन्तु आरण्यक ग्रन्थों की संख्या संहिता एवं शाखाओं के अनुरूप ११३० एक हजार एक सौ तीस होने पर भी आज कल कम ही प्राप्त होती हैं। ऋग्वेद के दो आरण्यक प्रसिद्ध हैं — ऐतरेय आरण्यक तथा शांखायन आरण्यक। शुक्लयजुर्वेद का यद्यपि कोई स्वतन्त्र आरण्यक नहीं है, अतः शतपथ ब्राह्मण (माध्यन्दिन और काण्वशतपथ) के अन्तिम छः अध्यायों को ही 'आरण्यक' मान लिया गया। इसे ही 'बृहदारण्यक' नाम दिया गया है और इसके दो रूप मिलते हैं — माध्यन्दिन बृहदारण्यक एवं काण्वबृहदारण्यक। किन्तु कृष्ण यजुर्वेद के दो आरण्यक मुख्य हैं — तैत्तिरीय आरण्यक एवं मैत्रायणीय आरण्यक। इनमें से भास्कर मिश्र ने तैत्तिरीय आरण्यक पर एक सुन्दर सा भाष्य लिखा था, जिन्होंने बृहदारण्यक और छान्दोग्यारण्यक पर भी भाष्य किया है। सामवेद के भी दो आरण्यक पाये जाते हैं — जैमिनीय आरण्यक तथा छान्दोग्यारण्यक। यद्यपि अथर्ववेद का कोई आरण्यक उपलब्ध तो नहीं है, फिर भी कौषीतकि आरण्यक को उसके साथ जोड़ जरूर दिया गया है।

उपनिषद् (Secred Doctrines)

यद्यपि उपनिषद् साहित्य ब्राह्मण साहित्य का निकटवर्ती साहित्य है, इसका सम्बन्ध उसके साथ बहुत घनिष्ठ है। यह भी ब्राह्मण और आरण्यक की भाँति संहिताओं की व्याख्या ही प्रस्तुत करता है; फिर भी अन्यों से इसका अपना खास वैशिष्ट्य है, मौलिक अन्तर है, अपना स्वातन्त्र्य है। उपनिषद् प्राचीनतम दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत करनेवाला वह साहित्य है, जिसे वेद का अन्त या 'वेदान्त' कहा जाता है। संहिता से प्रारम्भ हुआ वैदिक साहित्य, उपनिषद् तक आकर समाप्त हो जाता है। यहीं चरमज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए इसे वैदिक ज्ञानकाण्ड का व्याख्यान ग्रन्थ कहा गया है। वेदों की कर्म प्रधान भावना

को जहाँ ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों ने पल्लवित किया है, वहीं तर्क प्रधान भावना का विकास उपनिषद् साहित्य से ही हुआ है। मोटे तौर पर यदि कहा जाय तो आरण्यक साहित्य की विषयवस्तु का विस्तार ही उपनिषद् साहित्य में पाया जाता है।

उप + नि + सद् + क्विप् — इस औपनिषदिक व्युत्पत्ति का अभिप्राय यह है कि व्यवधान रहित सम्पूर्ण ज्ञान का प्रतिपादक शास्त्र अथवा ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कराते हुए सांसारिक कारणभूत अविद्या को नष्ट करनेवाला शास्त्र। अर्थात् 'सद्' धातु के अनेक अर्थ हैं — 'सद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' के अनुसार ही इसके तीन अर्थ प्रसिद्ध हैं। विशरण (विनाश), गति (ज्ञान, प्राप्ति) एवं अवसादन (शिथिलता, समाप्ति) और ये सभी तीनों अर्थ उपनिषद् पद में समन्वित हैं। क्यों कि उपनिषद्, जो कि ब्रह्मविद्या है — इसके अनुशीलन से मुमुक्षु जनों की संसार बीजभूत अविद्या नष्ट हो जाती है, साक्षात् ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है और मनुष्य के जन्म-मरण के सभी प्रकार के दुःख शिथिल हो जाते हैं। किसी आचार्य ने उपनिषद् पद का एक दूसरा भी अर्थ किया है — तत्त्वज्ञान के लिए गुरु के पास बैठना (उप = समीप, नि = निश्चय या निष्ठापूर्वक, सद् = बैठना।)। किन्तु भगवान् श्रीशङ्कराचार्य ने उपनिषद् को उपर्युक्त तीन अर्थों में ही लेते हुए ब्रह्मविद्या का द्योतक माना है। ये अर्थ हैं क्रमशः — अविद्या का नाश, दुःखों का निरोध तथा ब्रह्म की प्राप्ति। उपनिषद् में आत्मा, मोक्ष और ब्रह्म — इन तीनों के ज्ञान का प्रतिपादन हुआ है, अतः किसी किसी ने इसे आत्मविद्या — मोक्षविद्या या ब्रह्मविद्या से भी सम्बोधित किया है।

इस साहित्य का विकास वेद-ब्राह्मण और आरण्यकों को ही उपजीव्य (आधार) मानकर हुआ है। यह वेद प्रतिपादित आत्मा-परमात्मा और ब्रह्म का विचार करता है। वेद के "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" वाले एकात्मवादीय सिद्धान्त को उपनिषद् में इतना पल्लवित और पुष्पित कर दिया गया है कि मात्र उपनिषद् ही पढ़ लेने से वेद-वाक्य हस्तामलक हो जाता है। भारतीय ऋषियों ने अपने गम्भीर चिन्तन के द्वारा जिन आध्यात्मिक तत्त्वों का साक्षात्कार किया था, उन सभी का इसमें

काल्पनिक, किन्तु युक्तिसंगत प्रतिपादन मिलता है। उपनिषदों के लिए शॉपेन हावर का यह कहना अक्षरशः सत्य है कि — "The production of the highest human wisdom." वस्तुतः इस साहित्य में मुख्य रूप से दार्शनिकतत्त्व का ही निरूपण हुआ है। इसीलिए उपनिषद् साहित्य के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वान् श्लेगेल का यह कहना अक्षरशः सत्य है कि उपनिषदों के सामने यूरोपीय तत्त्वज्ञान प्रचण्डमार्त्तण्ड के सामने टिमटिमाते दीपक के समान है।

आत्मतत्त्व का विवेचन प्रस्तुत करना ही उपनिषद् का विवेच्य विषय रहा है। आत्मतत्त्व अर्थात् ब्रह्म, क्यों कि जीव (आत्मा) और प्रकृति उससे भिन्न है। अतः ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन तथा निरूपण हीं उपनिषद् का लक्ष्य है। ब्रह्म के लिए कहा गया है कि वह न तो स्थूल है और न सूक्ष्म। न लघु है न गुरु, उसमें न कोई रस है और न गन्ध, उन्हें न तो कान हैं और न आँख। वल्कि वह नित्य है और उसमें आकाश ओतप्रोत है। वे चक्षु, वाणी और मन की गति से परे हैं, वे सभी कर्मों के नियन्ता और साक्षी हैं। उसीकी ईक्षा से सृष्टि की रचना और उसका प्रलय होता है। इसीकी प्रकृति का नाम 'माया' है, जिस कारण इसे भी 'मायिन्' कहा गया है। आत्मा (जीव) और परमात्मा (ब्रह्म) की अभिन्नता 'तत्त्वमसि' कहकर प्रतिपादित की गयी है।

उपनिषदों की संख्या २०० से २५० के बीच कही जाती है, परन्तु इनमें १०८ ही मुख्य मानी गयी हैं। एक सौ आठ भी नहीं, वल्कि प्रमुख उपनिषदें तो मात्र बारह या तेरह ही हैं। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कौषीतकि, श्वेताश्वतर तथा मैत्रायणी। इन तेरह उपनिषदों में मैत्रायणी उपनिषद् प्रमुख है या नहीं — यहाँ मतान्तर है। अतः कुछ लोग प्रमुख उपनिषदों की संख्या बारह ही मानते हैं। वेदानुसार उपनिषदों का इस प्रकार वर्गीकरण किया गया है—

(१) ऋग्वेद की — ऐतरेय, कौषीतकि आदि दश उपनिषदें।
(२) शुक्लयजुर्वेद की — ईश, बृहदारण्यक आदि उन्नीस उपनिषदें।

(३) कृष्णयजुर्वेद की — कठ, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, कैवल्य आदि बत्तीस उपनिषदें।

(४) सामवेद की — केन, (जिन्हें तलवकार भी कहते हैं), छान्दोग्य, मैत्रायणी आदि सोलह उपनिषदें।

(५) अथर्ववेद की — प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य आदि इकत्तिस (३१) उपनिषदें।

अर्थात् दश + उन्नीस + बत्तीस + सोलह + इकत्तिस = एक सौ आठ। (१० + १९ + ३२ + १६ + ३१ = १०८।)

इन उपनिषदों में कुछ गद्यात्मक हैं तो कुछ पद्यात्मक, और कुछ ऐसे भी हैं जिनमें गद्य-पद्य मिश्रित हैं। इनमें जो प्रमुख बारह उपनिषद् हैं, उन पर जगद्गुरु शंकराचार्य का प्रामाणिक भाष्य प्राप्त होता है। इतना ही नहीं उन सभी पर शंकराचार्य के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय प्रवर्त्तक आचार्यों के भी भाष्य मिलते हैं। जैसे — रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, बल्लभाचार्य आदि के। प्राचीनता और महत्त्व की दृष्टि से बृहदारण्यकोपनिषद् और छान्दोग्योपनिषद् का स्थान अत्युच्च और विशिष्ट है।

उपर्युक्त इन द्वादश उपनिषदों में ऐतरेयोपनिषद् और कौषीतकि उपनिषद् ऋग्वेद की ऐतरेय शाखा और कौषीतकि ब्राह्मण की उपनिषदें हैं। ईशावास्योपनिद् शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा से सम्बद्ध है, जब कि बृहदारण्यकोपनिषद् शुक्लयजुर्वेद की दोनों शाखाओं के शतपथब्राह्मण से। कठोपनिषद् जहाँ कृष्णयजुर्वेद की कठशाखा से जुड़ी है, वहीं तैत्तिरीयोपनिषद् एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् उसी वेद की क्रमशः तैत्तिरीय संहिता एवं श्वेताश्वतर ब्राह्मण से सम्बद्ध हैं। सामवेद की जैमिनीय शाखा से जुड़ी उपनिषद् है कोनोपनिषद्, जब कि इसकी कौथुम शाखा से जुड़ी हुई उपनिषद् छान्दोग्योपनिषद् को माना गया है। चौथे वेद (अथर्ववेद) से सम्बद्ध प्रश्न, मुण्डक तथा माण्डूक्य क्रमशः पैप्पलाद और शौनक शाखाओं के उपनिषद् हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है, 'उपनिषद्' वैदिक साहित्य का अन्तिम

भाग होने के कारण 'वेदान्त' भी कहलाता है। 'वेदान्त' के दर्शनशास्त्र होने के कारण दर्शनवाले भाग में देना उपयुक्त था, किन्तु हमने यहाँ उपनिषद् को लेकर कोई अनुचित नहीं किया है। प्रथम तो यह कि वेद-वेदाङ्ग में उपनिषद् आती ही है, क्यों कि 'वेद' शब्द से मंत्र-संहिता और ब्राह्मण ग्राह्य होता है। 'ब्राह्मण' पद यहाँ ब्राह्मणसाहित्य — आरण्यकसाहित्य और उपनिषत्साहित्य तीनों का द्योतक है। अतः उपनिषद् वेद में परिगणनीय है। दूसरा यह कि वेदान्त दर्शन के तीन प्रस्थान हैं — उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र। उपनिषद् जहाँ श्रवणात्मक है, गीता निदिध्यासनात्मक है, वहीं ब्रह्मसूत्र मननात्मक। गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्म की उपासना का मूल ईशावास्योपनिषद् (माध्यन्दिन संहिता का ४० वाँ अध्याय) में विद्यमान है। फिर भी हमने यहाँ इन तीनों में मात्र उपनिषद् को ही लिया है, जो कि 'वेदान्त' (वेद का अन्त, न कि वेदान्त दर्शन) है।

अनुक्रमणी

पहले लेखन या मुद्रण कला का अभाव था, अतः वेद और वैदिक साहित्य को लोग अपनी गुरु-परम्परा से सुनकर, उसे याद कर कण्ठस्थ रखते थे। परन्तु मौखिक विद्या में एक डर यह बना रहता है कि मंत्र, देवता, ऋषि, विनियोग आदि में कहीं व्यतिक्रम न हो जाए। इसी सम्भावना को दूर करने के लिए, बाद में अनुक्रमणी, बृहद्देवता आदि की रचना हुई। अनुक्रमणी का अर्थ है, वेद मंत्रों की क्रमबद्ध सूची। जिसमें प्रत्येक मंत्र से सम्बद्ध देवता, छन्द, शाखा, अनुवाक्, वर्ग, सूक्त, स्वर आदि की व्यवस्था के नियम निर्धारित हैं। मंत्रों के विशुद्ध अर्थबोध के लिए तथा मंत्र पाठ के उचित क्रम के लिए अनुक्रमणी विषयक ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वपूर्ण रहे। यहाँ यह स्मर्त्तव्य है कि मंत्रपाठ किंवा वेदपाठ के दश व्यवस्थित आधार रहे हैं — पद, क्रम, जटा, माला, शिखा, लेखा, ध्वजा, दण्ड, रथ और धन।

यद्यपि अनुक्रमणी का विषय ब्राह्मण ग्रन्थों में भी पाया जाता है,

तथापि इस विषय पर प्रथम और स्वतन्त्र प्रयास महर्षि शौनक ने ही प्रारम्भ किया था, जिनके दश अनुक्रमणी ग्रन्थों का पता "ऋक्सर्वानुक्रमणी" की भूमिका में वृत्तिकार षड्गुरुशिष्य के उल्लेख से चलता है। ये ग्रन्थ हैं — आर्पानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, सूक्तानुक्रमणी, ऋग्विधान, पादविधान, बृहद्देवतानुक्रमणी, प्रातिशाख्य और शौनक स्मृति। महर्षि कात्यायन का इस विषय पर जो ग्रन्थ है, वह सर्वाधिक बृहद् और प्रसिद्ध है। इसका नाम "ऋक्सर्वानुक्रमणी" है और इस पर उब्बट का भाष्य तथा षड्गुरुशिष्य की 'वेदार्थदीपिका' नामक वृत्ति पायी जाती है। कात्यायन की 'शुक्लयजुः सर्वानुक्रमणी', जिस पर याज्ञिक अनन्तदेव का भाष्य प्रसिद्ध है — भी प्रकाशित है। इनकी अन्य रचनाएँ हैं — शुक्लयजुर्वेदविधान (कालकानाथ कृत यजुर्वेदमञ्जरी व्याख्यान सहित प्रकाशित), प्रतिज्ञासूत्र परिशिष्ट, माणिक परिशिष्टसूत्र, अष्टादश परिशिष्ट आदि।

कृष्णयजुर्वेद पर यास्क ने 'याजुषसर्वानुक्रमणी', 'काण्डानुक्रमणी' की तथा वेंकटमाधव ने 'माधवीयानुक्रमणी' की रचना की है। जब कि इसी विषय से सम्बद्ध अन्य छोटे - बड़े ग्रन्थ हैं — आपस्तम्ब का यज्ञ परिभाषासूत्र, वररुचि का निरुक्त समुच्चय, जयन्त का स्वरांकुश, व्याडि का जटादिविवृतिलक्षण, हिरण्यकेशी का पितृमेधसूत्र, प्रीतिकर का सामप्रकाशन आदि। जब कि सामवेदीय उपग्रन्थसूत्र, पंचविधसूत्र, निदानसूत्र; काठकों से सम्बद्ध बृह्वृचसूत्र, यजुर्वेदीय एकाग्निकाण्ड का नाम भी अत्यन्त उल्लेखनीय हैं।

वेदों का रचना काल

'वेद' संसार का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ है, भारतीयों की इस मान्यता को वैदेशिकों ने भी स्वीकार किया है। किन्तु यह कितना प्राचीन है — इसका निश्चय अभी तक नहीं हो पाया है। क्यों कि अधिकांश भारतीय विद्वानों के मत में जहाँ यह अपौरुषेय (ईश्वरीय) है, सृष्टि के

आदि युग से ही वेदों का अस्तित्व मान्य और स्वीकार्य है, निश्चित और निर्द्धारित है, वही पाश्चात्य विद्वान् ऐतिहासिक अनुशीलन की पद्धति से इसका रचनाकाल को स्थिर करने के पीछे, इसमें अन्तः-बाह्य साक्ष्य का नितान्त अभाव होना भी, एक कारण है। तथापि देश और विदेश के कुछ ऐतिहासिक समालोचकों या विद्वानों ने अपने- अपने शोध के आधार पर इसका काल-निर्णय करने का प्रयास किया है, जिनमें से हम यहाँ दश प्रमुख मतों को उद्धृत करना चाहते हैं। जैसे —

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती का मत, जिन्होंने वेदमंत्रों के आधार पर यह माना है कि वेद की रचना सृष्टि के आरम्भ से ही शुरू हो गयी थी।

२. प. दीनानाथ शास्त्री चुलेट का मत, जिन्होंने ज्योतिष गणना के आधार पर तीन लाख वर्ष पूर्व वेद का काल निर्द्धारित किया है।

३. प. रघुनन्दन शर्मा का मत। ज्योतिष गणना के आधार पर ही इन्होंने वेद का रचना काल ८८ अट्ठासी हजार वर्ष ईसा पूर्व स्वीकार किया है।

४. अविनाशचन्द्र दास — ज्योतिष, भूगर्भशास्त्र के आधार पर इन्होंने माना है कि वेदों की अन्तिम सीमा भी २५ हजार वर्ष पूर्व ही रही होगी।

५. नारायण भुवन पावगी — भूगर्भविज्ञान एवं ज्योतिर्विज्ञान दोनों को आधार बनाकर इन्होंने सात हजार वर्ष ईसा पूर्व इसका काल कहा है।

६. बाल गङ्गाधर तिलक — लोकमान्यजी के मत में छः हजार वर्ष पूर्व वेद का काल है, जो उन्होंने ज्योतिषशास्त्र के आधार पर बताया है।

७. याकोबी — ज्योतिष के ही आधार पर इन्होंने साढ़े चार (४५००) हजार वर्ष ईसा पूर्व वेद का काल दिखाया है।

८. शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित — इनका आधार भी ज्योतिषशास्त्र ही

है, पर इन्होंने वेदों की रचना ३५०० वर्ष ईसा पूर्व में हुई मानी है।

९. विण्टरनित्ज[२] — मितानी (Mitani) शिलालेख के आधार पर ये २५०० वर्ष ईसा पूर्व वेद का काल मानते हैं।

१०. मैक्सम्यूलर — बौद्ध साहित्य को आधार बनाकर मोक्षमूलर साहब ने १२०० वर्ष ई.पू. में वेद का काल बताया है।

इन विद्वानों में प्रथम तीन विद्वान् वेद को जहाँ अपौरुषेय मानते हैं और उसी आधार पर उसका काल निर्द्धारण भी करते हैं; वहीं अविनाशचन्द्र दास ने यह कहा है कि ऋग्वेद में चूँ कि यह वर्णन आया है कि सरस्वती नदी समुद्र में मिलती थी, अतः उसका काल २५००० पच्चीस हजार ई.पू. से कम नहीं हो सकता। क्यों कि भूगर्भ विज्ञान के आधार पर यह निश्चित है कि ईसा से २५००० वर्ष पूर्व सरस्वती नदी समुद्र से मिलती थी, वह भी आज के राजस्थान की मरुभूमि में।

याकोबी या जैकोबी एवं बालकृष्ण दीक्षित के मतों में भले ही काल का जो अन्तर दिखता हो, पर दोनों के आधार में साम्यताएँ बहुत हैं। याकोबी ने जहाँ वसन्त-सम्पात के स्थान पर ध्रुव तारे को आधार बनाया है और कहा है कि 'ध्रुव' भी अपने स्थान से पीछे हटता है। वहीं दीक्षित जी ने शतपथ ब्राह्मण के कृत्तिकाओं के उल्लेख से ज्योतिष गणना द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि २५०० ई.पू. में शतपथ ब्राह्मण की रचना हो गयी थी तथा वेद कम से कम उससे एक हजार वर्ष प्राचीन अवश्य रहा होगा।

मैक्सम्यूलर ने ऋग्वेद की तुलना यूनानी साहित्य से करके यह अनुमान लगाया है कि इसकी रचना १२०० या १५०० ई.पू. में हो गयी रही होगी। मैकडोनल, कीथ आदि विद्वान् भी इन्हीं का समर्थन करते हैं। जब कि उपर्युक्त सभी मतों में सर्वाधिक कमजोर मत मैक्समूलर साहब का ही है, क्यों कि इनके मत को आंज कई प्रकारों से खण्डित किया जा चुका है। लोकमान्य तिलक के अनुसार भारतीय सभ्यता का प्रारम्भ ६००० ई.पू. में हुआ है और इसके कुछ ही दिनों बाद ऋग्वेद की रचना

हुई होगी। परन्तु विण्टरनित्ज साहब ने सभी पूर्ववर्ती विद्वानों के मतों को काल-निर्द्धारण करना चाहते हैं। दूसरी बात यह है कि वेदों के

अपने तर्कों व प्रमाणों के आधार पर खण्डित कर ऋग्वेद का समय २५०० ई.पू. के आसपास स्थापित किया है।

प्रो. विण्टरनित्ज ने जिन मतों को उद्धृत किया है, उनमें एक बेबर का ही मत ऐसा है, जिसमें वेदों की कोई निश्चित तिथि नहीं बतायी गयी है। उनके अनुसार वेदों की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध है। अपने भारतीय साहित्य के इतिहास में बेबर स्पष्ट लिखते हैं कि भारतीय साहित्य, विशेषकर वैदिक साहित्य, संसार के समस्त लिखित और उपलब्ध साहित्यों में सर्वाधिक प्राचीन और उत्कृष्ट साहित्य है। उसने भूगोल एवं धर्म के इतिहास सम्बन्धी कतिपय साक्ष्यों को आधार बनाकर यह निश्चित किया है कि वेदों के निर्माण में शताब्दियाँ लग गयी होंगी और इससे प्राचीन कोई भी लिखित साहित्य संसार में उपलब्ध नहीं है।

विण्टरनित्ज द्वारा उद्धृत दूसरा मत है मैक्सम्यूलर का। मैक्सम्यूलर प्राचीन संस्कृत साहित्य के इतिहास नामक अपने ग्रन्थ में सर्वप्रथम वेद का काल निर्द्धारण करने का प्रयास करते हैं। इनके अनुसार वैदिक साहित्य चार कालों में विभक्त है — छन्दकाल, मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल एवं सूत्रकाल। मैक्सम्यूलर यह मानकर चलते हैं कि इन चारों की रचना में दो-दो सौ वर्षों का अन्तराल अवश्य रहा होगा। अर्थात् सूत्र रचना बुद्ध निर्वाण (५०० ई.पू.) से २०० वर्ष पहले हो चुकी होगी, उससे २०० वर्ष पहले ब्राह्मण का काल जाता है। इसी तरह उत्तरोत्तर दो-दो सौ वर्ष पहले जाने से वेदों का निर्माण काल स्थिर होता है। इनके अनुसार १३०० - १२०० ई.पू. वेद की रचना हुई होगी। ह्विटने और श्रोडार नामक विद्वानों ने मैक्सम्यूलर के मत को बहुत ही सही माना है; परन्तु इनका यह मत कहाँ तक प्रामाणिक और मान्य है, यह तो उन्हीं के व्याख्यान से स्पष्ट हो जाता है —

"We cannot hope to fix a terminous qua- whether the Vedic hymns were composed 1000 or 1500 or 2000 or 3000 years B.C.,

no power on earth will ever determine."[३].

अर्थात् — "वेदों के निर्माण काल की सीमा निश्चित करने की हमें आशा नहीं है — भले ही वैदिक मंत्र ईसा से १००० या १५०० या २००० अथवा ३००० वर्ष पूर्व रचे गये हों, परन्तु पृथ्वी पर कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है जो इसका कभी निर्णय कर सकेगी।" ऐसी स्थिति में मैक्सम्यूलर कहाँ तक प्रमाण या मान्य हो सकते हैं — आप सभी विद्वान् पाठक ही निर्णय कर सकते हैं।

इसी तरह कुछ विद्वानों ने ज्योतिष की काल गणना के आधार पर वेदों का काल-निर्द्धारण किया है। इनमें जैकोबी, लुडविग आदि मुख्य हैं। भारतीय विद्वानों में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक को इस कोटि में रक्खा जा सकता है। जैकोबी के अनुसार सबसे प्राचीन वेद 'ऋग्वेद' की रचना ई.पू. ३००० वर्ष पहले ही हो गयी; जब कि लोकमान्य तिलक के मत में ६००० ई.पू. के कुछ बाद ही इसका रचना काल माना जा सकता है। अर्थात् ६००० ई.पू. से ३००० ई.पू. के बीच ऋग्वेद का रचना काल कहा गया है। परन्तु ज्योतिष विद्या का उल्लेख हमें ब्राह्मण एवं सूत्रग्रन्थों में प्राप्त होता है, क्योंकि वहीं पर अमुक नक्षत्र में अमुक यज्ञ करने का विधान बताया गया है। इतना ही नहीं, वेदों का समय निश्चित करने के लिए विद्वानों ने सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि का समय एवं इनसे सम्बन्धित जानकारी भी इन्हीं ग्रन्थों से प्राप्त की है। अतः इसकी भी प्रामाणिकता असन्दिग्ध नहीं कही जा सकती।

बूह्लर यह मानते हैं कि १२०० या १५०० ई.पू. में आर्य लोग उत्तरी कोने में या फिर अफगानिस्तान के आस-पास कहीं बसे हुए थे और तभी वेदों का निर्माण हुआ होगा। ७०० या ६०० ई.पू. तक दक्षिण में ब्राह्मण धर्म का प्रभाव आर्य विजय के कारण स्थापित हो चुका था। बुह्लर के इन विचारों का ओल्डनवर्ग ने खण्डन भी किया है। साथ ही वेद के पर्यायवाची नाम 'श्रुति' से यह सिद्ध होता है कि वेद के लिखित रूप से पहले वैदिक मंत्रों की रचना हो चुकी रही होगी तथा गुरु-शिष्यों के बीच मौखिक वेदपाठ ही होता रहा होगा। और कालान्तर में सहस्राब्दियों बाद वेदव्यास ने इसका संकलन किया होगा। अभिप्राय

यह है कि बुह्लर प्रतिपादित सिद्धान्त भी समीचीन प्रतीत नहीं होता।

एशिया माइनर के अन्तर्गत बोगज्कोई (Boghazkoi) नामक एक स्थान है, जहाँ से खुदाई के द्वारा १९०७ ई. में कुछ प्राचीन मिट्टी की गोलियाँ प्राप्त हुई थीं। इसे हिट्टाइट राजधानी से उपलब्ध कर ह्यूगोविंकलर नामक एक अंग्रेज विद्वान् ने कुछ शोध कार्य सम्पन्न किया था। उनके अनुसार इन गोलियों पर १४०० ई.पू. के वहाँ के राज्य-परिवार के देवताओं के साथ - साथ मित्र, इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवताओं के नाम भी अंकित थे। इसीको आधार बनाकर ह्यूगोविंकलर, मेयोर आदि विद्वान् यह मानने लगे कि उस समय १४०० ई.पू. में भारत और ईरान, भाषा, धर्म आदि की दृष्टि से एक थे और वहीं (ईरान = आर्यान्) से आर्य आगे बढ़ते गये। साथ ही १४०० ई.पू. के आस-पास वेदों की रचना की गयी। परन्तु विण्टरनित्ज ने इन लोगों के सारे विचारों का सप्रमाण, तर्कयुक्त खण्डन कर इस सम्बन्ध में गिल्स, ओल्डेनवर्ग, जैकोबी, हिलवर्ण्ट आदि समस्त विद्वानों के मतों को निरस्त कर दिया है, जिन्होंने वेदों की रचना २००० ई.पू. से १४०० ई.पू. तक हुई बताया है।

जे. हरटल १५० ई.पू. में ऋग्वेद की रचना हुई मानते हैं। जी. हुसिंग के मतों को उद्धृत कर इन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि १००० ई.पू. में भारतीय आरमेनियाँ से अफगानिस्तान की ओर चले गये। ऋग्वेद की रचना के समय ई.पू. १५० में ये लोग वहीं वास करते थे तथा इसके सैकड़ों वर्ष बाद भारत आकर बस गये। हुसिंग, हरटल आदि विद्वान् जहाँ ऋग्वेद को ईरान में रचित मानते हैं, वहीं ब्रुनहोफर के अनुसार ऋग्वेद में वर्णित 'कनित-पृथुश्रवा' पूर्णतः सीथियन राजा 'कनित' से मिलते-जुलते हैं। राजा कनित का नाम यूनानी शिलालेखों व सिक्कों पर भी पाया जाता है, जिसका समय ऐतिहासिकों ने २०० ई.पू. निश्चित किया है। इसीके आधार पर हरटल यह मानते हैं कि २०० ई.पू. पर्यन्त ऋग्वेद संहिता का संकलन नहीं हुआ था। इन लोगों ने अपने प्रमाण में न केवल कनित को आधार बनाया है; वल्कि ऋग्वेद एवं जिन्दावेस्ता (अवेस्ता) की भाषाई साम्यता, शब्द समानता को भी आधार स्वरूप ग्रहण किया है। आचार्य विण्टरनित्ज पूर्व मतों की भाँति इसका भी

17766

पुरजोर खण्डन करते हैं। उनके मत में बोगज्कोई की गोली हो अथवा वेद-अवेस्ता की भाषा-सभ्यता आदि की परस्पर समानता — प्रत्येक के वारे में विद्वानों में अनेक विरोधी विचार उपलब्ध हैं, अतः इन्हें भी वेद के निर्माण काल में सहायक नहीं माना जा सकता।

विण्टरनित्ज अपनी राय देते समय यह जरूर कहते हैं कि अनुमानतः वेद रचना का आरम्भ २५०० ई.पू. तथा अन्त ५०० ई.पू. में हो सकता है। परन्तु वहीं इन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इस विशाल, विस्तृत और महान् वैदिक वाङ्मय की कोई भी तिथि निश्चित न करें तो अच्छा है अन्यथा हमें उपहास्यास्पद बनने से कोई रोक नहीं सकता।

वस्तुतः यह सही है कि चारों वेदों में ऋग्वेद सबसे पुराना माना जाता है। इसके किसी भी मंत्र में कोई भी ऐसी बात पायी नहीं जाती, जिसके आधार पर इसका काल निर्द्धारण किया जा सके। इसीलिए जहाँ अधिकांश लोग इसे अपौरुषेय मानते हैं, वहीं कुछ विद्वान् इसके रचनाकाल का निर्णय करने में अपना- अपना मत स्थापित किये हैं।

अन्त में यही कहकर अपनी लेखनी को विराम देना चाहता हूँ कि वेद इतना प्राचीन है कि उसमें करोड़ों वर्ष पूर्व की संस्कृति, सभ्यता, इतिहास और उपाख्यानों का उत्स विद्यमान है। भले ही पाश्चात्य विद्वान् वेद को एक विशेष काल-खण्ड की रचना मानता हो, पर इसमें जो ज्ञानराशि उपलब्ध है, उसका निर्माण कतई किसी मानव से सम्भव नहीं है। अतएव भारतीय समाज वेद को अपौरुषेय, अनादि और अनन्त मानता है।



१. आपस्तम्बयज्ञ परिभाषा सूत्र - ३३/३४।
२. History of Indian Literature, Vol - 1.
३. Gifford Lectures, (By Maxemuller).

चतुर्थ पीठिका

वेदाङ्ग

वैदिकसाहित्य के जटिलतम होने के कारण, उसके अर्थों व विषयों को स्पष्ट करने के लिए अथवा वेद के स्वरूप रक्षार्थ और उसके अर्थ के संरक्षण के लिए, जिस साहित्य का निर्माण हुआ, उसे 'वेदाङ्ग साहित्य' का नाम दिया गया। मुण्डकोपनिषद् में इस साहित्य का विधिवत् विवेचन होने से तथा उसमें वेदाङ्गों के नाम गिनाये जाने से यह सिद्ध होता है कि वेदाङ्ग साहित्य का श्रीगणेश उपनिषद् काल में ही हो गया था।

वैदिक साहित्य को ठीक - ठीक समझने व तदनुसार कार्य-कलाप का संचालन करने के लिए जिस वेदाङ्ग साहित्य की रचना हुई, वे भी शरीर के अंगों के समान ही अनादि वेद-पुरुषरूपी अंगी वेद के अनिवार्य भाग है अथवा छः अनिवार्य अंग हैं। वल्कि शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष — ये सभी उस वेदरूपी शरीर के ही अंग हैं। पाणिनि-शिक्षा में कहा भी गया है कि —

"छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥४१॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥४२॥"

अर्थात् व्याकरण उस वेदपुरुष का मुख है, ज्योतिष नेत्र है, निरुक्त उनके कान हैं, कल्परूपी हाथ हैं, तो शिक्षा नाक है, जब कि उसके पैर छन्दःशास्त्र हैं। वस्तुतः प्राचीन ऋषि-आश्रमों द्वारा जिन वेद-शाखाओं और वैदिक साहित्य की विभिन्न ज्ञान धाराएँ निकली हैं, उन्हीं के रक्षार्थ वैदिक विद्या की विरासत — इन षड्वेदाङ्गों का विकास हुआ। इन वेदाङ्गों के प्रकाश में आने के बाद एक नये युग का श्रीगणेश हुआ, जिसे 'उत्तर वैदिक युग' के नामसे जाना गया। ये षड् वेदाङ्ग हैं क्रमशः —

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। जैसा कि कहा भी गया है —

"शिक्षा कल्पोऽथव्याकरणं निरुक्तं छन्दसां च यः।
ज्योतिषामयनं चैव वेदाङ्गानि षडैव तु ।।"

वेदाङ्गों का उल्लेख गोपथ ब्राह्मण (१/२७), बौधायन धर्मसूत्र (२/१४२), गौतम धर्मसूत्र (१५/२८), रामायण (बाल. ७/१५) आदि प्राचीन ग्रन्थों में हुआ है, जिससे इनकी प्राचीनता और प्रसिद्धि सिद्ध होती है। परन्तु वेदाङ्ग का सर्वप्रथम उल्लेख अपरा विद्या के प्रसंग में चारों वेदों के साथ मुण्डकोपनिषद् में हुआ है — "तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा-कल्पो-व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम्।" इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि वेदाङ्ग षटक् उपनिषद् काल में ही अस्तित्व में आ चुके थे और वेदाङ्गों का सम्यक् ज्ञान पाने के लिए इनमें पारङ्गत होना भी अनिवार्य था। कुछ विद्वानों ने अपने - अपने शोध और तर्क के आधार पर यह निश्चित किया है कि वेदाङ्गों की रचना ईसा पूर्व १५०० से लेकर ई.पू. ५०० तक, अर्थात् कुल एक सहस्र वर्षों के भीतर हुई है। इसकी प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता का विचार स्वयं पाठक ही कर सकते हैं।

शिक्षा / प्रातिशाख्य

जैसे ब्राह्मण ग्रन्थों से वैदिक यज्ञ विधियों का सम्पादन होता है, उसी प्रकार शिक्षा ग्रन्थों से वेद और वैदिक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन सम्बन्धी उच्चारण विधियों व स्वर-प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त होता है। वेद के उच्चारण में यदि कहीं भी, किसी भी रूप में असावधानी हुई या गड़वरी हुई, तो न केवल वेदपाठ निष्फल होता है, वल्कि इष्ट सिद्धि के स्थान पर अनिष्ट ही हो जाता है। निरुक्त में आचार्य यास्क ने लिखा भी है —

"मंत्रहीनो स्वरतो वर्णतो मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ।।"

बाणभट्ट ने भी अपने हर्षचरित में एक कथा की ओर संकेत किया है कि अशुद्ध उच्चारण करने के कारण महर्षि दुर्वासा को प्रायश्चित स्वरूप मर्त्यलोक में आना पड़ा था। अतः शुद्ध उच्चारण सभी कामनाओं का दाता माना गया है, उसमें ब्रह्म का निवास होता है। भगवान् पतञ्जलि कहते भी हैं— "एकः शब्दः सम्यज्ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।"

'शिक्षा' का सर्वप्रथम उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक में हुआ है, जहाँ इसके सभी छः अंगों के अध्ययन की बात आयी है। इसके छः अंग हैं क्रमशः - वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान। प्रथम तीन अंग तो अपने अभिधान के अनुकूल ही भावाभिव्यक्त करते हैं, पर शेष तीन का आशय जानना भी उचित ही होगा। 'बल' अर्थात् स्थान एवं प्रयत्न के आधार पर स्वरों का बल। 'साम' अर्थात् निर्दोष एवं माधुर्यादि गुण सहित स्पष्ट उच्चारण तथा 'सन्तान' अर्थात् पदों की अतिशय सन्निधि। इनके लिए ध्वनियों का आरोह - अवरोह, उच्चारण की विशुद्धता और समय का ज्ञान - ये तीनों ही नितान्त आवश्यक हैं। अभिप्राय यह है कि किस वर्ण का किस स्थान से उच्चारण करना चाहिये, उसमें क्या प्रयत्न करना पड़ता है, कितने प्रकार के वर्ण हैं, कैसे उनका वर्गीकरण हो, स्थान और प्रयत्न कितने हैं — इन सब प्रश्नों का समाधान 'शिक्षा' ही करती है। 'शिक्षा' का अध्ययन एक प्रकार से आधुनिक ध्वनिविज्ञान (Phonology) का अध्ययन है, जिसमें उच्चारण के स्थान, वर्ण, स्वर, मात्रा (ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत), शुद्धोच्चारण के नियम तथा सन्धि का अध्ययन होता है। उच्चारण के प्रसङ्ग पाणिनि शिक्षा में कहा गया है कि जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चे को दाँत से पकड़ती है, पर बच्चे को न तो दाँत ही गड़ते हैं और न ही उस बच्चे को ही गिरने का डर रहता है, उसी प्रकार सन्तुलन से अक्षरों का उच्चारण करना चाहिये —

"व्याघ्री यथा हरेद्वत्सं दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान्प्रयोजयेत् ।।[१]"

शिक्षा की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है — "स्वरवर्णाद्युच्चारण प्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा" अर्थात् वैदिक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की विधि ही शिक्षा है। इस शिक्षा का प्रतिनिधित्व यदि वास्तविक रूप में देखा जाय तो 'प्रातिशाख्य' साहित्य ही करता है, जिसमें संहिता-पाठ, पदपाठ आदि का समुचित निर्देश मिलता है, ध्वनि-शिक्षा का विधान प्रतिपादित है। अर्थात् शिक्षाग्रन्थों को ही 'प्रातिशाख्य' भी कहा गया है। जिनमें संहितापाठ से पदपाठ बनाने के नियम, स्वरों के ह्रस्व-दीर्घ और प्लुत उच्चारण का विधान, बल-मात्रा-लघु-गुरु आदि के नियम तथा मन्त्रोच्चारण के नियम प्राप्त होते हैं।

पहले गुरुकुल के अनुसार ही शिष्य-प्रशिष्यों के कुल की एक खास परम्परा हुआ करती थी, जिसे 'चरण' या 'शाख' कहा जाता था। ये ही 'शाख' वेदशाखाओं के निर्माता हुए। प्रत्येक शाख या चरण की एक - एक 'परिषद्' होती थी, जिसमें आचार्य सहित मेधावी छात्र सदस्य हुआ करते थे। इसी परिषद् में वैदिक शाखाओं के सन्दिग्ध पाठों के समाधान के लिए पर्याप्त वाद-विवाद होता था और निष्कर्ष निकलने पर उसे लिपिबद्ध कर लिया जाता था। ये ही निष्कर्ष - प्राप्त निर्णय 'प्रातिशाख्य' कहलाते थे अर्थात् 'शाख' के द्वारा बनाने के कारण 'प्रातिशाख्य'। इन प्रातिशाख्यों की रचना पाणिनि से पहले ही हो चुकी थी, अतः 'प्रातिशाख्य' शिक्षाग्रन्थों की तुलना में अधिक प्राचीन है। प्रातिशाख्य भी अन्य वैदिक साहित्य की भाँति प्रत्येक वेद से सम्बद्ध रहने के कारण अलग - अलग हैं; जिसका संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत है —

१. ऋग्वेद से सम्बन्धित एक ही प्रातिशाख्य पाया जाता है, जिसमें तीन अध्याय हैं और जिसकी रचना महर्षि शौनक ने की थी। ये शौनक ऋषि आश्वलायन के गुरु थे। इस प्रातिशाख्य के अन्त में कुछ परिशिष्टों का भी समावेश किया गया है, जिसे 'उपलेख' नामक भाग से जाना जाता है।

२. यजुर्वेद के दो प्रातिशाख्य मिलते हैं, जो दोनों क्रमशः शुक्ल एवं कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध हैं। शुक्ल यजुर्वेदीय वाजसनेयि

प्रातिशाख्य में कुल आठ अध्याय हैं और इसकी रचना कात्यायनऋषि ने की है। जबकि 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है और इसमें प्रातिशाख्य सम्बन्धी नियमों के अतिरिक्त लगभग बीस अश्रुतपूर्व ऋषियों के नाम भी प्राप्त होते हैं।

३. सामवेद के दो प्रातिशाख्य देखे जाते हैं — पुष्पसूत्र तथा ऋक्तन्त्र। पुष्प ऋषि द्वारा दश प्रपाठकों में प्रणीत पुष्पसूत्र के ऊपर अजातशत्रु नामक किसी उपाध्याय का भाष्य भी मिलता है; जिसकी रचना शाकटायन के द्वारा हुई मानी गयी है।

४. अथर्ववेद के तीन प्रातिशाख्य पाये जाते हैं, जिनमें चार अध्यायों वाला शौनक सम्प्रदाय का प्रातिशाख्य, अथर्ववेद के मात्र कुछ विषयों को बताने वाला स्वल्पकाय प्रातिशाख्यसूत्र तथा तीसरा अथर्व प्रातिशाख्य हैं।

प्रातिशाख्यों के बाद उसी उद्देश्य से, प्रातिशाख्य के ही विषयों को लेकर, वल्कि उससे भी और अधिक विषयों को समाहित करके प्राचीन काल से ही शिक्षाग्रन्थों का निर्माण होने लग गया था। लगता है जब वेदाङ्गों में 'शिक्षा' का परिगणन हुआ, तो ऋषियों ने पृथक् से शिक्षाग्रन्थों का प्रणयन किया होगा। अन्यथा इसके उद्देश्यों की पूर्त्ति प्रातिशाख्य तो करते ही थे। महाभारत[२] के समय आचार्य गालव का शिक्षाग्रन्थ प्राप्त था। यह पाणिनि के समय में भी विद्यमान था, तभी तो उसका निर्देश अष्टाध्यायी[३] में भी किया गया है। आचार्य गालव, भगवान् धन्वन्तरि के शिष्य और आचार्य गार्ग्य के समसामयिक थे। इन्हीं का पूरा नाम "पाञ्चाल बाभ्रव्य गालव" था, जिनके बाद मानों तो शिक्षाग्रन्थ-लेखन की एक लड़ी-सी ही लग गयी। इनमें प्रमुख शिक्षाग्रन्थ ये हैं —

१. ***आपिशालि शिक्षा*** — पाणिनि पूर्व भाषाशास्त्री आचार्य आपिशालि कृत इस शिक्षाग्रन्थ का उल्लेख राजशेखर कृत काव्यमीमांसा में हुआ है। साथ ही वृषभदेव की वाक्यपदीय टीका में भी इसकी चर्चा आयी है।

२. ***पाणिनि शिक्षा*** — यद्यपि ऋग्वेद का कोई भी शिक्षाग्रन्थ नहीं मिलता, फिर भी प्राचीन काल से लोग ऋग्वेद का काम इसी शिक्षा ग्रन्थ से चलाते आ रहे हैं।

३. ***याज्ञवल्क्य शिक्षा*** — शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता से सम्बद्ध इस शिक्षाग्रन्थ में कुल २५००० पञ्चीस हजार पद्य बताये जाते हैं, पर उपलब्ध ग्रन्थ में मात्र २३२ ही पद्य हैं।

४. ***कात्यायनी शिक्षा*** — मात्र तेरह पद्यों वाली इस शिक्षा पर जयन्त स्वामी ने व्याख्या लिखी है। यह भी शुक्ल यजुर्वेद से ही सम्बन्धित है।

५. ***माण्डव्य शिक्षा*** — वाजसनेय संहिता से सम्बद्ध इस शिक्षा में केवल ओष्ठ्य वर्णों पर ही विचार किया गया है।

६. ***वाशिष्ठी शिक्षा*** — यह भी वाजसनेय संहिता से ही जुड़ी है।

७. ***माध्यन्दिन शिक्षा*** — शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा से सम्बद्ध इस शिक्षा में द्वित्व के नियमों का विधान किया गया है।

८. ***अवसान निर्णय शिक्षा*** — इसकी रचना अनन्तदेव ने शुक्ल यजुर्वेदावलम्बियों के लिए की थी।

९. ***वर्णरत्न प्रदीपिका*** — यह भी शिक्षाग्रन्थ ही है, जिसकी रचना २२७ पद्यों में भारद्वाजवंशीय किसी अमरेश पण्डित ने की थी।

१०. ***स्वरांकुश शिक्षा*** — मात्र २५ पद्यों में जयन्त स्वामी द्वारा इसकी रचना हुई है। ये जयन्त स्वामी कात्यायनी शिक्षा के व्याख्याता से अभिन्न हैं।

११. ***नारदीय शिक्षा*** — स्वर-रहस्य विज्ञान के लिए अत्यन्त उपादेय इस शिक्षा का सम्बन्ध सामवेद से है। इस पर शोभाकर भट्ट की विस्तृत व्याख्या भी उपलब्ध होती है।

१२. ***भारद्वाज शिक्षा*** — ३६००० छत्तिस सहस्र पद्यों वाली इस शिक्षा का उल्लेख प. वनराज ने अपनी सूची में किया है, पर पुणे के प्राच्य विद्या संस्थान से प्रकाशित संस्करण में इतने श्लोक नहीं हैं। हाँ, उसके साथ नागेश्वर भट्ट की टीका अवश्य छपी हुई है।

१३. ***गणेश शिक्षा*** — वनराज पण्डित द्वारा उद्धृत "गणेश सूत्र" उपनामक इस शिक्षाग्रन्थ में कुल एक लाख पच्चीस हजार पद्य बताये जाते हैं।

१४. ***काश्यप शिक्षा*** — प. वनराज द्वारा उद्धृत इस शिक्षा के श्लोकों की संख्या ५६००० छप्पन हजार बतायी जाती है।

१५. ***चारायणी शिक्षा*** — काश्मीर से प्राप्त चारायण कृत इस शिक्षा का उल्लेख डॉ, कीलहॉर्न ने किया है।

इन शिक्षाग्रन्थों के अतिरिक्त पाराशरी शिक्षा (१०८ पद्य), अमोघानन्दिनी शिक्षा (१०३ पद्य), माण्डूकीय शिक्षा (१०९ पद्य), केशवीय शिक्षा (आस्तिक मुनि के वंशज केशव द्वारा रचित), षोडशश्लोक की शिक्षा (१६ पद्यों में रामकृष्ण प्रणीत), मल्लशर्म शिक्षा (६५ पद्यों में मल्लशर्मा द्वारा प्रणीत), स्वरभक्तिलक्षण शिक्षा (बालकृष्ण प्रणीत) आदि मुख्य हैं।

सार रूप में यह स्मर्त्तव्य है कि शिक्षाग्रन्थों की रचना न केवल व्यास, भारद्वाज, पाणिनि, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, नारद, पराशर, माण्डव्य, गौतम, लौमश, माण्डूक्य, कात्यायन आदि ऋषि-मुनियों ने ही की है; वल्कि रावण, अनन्तदेव, सदाशिव सुत बालकृष्ण गौड़, केशव दैवज्ञ, मल्लशर्मा, जयन्तस्वामी, रामकृष्ण, शम्भू मिश्र, श्रीवत्स उपाध्याय, सिद्धेश्वर सुत रामचन्द्र आदि के भी शिक्षाग्रन्थ कम नहीं हैं। इन सब शिक्षाग्रन्थों की संख्या निश्चित तो नहीं है, पर ५० - ६० से कम भी नहीं होंगी। तीस शिक्षाग्रन्थों का एक संग्रह जहाँ वाराणसी से प्रकाशित हुआ था, वहीं कितनों का प्रकाशन अलग- अलग भी हुआ है। कुछ के उद्धरण प्राप्त होते हैं तो कुछ अप्रकाशित भी हैं। कुछ शिक्षाग्रन्थों का न तो उद्धरण मिलता है और न वह उपलब्ध ही होता है। परन्तु उसके नाम की चर्चा प्राचीन ग्रन्थों व व्याख्याओं में प्राप्त होने से, उनके अस्तित्व को नकारा भी नहीं जा सकता।[४]

कल्पसूत्र

ब्राह्मण, आरण्यक आदि की भाँति, किन्तु उनसे ही सम्बद्ध कुछ और साहित्य हैं, जिन्हें 'कल्प' या 'कल्पसूत्र' के नाम से जाना जाता है। कल्पसूत्र (Manuals on Ritual) चार भागों में विभक्त है — श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र एवं शुल्वसूत्र। कल्पसूत्र भी प्रत्येक वेद किंवा संहिता का अपना अलग - अलग होता है, परन्तु सभी वेदों के सभी कल्प आज उपलब्ध नहीं हैं। इस विषय पर विचार तो हम आगे करेंगे ही, यहाँ इतना ही अवधेय है कि यह कल्पसूत्र वैदिक साहित्य की अपेक्षा, वेदाङ्ग साहित्य के अधिक निकट है। अतएव इसकी गणना वैदिक साहित्य में न करके, वेदाङ्ग साहित्य में की गयी है। वेद जहाँ ईश्वरीय रचना है, ऋषियों द्वारा दृष्ट है; वहीं वेदाङ्ग ऋषिमुनियों द्वारा प्रणीत, मानवीय कृति है। एक अपौरुषेय तो दूसरा पौरुषेय है। वैदिक साहित्य का अध्ययन जब सहज न रहा, तो उसकी सुव्यवस्था के लिए सूत्र साहित्य का श्रीगणेश हुआ। सूत्र साहित्य, वैदिक साहित्य के कर्मकाण्ड से सम्बद्ध सिद्धान्तों को एक नूतन स्वरूप देता है। न्यूनातिन्यून शब्दों में अधिकाधिक अर्थों का प्रतिपादन करना तथा छोटे - छोटे वाक्यों के द्वारा महत्त्वपूर्ण विधि-विधानों को प्रकट करना ही इस साहित्य का मूल उद्देश्य बना। यह सूत्र साहित्य वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ-यागादि पर अपना संक्षिप्त, किन्तु सारगर्भित प्रकाश प्रस्तुत करता है।

वस्तुतः ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ-यागादि का विधान इतना प्रौढ़ और विस्तार हो गया था कि बाद में उसकी सहज जानकारी के लिए उनको क्रमबद्ध करने के कार्य की आवश्यकता अनुभव किया गया। इसी कारण ब्राह्मण ग्रन्थों की व्याख्या के रूप में सूत्र साहित्य का विकास हुआ। सूत्ररूप में जो बातें कही जाती हैं, वह अधिक दिनों तक स्मरण रहती है। साथ ही उन दिनों, सब काम भी सूत्रशैली में ही तो सम्पादित होता था। फलतः उपर्युक्त आवश्यकता की पूर्त्ति भी सूत्रशैली में ही की गयी। वेदों के सहायक होने के कारण अथवा वेदपुरुष के अंग होने के कारण इसे भी 'वेदाङ्ग' की कोटि में रक्खा गया। इसका नाम पड़ा 'कल्प' —

"कल्प्यते समर्थ्यते याग प्रयोगोऽत्र इति कल्पः" (यज्ञसम्बन्धी विधियों का समर्थक और प्रतिपादक शास्त्र ही कल्प है)। अर्थात् वेदों में निहित कर्मों का क्रमपूर्वक व्यवस्थित रूप से वर्णन या प्रतिपादन अथवा कल्पना करने वाला शास्त्र — "कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्"[५]। इसे ऋषियों ने वेदपुरुष का 'हाथ' बताया, अर्थात् हाथ के बिना जैसे मानव अकर्मण्य हो जाता है, उसी प्रकार विना 'कल्प' का 'वेद' सामाजिक जीवन में अकर्मण्य सा बन जाता है।

सभी छः वेदाङ्गों में 'शिक्षा' के बाद 'कल्प' का ही स्थान आता है। कल्प अर्थात् नियम, विधि, न्याय, आदेश आदि। जब कि सूत्र का अर्थ है — संक्षेप। तात्पर्य यह है कि विधि-विधानों, न्याय-नियमों, रीति-व्यवस्थाओं, कर्मानुष्ठानों, धर्म-जिज्ञासाओं का जिस ग्रन्थ में निर्दुष्ट विवेचन किया गया हो, संक्षेप में ही प्रयोक्तव्य और सारयुक्त वचनों को दरसाया गया हो — वही 'कल्पसूत्र' है। इसीलिए किसी ने कहा है कि हिन्दूधर्म के जितने भी संस्कार, अनुष्ठान और नियम हैं, जितने भी नित्य, नैमित्तिक, काम्य व निष्काम कर्म हैं — उन सभी का प्रतिपादन कल्पसूत्रों में किया गया है।

प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण व उल्लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मंत्र-संहिताओं की भाँति कल्पसूत्रों की संख्या भी ११३० थी, जो आज मात्र ४० ही उपलब्ध होती हैं। इन चालिस कल्पसूत्र ग्रन्थों में कुल ४२ कर्मों का विधान पाया जाता है। अर्थात् १४ श्रौतयज्ञों का, ७ गृह्ययज्ञों का, ५ महायज्ञों का तथा १६ मानव संस्कारों का।

कालान्तर में 'कल्प' अथवा 'कल्पसूत्र' दो भागों में बँट गया — श्रौतसूत्र एवं स्मार्त्तसूत्र। 'श्रौत' का अर्थ है श्रुति या वेद अथवा यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाला तथा 'स्मार्त्त' का अर्थ है गार्हपत्य सम्बन्धी अथवा स्मरण सम्बन्धी। स्मार्त्तसूत्र का प्रयोजन मनुष्यों को पग - पग पर होता था, जब कि श्रौतसूत्र का प्रयोजन अवसर विशेष पर ही हुआ करता था। बाद में इन दोनों के भी दो - दो भेद हुए अथवा विद्वानों ने इन्हें चार भागों

में विभक्त किया। श्रौतसूत्र को दो भागों में बाँटा गया — श्रौतसूत्र और शुल्वसूत्र। जब कि स्मार्त्तसूत्र के भी दो प्रकार हुए — गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र।

ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित तीन प्रकार की श्रौताग्नियों (दक्षिण, आहवनीय एवं गार्हपत्य) में सम्पाद्यमान १४ चौदह यज्ञ-यागादिक अनुष्ठानों का विशेष वर्णन, जिसमें पाया जाय, उसे ही 'श्रौतसूत्र' की संज्ञा दी गयी है। अर्थात् अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास्य, पशुयाग, ऋतुयाग, सोमयाग आदि श्रुति-प्रतिपादित दीर्घकाल - व्यापी बड़े - बड़े यज्ञों के नियमादि का वर्णन करनेवाला ग्रन्थ ही 'श्रौतसूत्र' कहलाता है। इसका निर्माण ऋत्विजों किंवा पुरोहितों के लिए किया गया था। ब्राह्मण ग्रन्थों के समान ही इसमें भी कर्मकाण्ड सम्बन्धी विधानों का वर्णन हुआ है, किन्तु यह उससे बहुत मायने में भिन्न भी है। इसमें मुख्यरूप से वैदिक हवि एवं सोमयाग सम्बन्धी धार्मिक अनुष्ठानों का प्रतिपादन हुआ है। मुख्यरूप से ग्यारह ऐसे प्रधान सूत्रकार ऋषि-मुनि हुए हैं, जिनके श्रौतसूत्र पाये जाते हैं। ये हैं क्रमशः — आश्वलायन, शांखायन, बौधायन, आपस्तम्ब, मानव, कात्यायन, हिरण्यकेशी, लाटायन, द्राह्यायण, जैमिनी एवं वैतान।

गृहस्थ के जीवन सम्बन्धी धार्मिक क्रिया-कलापों एवं विधियों का निरूपक ग्रन्थ ही 'गृह्यसूत्र' कहलाते हैं। जिनमें गर्भाधान से अन्त्येष्टि पर्यन्त के सभी १६ संस्कारों का सूत्र रूप में वर्णन प्राप्त होता है। इसके 'श्राद्धकल्प' में श्राद्धादि का विधान भी भलीभाँति दरसाया गया है, किन्तु इसमें उपनयन-विवाह का जितना साङ्गोपाङ्ग वर्णन हुआ है, निश्चय ही उतना किसी अन्य संस्कार का नहीं। हाँ, इसमें सात प्रकार (पितृयज्ञ,पार्वणयज्ञ, अष्टकायज्ञ, श्रावणीयज्ञ, अश्वायुजीयज्ञ, आग्रहायणीयज्ञ और चैत्रीयज्ञ) के गृह्ययज्ञों, एवं पाँच प्रकार (देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, ऋषियज्ञ और नृयज्ञ) के महायज्ञों का विधान शतपथ ब्राह्मण के समान ही विशेष आकर्षक अवश्य हैं। इसमें यह बतलाया गया है कि प्रत्येक गृहस्थ के लिए ये सब यज्ञ अनिवार्य हैं, खास करके गृहपति के लिए। गृहनिर्माण,

गृहप्रवेश, पशुपालन, कृषि, उत्सव, जादू-टोना, अपशकुन, रोगनाशक्रियाओं आदि विविध विषयों वाले इस गृह्यसूत्र में मानो घर-गृहस्थी से सम्बन्धित सभी विषय वर्णित हैं। तभी तो इसे 'गृह' का 'सूत्र' कहा गया है। संक्षेप में यही कहना पर्याप्त होगा कि गृहाग्नि में होने वाले यागों व संस्कारों का तथा समाज में प्रचलित प्रथाओं का ही वर्णन इसमें किया गया है। दूसरे अर्थों में यदि कहें तो यही कह सकते हैं कि सामान्य उत्सव, दैनिक जीवन के कर्मकाण्ड, जो कि जन्म, मृत्यु, विवाह आदि के अवसर पर होते थे — उन सभी के नियम आदि गृह्यसूत्र में वर्णित होते हैं। तेरह प्रधान गृह्यसूत्र पाये जाते हैं, जिनके कर्त्ता हैं — आश्वलायन, शांखायन, बौधायन, मानव, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, भारद्वाज, पारस्कर, द्राह्यायण, गोभिल, खदिर, कौशिक और शौनक।

रीति, नीति, धर्म, प्रथा आदि के संकेतों के साथ - साथ जिस सूत्र में चातुर्वर्ण्य एवं चारों आश्रमों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का, विशेषतः राजाओं के कर्त्तव्य का विचार हो, उनके वारे में विशिष्ट प्रतिपादन किया गया हो, उसे ही 'धर्मसूत्र' का नाम दिया गया। सामाजिक व्यवस्था को व्यवस्थित रखना, व्यक्ति-परिवार और समाज कें परस्पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार करना, सामाजिक आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान, विवाह (ब्राह्म, देव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच), शासन व्यवस्था, कर-कानून आदि का निर्द्धारण करना — सब, धर्मसूत्रों का ही काम है। इसीके आधार पर यथा समय स्मृतियों की रचना होती रही है अर्थात् धर्मसूत्रों से ही स्मृतिग्रन्थों का विकास हुआ है। संक्षेपतः धर्मसूत्र गृह्यसूत्र का ही एक भाग है, जिसमें धार्मिक कृत्यों का वर्णन और आध्यात्मिक नियमों का प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए पाश्चात्य विद्वान् विण्टरनित्ज ने लिखा भी है कि — "Books of instruction on Spiritual and Secular law the oldest law books of the Indians."। यह कल्पसूत्र का अविभाज्य अंग है। सामान्यतः वेद की प्रत्येक शाखा या संहिता से इसे सम्बद्ध होना चाहिये, रहा भी होगा। किन्तु आज किसी शाखा के धर्मसूत्र मिलते हैं तो किसी के नहीं। आश्वलायन, शांखायन

और मानव के श्रौतसूत्र व गृह्यसूत्र तो मिलते हैं, पर इनके धर्मसूत्र उपलब्ध नहीं हैं। जब कि बोधायन, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी के धर्मसूत्र पूर्णतः प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार हारीत और शंख ऋषियों के धर्मसूत्र भी मिल जाते हैं।

प्रमुख धर्मसूत्रकारों में गौतम, वसिष्ठ, मानव, बोधायन, आपस्तम्ब आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं, किन्तु इनमें सर्वाधिक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण है महर्षि गौतम का 'गौतम धर्मसूत्र'।

शुल्वसूत्रों में यज्ञ वेदिका के निर्माण से सम्बद्ध रीति-नियमों का विशेष प्रतिपादन हुआ मिलता है। अर्थात् यज्ञभूमि, यज्ञवेदियों का चयन करना, उसको मापने, मापकर बनाने के लिए ही इन सूत्रों का निर्माण हुआ है। जिस प्रकार धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र का भाग हैं, पूरक है; उसी प्रकार शुल्वसूत्र भी श्रौतसूत्र का एक भाग है, उससे सम्बद्ध और पूरक है। ये सूत्र भी यज्ञानुष्ठान के विधान को बतलाते हैं। 'शुल्व' जो कि मापने की रस्सी को कहते हैं, उससे सम्बद्ध सूत्रों का संकलन ही 'शुल्वसूत्र' कहलाता है। यह आधुनिक ज्यामितीयशास्त्र अर्थात् रेखागणित का प्राचीन स्वरूप है, भारतीय परिकल्पना है। शुल्वसूत्र से अनजान लोग ही यूनानी दार्शनिक पाइथागोरस को ज्यामितीय सिद्धान्त का जनक मानते हैं। जब कि हमारा शुल्वसूत्र उनसे हजारों वर्ष पहले का है।

यहाँ कुछ उपलब्ध और चर्चित कल्पसूत्रों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है –

१. ऋग्वेद के कल्पसूत्र –

श्रौतसूत्र — आश्वलायन, शांखायन।
गृह्यसत्र — आश्वलायन, शांखायन, कौषीतकीय।
धर्मसूत्र — वसिष्ठ, विष्णु।

२. शुक्लयजुर्वेद के कल्पसूत्र —

श्रौतसूत्र — कात्यायन, वैजवाप।
गृह्यसूत्र — वैजवाप, कातीय, पाराशर।

शुल्वसूत्र — कात्यायन।

३. कृष्णयजुर्वेद के कल्पसूत्र —

श्रौतसूत्र — बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, सत्याषाढ़, वैखानस, भारद्वाज, मानव, लौगाक्षि, कठ और कात्य।

गृह्यसूत्र — बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, सत्याषाढ़, वैखानस, भारद्वाज, मानव, लौगाक्षि, काठक एवं बह्वृच।

धर्मसूत्र — आपस्तम्ब, बौधायन एवं हिरण्यकेशी।

शुल्वसूत्र — आपस्तम्ब, बौधायन और मानव।

४. सामवेद के कल्पसूत्र —

श्रौतसूत्र — माशक, लाटायन, जैमिनीय, द्राह्यायण, अनुपद, पुष्पसूत्र, सामतन्त्र,पञ्चविधसूत्र, प्रतिहारसूत्र, ताण्ड्यलक्षणसूत्र, उपग्रन्थसूत्र, कल्याणानुपदसूत्र, अनुस्तोत्रसूत्र, क्षुद्रसूत्र, निदानसूत्र आदि।

गृह्यसूत्र — गोभिल, खदिर, पितृमेघ।

धर्मसूत्र — गौतम।

५. अथर्ववेद के कल्पसूत्र —

सामान्य कल्पसूत्र — कौशिक, वैतान, नक्षत्र, अंगिरस, शान्ति, आथर्वण।

श्रौतसूत्र — वैतान।

गृह्यसूत्र — कौशिक।

यहाँ यह स्मर्त्तव्य है कि सभी वेदों में सामवेद के सर्वाधिक, फिर उसके बाद कृष्णयजुर्वेद के कल्पसूत्र पाये जाते है। सामवेदीय श्रौतसूत्रों में भी सर्वाधिक प्राचीन आर्षेय या आर्यव कल्पसूत्र ही है, जिसे मशक, माशक या मिशक श्रौतसूत्र भी कहते हैं। क्योंकि आर्षेय कल्पसूत्र के कर्त्ता पंचविंश ब्राह्मणानुयायी ये ही मशक ऋषि हैं। सामवेद की तीनों

शाखाओं के अपने - अपने श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र पाये जाते हैं। जैसे —

कौथुम शाखा में — लाटायन श्रौतसूत्र, गोभिल गृह्यसूत्र,

राणायणीय में — वशिष्ठसूत्र अर्थात् द्राह्यायण श्रौतसूत्र, खदिर गृह्यसूत्र।

जैमिनीय में — जैमिनीय श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्र।

सामवेदीय सूत्रों में पुष्पसूत्र (श्रौतसूत्र) के रचयिता कौन हैं, कहना कठिन है। क्योंकि गोभिल और वररुचि दोनों को इसका कर्त्ता माना गया है। जबकि पंचविधसूत्र और प्रतिहारसूत्र — दोनों के कर्त्ता कात्यायन ऋषि कहे जाते हैं। इसी तरह गोभिल गृह्यसूत्र पर कात्यायन का "कर्मप्रदीप" नामक एक परिशिष्ट पाया जाता है, जिसे कात्यायन-परिशिष्ट से भी लोग जानते हैं। पितृमेघ गृह्यसूत्र नामसे जो सामवेदीय कल्पसूत्र मिलता है, उसके कर्त्ता महर्षि गौतम बताये जाते हैं, जो कि टीकाकार आचार्य अनन्तज्ञान के अनुसार न्यायसूत्रकार अक्षपाद से भिन्न नहीं हैं।

शुक्लयजुर्वेदीय कल्पसूत्रों में कात्यायन श्रौतसूत्र पर अनेक मैथिलों ने भी व्याख्या लिखी हैं, जिनमें मुख्य हैं — कर्क स्वामी (?), पद्मनाभ, भास्कर मिश्र, हरिहर आदि। कातीय गृह्यसूत्र के भी अनेक भाष्य मैथिल आचार्यों द्वारा प्रणीत हुए हैं, जिनमें उल्लेखनीय आचार्य हैं — कर्क (उपाध्याय (?)) स्वामी, मुरारि मिश्र, वागीश्वर दत्त, वेद मिश्र तथा गदाधर।

ऋग्वेद के आश्वलायन श्रौतसूत्र के व्याख्याकारों में 'नारायण' का नाम अत्यन्त आदर से लिया जाता है जो श्रीपति के पौत्र और कृष्णजी के पुत्र थे। इन्होंने शांखायन श्रौतसूत्र पर भी भाष्य लिखा है तथा इन दोनों गृह्यसूत्रों पर भी उनके व्याख्यान उपलब्ध हैं, जिसका नाम 'नारायण

भाष्य' कहा जाता है। कुछ इतिहासवेत्ताओं ने इन्हें मैथिल माना है, पर इनका समय मैथिल नारायण उपाध्याय से मेल नहीं खाता। हाँ, पितृ एवं पितामह के नाम में साम्यता जरूर है। मीमांसक मण्डन मिश्र से

भिन्न एक 'मण्डन' थे आश्वलायन श्रौतसूत्र के व्याख्याकार, जो निश्चय ही मैथिल थे।

अथर्ववेद के सभी छः कल्पसूत्रों में पाँच गोपथब्राह्मण पर आधारित हैं, तो एक आथर्वण कल्पसूत्र पैप्पलादशाखा का, अगस्त्य ऋषि द्वारा प्रवर्त्तित है।

व्याकरण

"व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्" — इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्याकरण वह शास्त्र है, जिसके द्वारा सुबन्त-तिङन्तादि पदों की व्याख्या की जाय, प्रकृति-प्रत्यय के विभाजन का ज्ञान हो तथा शब्दों से व्याकृत किया जाय। यह वेदपुरुष का मुख है — "मुखं व्याकरणं स्मृतम्।" इसके द्वारा वेदों के अर्थ को समझा जाता है तथा उस अर्थ की रक्षा की जाती है। व्याकरण के दो स्वरूप पाये जाते हैं — एक वैदिक व्याकरण और दूसरा लौकिक व्याकरण। एक में शब्दानुसार व्याकरण है, तो दूसरे में व्याकरणानुसार शब्द। संस्कृत भाषा के भी दो स्वरूप हैं — वैदिक और लौकिक, अतः व्याकरण का दो होना — उपयुक्त ही है। वैदिक व्याकरण या वैदिक संस्कृत में जहाँ गृभाण, अहुर, कर्णेभिः आदि पद शुद्ध माने जाते हैं, वहीं लौकिक संस्कृत या व्याकरण में गृहाण, असुर, कर्णैः आदि पद ही शुद्ध कहलाते हैं। अस्तु।

यद्यपि पाणिनि आदि आचार्यों ने अपने-अपने व्याकरण ग्रन्थों में वैदिक संस्कृत का भी भाग थोड़ा-बहुत रक्खा है, परन्तु खास करके वैदिक संस्कृत का जो 'व्याकरण' है, उसका नाम 'प्रातिशाख्य' मिलता है। आज के व्याकरण में भी वैदिक व्याकरण पर पर्याप्त विचार देखने को मिलते हैं; परन्तु अपेक्षित जानकारी हमें 'प्रातिशाख्य' से ही प्राप्त होती हैं। 'प्रातिशाख्य' की थोड़ी-बहुत कमी को 'निरुक्त' पूरा करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन काल में जब षडङ्गों का विकास नहीं हुआ था, उन दिनों 'प्रातिशाख्य' ही शिक्षा, निघण्टु, निरुक्त एवं

व्याकरण की कमियों को पूरा करता था। वैसे तो ब्राह्मण ग्रन्थों व कल्पसूत्रों में भी वैदिक व्याकरण पर अच्छा- खासा विचार देखने को मिलता है — तथापि उन विषयों पर पृथक् रूप से प्रातिशाख्य ग्रन्थों में ही प्रकाश डाला गया है।

प्रातिशाख्यों का विषय वर्ण समाम्नाय, पद विभाग, स्वर विचार, पाठविचार, उच्चारण भेद आदि रहे हैं। इनमें भी वर्ण समाम्नाय में स्वर-व्यञ्जन वर्णों की उच्चारण विधियों पर विचार किया गया है। पद विभाग में प्रगृह्य- अवगृह्य संज्ञादि के नियम और अपवाद के विषय निर्द्धारित हैं; स्वर विचार में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित का परिचय, उसके भेद और आख्यात स्वरों पर विचार देखे जाते हैं। पाठविचार में संहिता-क्रम-जटा-पाद-पद आदि से सम्बन्धित नियम, भेद विविध विषय वर्णित हैं। जब कि उच्चारण भेद में ध्वनि भेदों का विस्तार से विचार किया गया है। इतना सब होने के बाद भी प्रातिशाख्य ग्रन्थों में व्याकरण का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूप प्राप्त नहीं होता। प्रायः इसमें समस्त व्याकरण-प्रक्रिया का अभाव ही पाया जाता है। शब्दों की रचना, व्युत्पत्ति और निर्वचन आदि पर भी जैसा व्यवस्थित विचार अपेक्षित था, वैसा प्रातिशाख्य में नहीं हुआ। सन्धि, स्वर, सर्वनाम, ध्वनि, प्रत्याहार आदि के क्षेत्र में भी इसे पूरा नहीं कहा जा सकता। संक्षेप में यही कह सकते हैं कि वेद के गूढ़ार्थ, शब्द-व्युत्पत्ति, शब्दरचना, निर्वचन आदि तथा सन्धि, शिक्षा, प्रत्याहार आदि व्याकरण शास्त्रीय अंगों की व्यवस्था के लिए उपयुक्त वैज्ञानिक ग्रन्थ की पूर्त्ति भी इन प्रातिशाख्य ग्रन्थों से नहीं हो पायी। फलतः शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण आदि की रचना हुई।

परन्तु 'प्रातिशाख्य' प्रत्येक वेद व शाखा से सम्बद्ध था, जो आज कम ही उपलब्ध हो रहे हैं। इनमें परिगणनीय हैं महर्षि शौनक कृत ऋक् प्रातिशाख्य- तैत्तिरीय प्रातिशाख्य- अथर्वप्रातिशाख्य, कात्यायन ऋषि का आठ अध्यायों में प्रणीत शुक्लयजुः प्रातिशाख्य, महर्षि पुष्प प्रणीत पुष्पसूत्र उपनामक सामवेद प्रातिशाख्य, कृष्णयजुःप्रातिशाख्य और किसी शौनकेतर ऋषि (अज्ञातनामा) का अथर्ववेद प्रातिशाख्य। ये सभी

प्रातिशाख्य प्रकाशित हैं, जिनका प्रमुख लक्ष्य अपनी - अपनी शाखाओं के संहितापाठ-पदपाठ-क्रमपाठ-जटापाठ आदि को सुरक्षित रखना रहा है।

व्याकरण शास्त्र की उत्पत्ति के बारे में काल निर्द्धारण करना बड़ा ही कठिन कार्य है। क्यों कि संहिताओं एवं ब्राह्मण आदि ग्रन्थों से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण के अनेक विषयों, खास करके प्रकृति-प्रत्यय, धातु, उपसर्ग, समास आदि का विभाजन वैदिक युग में ही हो चुका था। व्याकरण का प्राचीन रूप निर्वचन, शब्दों की व्याख्या के रूप में ब्राह्मणग्रन्थों में मिलता है। गोपथब्राह्मण में तो धातु, प्रातिपदिक, आख्यान, लिंग, वचन, विभक्ति आदि का निर्देश भी प्राप्त होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद प्रातिशाख्यों ने व्याकरण की पूर्त्ति की, जब कि निरुक्त में हमें व्याकरण के मूल रूप का दर्शन होता है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में विकास को प्राप्त व्याकरण का रामायण युग में वैज्ञानिक अध्ययन-अध्यापन भी होने लग गया था। ऋक्तन्त्र (२/४) के अनुसार व्याकरण की शिक्षा सर्वप्रथम ब्रह्माजी ने वृहस्पति को दिया था, फिर वृहस्पति ने इन्द्र को और इन्द्र से भारद्वाज ने इसकी शिक्षा प्राप्त की[६]। यह सही है कि प्राचीन काल के व्याकरण ग्रन्थ आज हमें मूल रूप में उपलब्ध नहीं हैं; पर ऋक्तन्त्र, सामतन्त्र आदि प्राचीन सात उपलब्ध वैदिक व्याकरणों को देखकर यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थ आज सर्वथा अनुपलब्ध ही हैं।

निरुक्त के व्याख्याता दुर्गाचार्य के मत में व्याकरण के आठ प्रवर्त्तक आचार्य हुए हैं — इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशलि, शाकटायन, पाणिनि, अमर एवं जैनेन्द्र। जब कि दुर्गाचार्य से पहले पाणिनि ने भी अपनी अष्टाध्यायी में दश पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के नाम निर्देश किया है। जिनके नाम हैं — आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मन, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन। इतना ही नहीं, कई अन्यान्य ग्रन्थों से भी कुछ और पाणिनि पूर्व वैयाकरणों का पता चलता है, जिनमें मुख्य हैं — वायु, भागुरि, पौष्करसादि, चारायण, वैयाघ्रपाद, माध्यन्दिन, रौढ़ि, शौनक, गौतम, व्याडि आदि। परन्तु यहाँ यह भी निश्चित है कि वैयाकरणों में परिगणित ये सभी 'वैयाकरण' नहीं

थे। सम्भव है इन वैयाकरणों में कुछ शिक्षाकार भी रहे हों, कुछ प्रातिशाख्यकार, कुछ निघण्टु या निरुक्तकार तो कुछ वैयाकरण। जैसे यास्क के निरुक्त में उद्धृत गार्ग्य, गालव, शाकटायन आदि नैरुक्तों का पाणिनि ने अपने गणपाठ में वैयाकरणों के रूप में उल्लेख किया है।

अष्टाध्यायी के रचयिता पाणिनि भले ही ईसुपुंजई के पठान इलाके के अन्तर्गत 'शालातुर' के निवासी रहे हों, पर वे मगध साम्राज्य के समय पाटलिपुत्र में आ बसे थे — यह निश्चित है। इनके गुरु वर्षोपाध्याय, उपवर्षोपाध्याय मैथिल थे, मिथिला की विभूति थे तथा पाटलीपुत्र (पटना) में रहा करते थे — इसमें भी अब विद्वान् ऐकमत्य हो चुके हैं।[७]

निरुक्त

शिक्षा-कल्प और व्याकरण के बाद वेदाङ्गों में चौथा स्थान निरुक्त का ही आता है। 'निरुक्त' शब्द पहले एक पृथक् विषय और शास्त्र का द्योतक था, जो आज मात्र यास्क का ही निरुक्त उपलब्ध होने के कारण ग्रन्थ-विशेष का बोधक बनकर रह गया है। यह सही है कि यास्क से पहले भी इस विषय पर कई प्राचीनाचार्यों ने ग्रन्थ लिखे हैं, जिनका उल्लेख या जिनकी झलक यास्क (५००-६०० ई.पू.) के निरुक्त एवं अन्य आचार्यों के वेदभाष्यों से मिल जाती हैं। स्वयं यास्क ने जहाँ अट्ठारह पूर्ववर्ती वैयाकरणों, निरुक्तकारों या निघण्टुकारों का उल्लेख किया है, वहीं निरुक्त के वृत्तिकार दुर्गाचार्य ने चौदह प्राचीन निरुक्तग्रन्थों की ओर इशारा किया है — "निरुक्तं चतुर्दर्श प्रभेदम्"। यास्क द्वारा चर्चित निरुक्तकार हैं, क्रमशः — आग्रायण, औदुम्बरायण, और्णनाभ, कास्थक्य अथवा काथक्य, क्रोष्टुकि, गार्ग्य, गालव, चर्मशिरा, तैटिकि, शतवलाक्ष, शाकपूर्णि, स्थौलाष्ठीवि, औपमन्यव, शाकटायन, शाकल्य, कौत्स या कौत्सव्य, और्णवाम और वार्ष्यायणि। इनमें कौत्स या कौत्सव्य शाकपूर्णि के पुत्र तथा यास्क के कनिष्ठ समसामयिक भी माने जाते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि उपर्युक्त निरुक्तकार शाकपूर्णि की ख्याति इसलिए अधिक नहीं हो पायी, क्यों कि बृहद्देवता एवं पुराणों के

अनुसार, वे यास्क विरुद्ध मत प्रदर्शित करते थे।

निरुक्त, जो कि वैदिक शब्दकोश 'निघण्टु' की व्याख्या है, उसके कर्त्ता महर्षि यास्क तो हैं ही, वल्कि एक अनुश्रुति के अनुसार निघण्टु भी यास्क का ही प्रणीत माना जाता है। परन्तु महाभारत का एक उद्धरण बताता है कि इसके रचयिता प्रजापति कश्यप हैं[८]। वस्तुतः 'निघण्टु' यास्क से प्राचीन है, वे तो इसके व्याख्याता मात्र हैं। यह भी कहा जाता है कि 'निघण्टु' कई थे, प्रत्येक में वैदिक शब्दों का कोश था, जो संकलन कर्त्ता की इच्छा से निर्मित होता था। यास्क ने भी स्वयं एक दूसरे 'निघण्टु' की ओर इशारा किया है। वे लिखते हैं कि जिस ग्रन्थ में चार बातें मुख्य हों, वही 'निघण्टु' है। ये चार बातें हैं क्रमशः — (१) समानार्थक धातुओं का संग्रह, (२) समानार्थक भिन्न शब्दों का संग्रह, (३) विभिन्नार्थक शब्दों का संग्रह तथा (४) देवताओं के प्रधान एवं गौण नामों का संग्रह। किन्तु उपलब्ध निघण्टु में तीसरा लक्षण घटित नहीं होता, अतः इससे भिन्न भी कोई दूसरा निघण्टु रहा होगा, जिसमें ये चारों लक्षण रहे होंगे। निरुक्त के प्रारम्भ में निघण्टु के लिए बहुवचन का प्रयोग भी यह सिद्ध करता है कि निघण्टु अनेक थे। दूसरी ओर यास्क के अनुसार शब्दों के चार भाग होते हैं — नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। किन्तु वर्त्तमान निघण्टु में बाद के दो नहीं मिलते, फलतः उपसर्ग और निपातों का संग्रह करने वाला निघण्टु भी अवश्य ही रहा होगा। इन्हीं सब विन्दुओं के आधार पर आचार्य भगवद्दत्त जी ने यह सिद्ध किया है कि निघण्टु अनेक थे[९]। प. भगवद्दत्तजी ने यास्क-स्कन्दस्वामी-उद्‌गीथ-गोविन्दस्वामी-उव्वट-सायण आदि के वेदभाष्यों का अनुशीलन कर यह प्रतिपादित किया है कि प्रजापति कश्यप के बाद कम से कम सोलह निघण्टु और भी रचे गये होंगे[१०]। अतः अनेक निघण्टु थे, इसमें सन्देह नहीं।

उपलब्ध निघण्टु हों अथवा अनुपलब्ध, परन्तु उन सभी में वेद के कठिन- कठिन शब्दों की अनुक्रमणी थी, क्रमबद्ध तालिका संकलित थी — इसमें किसी का वैमत्य नहीं है, साथ ही इस बात का पता कई प्राचीन ग्रन्थों से भी चल जाता है। महर्षि कश्यप प्रतिपादित निघण्टु,

जिसका निर्वचनात्मक अथवा व्युत्पत्तिपरक भाष्य निरुक्त है, में शब्दों की पाँच सूचियाँ दी गयी हैं, जो तीन भागों में विभक्त हैं — निघण्टु काण्ड, नैगमकाण्ड तथा दैवतकाण्ड। निघण्टु काण्ड में जहाँ वैदिक शब्दों का एक विशेष क्रम से संग्रह किया गया है, वहीं नैगम काण्ड में उस प्रकार के वैदिक शब्दों की व्याख्या की गयी है, जिनके प्रकृति-प्रत्यय की कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती। कहा भी गया है कि "अनवगत संस्कारश्च निगमान्"। जब कि दैवतकाण्ड में पृथ्वी, स्वर्ग तथा अन्तरिक्ष के देवताओं का वर्गीकरण एवं उनका विवेचन प्रस्तुत किया गया है। पाँच अध्यायों में विभाजित इस निघण्टु की व्याख्या यास्क ने कुल बारह अध्यायों में की है। इसके प्रथम तीन अध्यायों (नैघण्टुक काण्ड) की व्याख्या यास्क ने द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में की है। निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में तीन खण्ड हैं — इसे ही नैगमकाण्ड या ऐकपदिक काण्ड कहा जाता है। इन तीनों खण्डों की व्याख्या निरुक्त के चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ अध्यायों में हुई है। जब कि निघण्टु के अन्तिम अर्थात् पञ्चम अध्याय (दैवतकाण्ड) में छः खण्ड हैं और इन सभी खण्डों की व्याख्या यास्क ने निरुक्त के सात से लेकर बारह अध्यायों तक की है। अर्थात् हर एक खण्ड की व्याख्या निरुक्त के एक-एक अध्याय में हुई है। निरुक्त का तेरहवाँ एवं चौदहवाँ अध्याय परिशिष्ट है, जिसे आचार्य यास्क ने लिखा या परवर्ती किसी और विद्वान् ने कहना कठिन है। यद्यपि आचार्य सायण इन दोनों अध्यायों को यास्क कृत नहीं मानते, परन्तु मुझे यह लगता है कि जैसे प्रथम अध्याय को यास्क ने भूमिका बनाया है, उसी प्रकार इन दो अन्तिम अध्यायों को उपसंहार के रूप में लिखा होगा।वस्तुतः निघण्टु की व्याख्या, निरुक्त में द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद से ही प्रारम्भ होता है। प्रथम अध्याय के प्रारम्भ से लेकर द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद पर्यन्त यास्क ने एक प्रकार से भूमिका मात्र तैयार की है; जिस भूमिका का महत्त्व उतना ही है, जितना कि महाभाष्य की पस्पशाह्निक भूमिका (पतञ्जलि), शारीरिक मीमांसाभाष्य भूमिका (शंकराचार्य), ब्रह्मसूत्रभाष्य भूमिका (रामानुज), वेदभाष्य भूमिका (सायण) आदि का माना जाता है।

वेदार्थ प्रतिपादक प्राचीन ग्रन्थों में निघण्टु और निरुक्त ही आते हैं, जिनमें निघण्टु वैदिक शब्दकोष माना जाता है और निरुक्त उसका निर्वचनात्मक भाष्य अथवा व्युत्पत्तिपरक व्याख्या। नैरुक्तिक पद्धति के आधार पर यास्क ने वैदिक देवता वाचक अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि को निर्वचनात्मक स्वीकार कर सम्बद्ध मन्त्रों के चार प्रकार से अर्थ किये हैं — आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आधियाज्ञिक। इनके अनुसार कोई भी एक धातु जितने अर्थों में प्रयुक्त होती है, उसके उतने ही अर्थ हो सकते हैं। अतः प्रसंगानुसार जो उचित हो, वही अर्थ ग्राह्य है। वस्तुतः भाष्यशैली के गद्य में होने से निरुक्त, अर्थावगम में बड़ी सहायता करता है। अर्थज्ञान के लिए यह उस शब्द से सम्बद्ध धातु तथा उसके अर्थ का आश्रय लेता है, जिस नैघण्टुक शब्द का वह विवेचन करता है।

निरुक्त वैदिक शब्दों को धात्वज मानकर उनकी निरुक्ति करता है। यह निघण्टु और व्याकरण दोनों के बीच एक सेतु का काम करता है। क्यों कि जहाँ एक ओर यह वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति बताकर निघण्टु के विषय की पूर्त्ति करता है, वहीं "तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्" पद-मीमांसक होने के कारण व्याकरण का सर्वस्व भी है। व्याकरण और निरुक्त में इसी घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण यास्क ने कहा है कि अवैयाकरणों के लिए निरुक्त नहीं है — "नाऽवैयाकरणाय"। जब कि निरुक्त के ज्ञान के विना वेदार्थ का ज्ञान असम्भव ही है, क्योंकि जिन वैदिक दुरूह शब्दों की निष्पत्ति व्याकरण द्वारा नहीं हो सकती, उसकी भी व्युत्पत्ति निरुक्त में मिल जाती है। अतः दोनों वेदार्थ ज्ञान के लिए अनिवार्य हैं। इसीलिए तो सायणाचार्य ने कहा है कि पदार्थ ज्ञान के लिए स्वतन्त्र पद संग्रह ही निरुक्त है — "अर्थाऽवबोधो निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्"। निरुक्त के वृत्तिकार दुर्गाचार्य ने भी लिखा है कि चूँ कि शब्दापेक्षया अर्थ प्रधान होता है और निरुक्त अर्थ का परिज्ञान कराता है, अतः यह शेष वेदाङ्गों या शास्त्रों में प्रमुख है। इन सब विषयों को उद्धृत करने का तात्पर्य यह है कि निरुक्त नामक वेदाङ्ग का प्रतिपाद्य

विषय पाँच है, जैसा कि कहा भी गया है —

"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगः यदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ।।"

जिस प्रकार निघण्टु के व्याख्याताओं में यास्क के अतिरिक्त देवराज यज्वा, स्कन्द स्वामी, क्षीर स्वामी आदि प्रमुख रहे हैं[११]; उसी प्रकार यास्क के निरुक्त पर भी अनेक विद्वानों ने टीका की हैं, जिनमें एक मैथिल दररुचि भी हैं। वररुचि, वैयाकरण वररुचि से भिन्न और अर्वाचीन हैं । इतना ही नहीं, एक दूसरे मैथिल भास्कर मिश्र (जिनका समय १५ वीं - १६ वीं शताब्दी या उसके भी बाद माना जाता है) ने देवराज यज्वा के भाष्य पर एक सुन्दर सा उपभाष्य लिखा था — जिसका उल्लेख कई स्थानों से प्राप्त होता है । निरुक्त के क्षेत्र में म.म. मुकुन्द झा वख्शी के योगदान को भी कभी मिथिला भुला नहीं सकती, जिन्होंने दुर्गाचार्य की वृत्ति के आधार पर एक विलक्षण संस्कृत टीका लिखी है और जो बम्बई के निर्णय सागर प्रेस से प्रकाशित भी है ।

सारांशतः मुझे यही लगता है कि जिस प्रकार पाणिनि ने अपनी अद्वितीयता के बल पर अपने से पूर्ववर्ती सभी व्याकरणों व वैयाकरणों को विस्मृत करा दिया, ठीक उसी प्रकार यास्क ने भी अपने पूर्ववर्ती सभी निरुक्तों, निरुक्तकारों को भुला दिया है ।

छन्दः शास्त्र

'छन्द' शब्द की निष्पत्ति करते हुए व्याकरण शास्त्र कहता है कि 'छन्दयति पृणाति रोचते इति छन्दः' अर्थात् अतिप्रिय लयबद्ध रुचिकर वाणी ही छन्द है । अथवा 'छन्दयति आह्लादयति छन्द्यन्तेऽनेन वा छन्दः' अर्थात् आह्लादित व प्रफुल्लित करने वाली छन्दोमयी वाणी ही छन्द है । इन्हीं बातों को वेद और वैदिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में कहा जाता है कि जो आसुरी विघ्न-बाधाओं से यज्ञादि कर्म-अनुष्ठानों की रक्षा करे, वही

'छन्द' है — "छादयति मन्त्र प्रतिपाद्ययज्ञादीन् इति छन्दः" । यास्क ने भी अपने निरुक्त में इसी बात को स्वीकार किया है और लिखा है कि — "मन्त्रा मननात्, छन्दांसि छादनात्, स्तोत्र स्तवनात्, यजुः यजते" अर्थात् मंत्रों का अर्थ मनन करना है, छन्दों का विषय छादन करना, स्तोत्रों का काम स्तुति करना और यजुओं का यजन करना है। जब कि अपनी सर्वानुक्रमणी में कात्यायन ने अक्षर परिमाण को ही 'छन्द' माना है — "यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः" ।

वैदिक संहिताओं का अधिकांश भाग छन्दोबद्ध है, अतः उसके उच्चारण के लिए छन्दों का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। छन्द शब्द का अर्थ 'आवरण' होता है, अर्थात् जो शब्दों का आवरण हो, वही छन्द है। वस्तुतः छन्द आसुरी शक्तियों से वेद को और वैदिक क्रियाओं को ढाल बनकर रोकता है, तभी तो कहा गया है कि — "दक्षिणतोऽसुरान् रक्षांसि त्वष्ट्रान्यपहन्ति त्रिष्टुब्जिर्वज्रतो वै विष्टुप्" अर्थात् यज्ञकाण्ड की दक्षिण परिधि में छन्द त्रिष्टुप् स्वरूप है, विष्टुप् वज्र सदृश है, जो विघ्नोत्पादक असुरों का विनाश करता है। परन्तु बाद में यह 'छन्द' पद वेदार्थक हो गया, जैसा कि पाणिनि ने कहा है — "बहुलं छन्दसि" । तात्पर्य है कि वैदिक साहित्य में छन्दों के सामान्य नियमों का अभाव रहा है, फलतः वहाँ व्याकरण-विरुद्ध पद भी प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे ही अनियमित एवं असंगत प्रयोगों को 'छान्दस' अथवा 'आर्ष प्रयोग' कह कर उसकी आलोचना से बचा जाता है।

छन्दोबद्ध वेद मंत्रों की शुद्धता और गेयता किंवा लयबद्ध गति-यति के ज्ञानार्थ छन्दः शास्त्र की आवश्यकता पड़ी। 'छन्द' वेदरूपी शरीर का पाद है — "छन्दः पादौ तु वेदस्य" । जैसे कोई व्यक्ति बिना पैर का एक कदम आगे नहीं जा सकता, ठीक उसी प्रकार विना छन्दोज्ञान का कोई भी व्यक्ति वेदमंत्र के उच्चारण और उसके समुचित पाठ की दिशा में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता, अतः इसका ज्ञान होना सुतरां आवश्यक है। कात्यायन ने सही ही लिखा है कि जो व्यक्ति छन्द, ऋषि एवं देवता के ज्ञान के विना वैदिक मंत्र का अध्ययन-अध्यापन,

यजन-याजन आदि करता है, उसका सबकुछ व्यर्थ हो जाता है। इसी सब को दृष्टि में रखकर हमारे ऋषि-मुनियों ने बाद में छन्दों के परिज्ञान के लिए पृथक्- पृथक् ग्रन्थों की रचना की। परन्तु पहले इस पर पृथक् ग्रन्थ न होकर प्रातिशाख्य या कल्पसूत्रों में एक या दो अध्याय अथवा कोई भाग ही हुआ करता था। इन्हीं प्रातिशाख्य ग्रन्थों में वैदिक छन्दों पर सर्वप्रथम सामग्री प्राप्त होती है। अष्टाध्यायी के गणपाठ (४/३/७३) में भी छन्दः शास्त्र के जो चार (छन्दों बिजिनी, छन्दो विचिती, छन्दोमान तथा छन्दोभाषा) पर्याय बताये गये हैं, उनमें चतुर्थ 'छन्दोभाषा' का प्रयोग प्रातिशाख्य के लिए ही हुआ है। जब कि महाभाष्य (१/२/३२) में भी भगवान् पतञ्जलि छन्दः शास्त्र से प्रातिशाख्य अर्थ ही ग्रहण करते हैं।

परन्तु प्रातिशाख्य से भिन्न छन्दः शास्त्र के लिए आवश्यकता इसलिए भी पड़ी कि प्रातिशाख्यों का मुख्य विषय व्याकरण था, जहाँ वैदिक छन्दों पर विचार मात्र एक भाग के रूप में हुआ था। उदाहरण स्वरूप ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अन्तिम तीन अध्यायों में वैदिक छन्दों पर प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त सामवेद के निदान सूत्र, शांखायन के श्रौतसूत्र (७/२७), सर्वानुक्रमणी[१२] आदि में भी एक - एक 'भाग' देकर छन्दों पर विचार किया गया है। तथापि इस दिशा में पिङ्गलाचार्य के 'छन्दःसूत्र' को ही विद्वानों ने वेदाङ्ग छन्द का प्रथम और स्वतन्त्र ग्रन्थ स्वीकार किया है, इसीको प्रतिनिधि ग्रन्थ स्वरूप माना है। स्मर्त्तव्य है कि इसमें ऐसे भी छन्दों का विचार किया गया है, जो कि काव्यों में प्रयुक्त हुए हैं। परन्तु प्रथम से लेकर चतुर्थ अध्याय पर्यन्त वैदिक छन्दों का ही विवेचन हुआ है।

वैदिक छन्दों में ह्रस्व, दीर्घ किंवा लघु-गुरु का नियम नहीं होता, वहाँ अक्षरों की गणना ही मुख्य होती है। यास्क प्रणीत निरुक्त के सप्तम अध्याय में छन्दों का निर्वचन भी आया है। वेद में अनेक छन्द हैं, किन्तु प्रधान छन्दों की संख्या मात्र १७ ही है — गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संस्कृति, अभिकृति और उत्कृति। इनमें प्रत्येक छन्द

के उच्चारण की विधि भी अलग - अलग है। विना सविधि उच्चारण से न तो वेद मंत्र का महत्त्व है और न अभीष्ट फल की प्राप्ति ही।

लौकिक छन्दों का विकास भी इन्हीं उपर्युक्त वैदिक छन्दों से हुआ है। ऐसे छन्दों का परिचयात्मक एवं विवरणात्मक ग्रन्थ प्राचीन काल में बहुत सारे लिखे गये, पर उनमें आज एक भी उपलब्ध नहीं होता। हाँ, धनराज पण्डित के द्वारा कुछ का उल्लेख जरूर मिलता है; जिनमें मुख्य है — (१) विष्णुसूत्र — इसमें पच्चीस हजार पद्य थे। (२) छन्दो रहस्य — इसमें १६००० सोलह हजार पद्य थे। (३) छन्द-प्रभाकर, जिसमें १२००० पद्य थे। (४) छन्द प्रवेश, इसमें ३२००० श्लोक थे। इन सबके अतिरिक्त सर्वाधिक लघुकाय ग्रन्थ था 'छन्दोरत्नाकर', जिसमें सात हजार श्लोक थे और एक लाख बत्तिस हजार श्लोकों वाला 'छन्दोर्णव' इस क्षेत्र का सर्वाधिक विशालकाय ग्रन्थ माना जाता था।

छन्दशास्त्र का निर्माण स्वयं देवाधिदेव महादेव ने किया है, उन्हीं से इस शास्त्र का अध्ययन देवगुरु वृहस्पति ने किया, फिर वृहस्पति से इन्द्र को और इन्द्र से माण्डव्य को इसका ज्ञान मिला। इसी प्रकार छन्दः शास्त्र की परम्परा भगवान् पिंगल तक आयी और उन्हींके नाम से इसकी प्रसिद्धि हुई। पिंगलाचार्य से पहले छन्दःशास्त्र की सत्ता विद्यमान थी, जिसका प्रमाण स्वयं पिंगलाचार्य के 'छन्दःसूत्र' (२/२९) से मिलता है। इसमें उन्होंने सात पूर्ववर्ती सूत्रकारों को उद्धृत भी किया है और वे हैं — क्रौष्टुकि, यास्क, ताण्डी, सैतव, काश्यप, रात और माण्डव्य। इनमें कुछ का उल्लेख उत्पलभट्ट कृत बृहत्संहिता-विवृति में भी हुआ है और कुछ का वृत्तरत्नाकर में। परन्तु यहाँ यह भी अवधेय है कि ये पिंगलाचार्य भगवान् पाणिनि के छोटे भाई और वर्ष उपाध्याय के शिष्य थे।[१३]

ज्योतिर्विज्ञान अथवा ज्योतिष

ज्योतिष वस्तुतः एक साईन्स है, एक दर्शन है, जिसके सम्बन्ध में कहा गया है कि— "संपूर्ण जगत् और उसकी घटनाएँ नक्षत्र जगत् पर

अवलम्बित हैं। नक्षत्रों की गति, स्थिति एवं संयोग ही संसार के समस्त रूपों, क्रियाओं तथा गुणों के कारण हैं। भावों की जो अभिव्यक्ति पृथ्वी पर क्रिया और पदार्थ के रूप में है, वही समष्टि में नक्षत्रों के रूप में है। प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक आकृति पूर्वनिश्चित है। अवश्य ही उसमें स्थित जीव बदलता रहता है। सभी आकृतियाँ, क्रियाएँ, शब्दादि नित्य हैं। उनका बड़ावर आविर्भाव, तिरोभाव होता रहता है। इस प्रकार संसार का इतिहास अपने को बार - बार ज्यों का त्यों दुहराता है। प्राणी के कर्म संकल्पपूर्वक ही होते हैं। संकल्प ही कर्म का कारण है। संकल्प भावस्तरों की अभिव्यक्ति है। यही भाव सारे ग्रहों के भी संचालक हैं। अतः कर्म सदा ग्रहों के अनुसार ही होंगे। प्रारब्धवाद और ज्योतिष में कोई भेद नहीं है। मनुष्य का कर्म उसे फल देने में स्वयं समर्थ है"[१४]। यह ज्योतिष विज्ञान अदृष्ट सत्यों को मूर्त्तरूप में खड़ा कर देने वाला शास्त्र है, जो न केवल वेदचतुष्टय का सहायक और रक्षक है, वल्कि मानव जीवन का भी अनिवार्य और समादृत अंग है। हजारों वर्ष ईसा पूर्व से ही ज्योतिष विद्या वेदाङ्गों में परिगणित होती आयी है। नक्षत्र, तारकों की गतियों के विज्ञान को वेद का नेत्र कहा जाता है और यह विज्ञान ऋग्वेद एवं यजुर्वेद का अंग है। इसी प्रकार तंत्र भी ज्योतिष का ही एक परम मुख्य अंग है।

मानव कल्याण की जो भावना वेदों किंवा वैदिक साहित्यों में सन्निहित है, उसकी रक्षा और पूर्त्ति ज्योतिषशास्त्र के बिना न केवल कठिन है, वल्कि असम्भव भी है। ऐहिकसुख और पारलौकिक मोक्ष के लिए मानव को तंत्र-मंत्र-यंत्र के सहारे यज्ञानुष्ठान तक जाने का ज्योतिष एक सोपान भर है। यज्ञानुष्ठान की सफलता के लिए उसका समारम्भ एवं समाप्ति अनुकूल ग्रहकाल को देखकर ही किया जाय — यह नितान्त आवश्यक है और इस आवश्यकता की पूर्त्ति ज्योतिष विज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। व्यक्ति, परिवार, समाज और देश के कल्याणार्थ हमारे पूर्वज ग्रह पूजन पर विशेष बल दिया करते थे, जो व्यष्टि में समष्टि को और समष्टि में व्यष्टि को देखा करते थे — ऐसी दृष्टि और ऐसा बल देने व दिखाने वाला एक मात्र शास्त्र ज्योतिष है। यज्ञ के सफल सम्पादन के

लिए, 'अथ' से 'इति' तक की सफलता के लिए ही ज्योतिष शास्त्र की कल्पना की गयी —

"वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं काल विधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान् ।।"

मानव जीवन की विभिन्न पहलुओं में ज्योतिष की भागीदारी यह सिद्ध करती है कि यह शास्त्र मानवीय धरातल पर सर्वाधिक मुख्य ही नहीं, अपरिहार्य भी है। यहाँ तक कि ग्रहण का अध्ययन, पृथ्वी की परिभ्रमण-गति, दशमलवपद्धति का विचार और अणुवादी विचारधारा जैसे वैज्ञानिक विषयों का जन्म भी यहीं से प्रारम्भ होता है। यही कारण है कि वेद के षडङ्गों में सर्वोपरि स्थान ज्योतिष का ही माना गया —

"यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्ध्नि संस्थितम् ।।"

यदि गणित की गणना ठीक है तो मानव जीवन से सम्बन्धित सारी घटनायें भी सही होंगी; क्यों कि जन्म कुण्डली का निर्माण विना गणित से सम्भव नहीं है। यह ज्योतिष की हो माया थी कि इक्ष्वाकुवंशीय नरेश हरिश्चन्द्र, रामचन्द्र और धर्मावतार युधिष्ठिर तक को भी यातना झेलनी पड़ी। बलि, बालि, पृथु, परीक्षित कोई भी ज्योतिष की ग्रह-माया से बच नहीं पाये। और तो और सूर्यदेव का शापग्रस्त होकर, यवन जाति में जन्म लेना (एवं रोमक सिद्धान्त को जन्म देना), चन्द्रमा पर कलङ्क की छाया पड़ना, भगवान् विष्णु का क्षीर सागर में सोना, शिवजी का श्मशान में मशान साधना करना सब ज्योतिष विद्या का ही प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव रहा है।

जन्म से मृत्यु पर्यन्त मानव जीवन में 'अवबोध' एक अनिवार्य तत्त्व है, चाहे वह वाचाल हों या गूँगा, अन्धा हो या द्रष्टा, अपाहिज हो या स्वस्थ। प्रत्येक मनुष्य अवबोध पर ही जीता है; जिसके तीन करण होते हैं — स्पर्शबोध, दृग्बोध और कल्पना बोध। इसके साथ - साथ भारतीय मनीषा ने एक अतीन्द्रिय आध्यात्मिक दिव्य प्रज्ञा को भी

अवबोध की कोटि में रक्खा है। वैज्ञानिकों ने स्पष्ट माना है कि गोल, भूगोल और खगोल इन्हीं अवबोधों से उत्पन्न गणितीय व्यवहार के प्रयोगसिद्धतत्त्व हैं। इन्हें ही क्रमशः स्फेयर (Sphere), ज्योग्राफी (Geography) तथा सिलेस्टीयल स्फेयर (Celestial Sphere) के नाम से जाना जाता है। मानव जिस पृथ्वी पर रहता है, उसकी आकृति और उसका यथार्थ स्वरूप का ज्ञान भले ही हमें आज उपग्रहों द्वारा प्राप्त चित्र से ही हुआ या होता हो, पर भूभ्रमण का जो सिद्धान्त ५ वीं श. में महर्षि आर्यभट्ट ने निरूपित किया था, उसीको १५ वीं श. में पोलैण्ड निवासी कोपर्निकस ने प्रतिपादित किया। साथ ही उसी आधार पर १७ वीं श. में केप्लर (Cepler) साहब ने तीन सूत्रों के द्वारा पृथ्वी की गति का निर्द्धारण किया था।

यह मानवीय स्वभाव है कि वह स्वस्थान पर बैठकर ही सब कुछ देखना व जानना चाहता है। ग्रहों के उदय, अस्त, युक्ति, ग्रहण, समगामिता, वक्रगामिता इत्यादि का महत्त्व भी तभी होता है, जब द्रष्टा उसे अपने स्थान पर प्रत्यक्ष देखता हो। ज्योतिषशास्त्र के प्रारम्भिक काल से ही स्वकेन्द्रित और भूकेन्द्रित प्रेक्षण की अवधारणा चली आ रही है। पृथ्वी को स्थिर केन्द्र मानकर आकाशीय पिण्डों की परिगणना करना मानव का संस्कारजन्य सहज बोध है।

प्राचीन काल में मनुष्यों को काल-दिशा आदि के ज्ञान सम्बन्धी जिज्ञासा ने ही ज्योतिष को जन्म दिया। धीरे - धीरे उसने दिन-रात-पक्ष-मास-वर्ष-अयन आदि के रहस्यों को भी जाना। गणकतरंगिणी[१५] के अनुसार ज्योतिर्विद्या के १८ प्रवर्त्तक हुए हैं — सूर्य, पितामह, व्यास, वसिष्ठ, अत्रि, पराशर, कश्यप, नारद, गर्ग, मरीचि, मनु, अंगिरा, लोमश, पोलिश, च्यवन, यवन, भृगु और शौनक। इन सभी ऋषियों व प्रवर्त्तक आचार्यों की अपनी- अपनी शिष्य परम्परा चली, जिससे ज्योतिष की ज्योति पूरे विश्व में फैली।

यज्ञानुष्ठान की सफलता के लिए यज्ञ का अनुकूलग्रह-स्थिति के आधार पर आरम्भ और समापन अनिवार्य था और ग्रहों के अनुकूल-

प्रतिकूल ज्ञान का साधन मात्र ज्योतिष ही था। अतः इसे वेदाङ्ग के रूप में मान्यता दी गयी। वेद की प्रवृत्ति यज्ञ सम्पादन के लिए उसके समय विशेष की अपेक्षा के लिए ज्योतिष को वेदांग के रूप में रक्खा गया। तिथि, नक्षत्र, पक्ष, मास, ऋतु, संवत्सर आदि काल के समस्त खण्डों के साथ यज्ञों का निर्देश वेदों में पाया जाता है और इसी यज्ञ भाग के विभिन्न विधानों के यथार्थ निर्वाह के लिए ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान अपरिहार्य है। वेदाङ्ग ज्योतिष के कर्त्ता महात्मा लगध का यह मानना है कि जो ज्योतिष के महत्त्व को भलीभाँति जानता है, वही यज्ञ का यथार्थ ज्ञाता है। इनके परवर्ती भास्कराचार्य ने भी इसे स्वीकार किया है। वेदांग ज्योतिष के रूप में आज दो ही ग्रन्थ पाये जाते हैं, जिनमें 'आर्चज्योतिष' ऋग्वेद से और 'याजुषज्योतिष' यजुर्वेद से सम्बद्ध है। आर्च ज्योतिष में कहा गया है — "प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य सरस्वतीम्। कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः ॥"

महात्मा लगध का 'वेदाङ्गज्योतिष' एक छोटा सा पद्यात्मक ग्रन्थ है, जिसमें २७ नक्षत्रों, नक्षत्रों की गणना सम्बन्धी नियम एवं नक्षत्रों के बीच नवग्रहों की स्थिति पर सम्यक् विचार किया गया है।

एक 'अथर्वज्योतिष' ग्रन्थ भी पाया जाता है, जो फलादेश की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और १६२ श्लोकों वाला है। अन्य ग्रन्थों में लघुवाशिष्ठ सिद्धान्त, रोमक सिद्धान्त, पौलिश सिद्धान्न, सूर्यसिद्धान्त आदि मुख्य हैं। वेद और वैदिक साहित्य में ज्योतिष विषयक ज्ञान और उसके पारिभाषिक शब्द तथा उसका परिचय भरा पड़ा है। तात्पर्य है कि ज्योतिर्विज्ञान विषयक प्रचुर सामग्री उसमें विखड़ी पड़ी है।

छान्दोग्योपनिषद्[१६] के अनुसार महर्षि नारद जब सनत्कुमार के पास ब्रह्मविद्या के ज्ञानोपार्जन हेतु गये तो सनत्कुमार ने उनसे पूछा था कि अब तक आपने कौन- कौन सी विद्या पढ़ी है ? इस पर नारदजी ने अधीत विद्याओं में नक्षत्र विद्या (ज्योतिष) और राशिविद्या (गणित) का भी नाम लिया था। अतः इस शास्त्र की प्राचीनता और महत्ता को सहज ही आँकी जा सकती है। और तो और व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध होने के कारण जैसे- जैसे मनुष्य ने उन्नति की और उसका कार्यक्षेत्र बढ़ा, वैसे- वैसे ज्योतिष का विकास भी होता चला गया।

विमानविद्या, वायसशास्त्र, वारिशास्त्र आदि कभी पहले ज्योतिष के ही अंग हुआ करते थे, जो आज अलग- अलग शास्त्र के रूप में परिणत हो रहे हैं। विमानविद्या का प्रथम ग्रन्थ है पराशर ऋषि का 'पाराशर्यकल्प', फिर बाद में महर्षि भरद्वाज ने 'यंत्रसर्वस्व' बनाया, जिसका 'वैमानिक प्रकरण' 'विमानशास्त्र' के नाम से प्रकाशित है। इसमें कई प्राचीन अन्य सम्बद्ध ग्रन्थों का भी उल्लेख हुआ मिलता है।

ज्योतिष शास्त्र को सर्वप्रथम गणित और फलित रूपों में ही स्वीकार किया गया था, जो बाद में स्कन्धत्रय के नाम से कहा जाने लगा — सिद्धान्त, संहिता और होरा। सम्प्रति यह विभाजन पञ्चात्मकरूप (होरा, गणित, संहिता, प्रश्न और निमित्त) ले चुका है। आज के ज्योतिष का क्षेत्र और भी विस्तृत होकर जीव विज्ञान, पदार्थ विज्ञान, रसायन विज्ञान और चिकित्सा विज्ञान आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित हो चुका है। इनका एक- एक विषय मानव जीवन के विभिन्न अवसरों से सम्बन्धित है। उदाहरण स्वरूप तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करण से बने पञ्चाङ्ग के आधार पर ही शुभ समय निश्चित किया जाता है। इन पाँचों का परिचय और इन्हीं पाँचों के आपस में मिलने से अनेक शुभ अथवा अशुभ फल देने वाले समय प्राप्त होते हैं, जिनका ज्ञान रखना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य बनता है।

ज्योतिष विज्ञान में माघ, फाल्गुन आदि मासों के नाम नक्षत्रों के ही आधार पर रक्खे गये हैं, जिन नक्षत्रों के नाम भी सार्थक हैं। प्रत्येक नक्षत्र के नाम के पीछे न केवल सार्थकता है, वल्कि अनुश्रुतियाँ भी जुड़ी हुई हैं। उदाहरणार्थ जैसे- आर्द्रा को ही लें, जिसका अर्थ होता है भींगा हुआ -आर्द्र, जब सूर्य का इसमें प्रवेश होता है तो वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। अतएव यह नक्षत्र भींग जाने के कारण 'आर्द्रा' कहलाया। भूमि में पड़े हुए धान्य आदि के बीज पुनर्वसु नक्षत्र में अङ्कुरित हो जाते हैं, जिससे पुनः वसु उत्पन्न होता है। पुष्य में ये बढ़ते व पोषित होते हैं। आश्लेषा में ये बढ़कर एक-दूसरे का आलिङ्गन करते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक नक्षत्र के पीछे कुछ न कुछ सार्थक अनुश्रुतियाँ हैं हीं, जिस आधार पर उसका नामकरण हुआ है। माह और दिन के सम्बन्ध में भी ऐसा ही

बोध्य है।

मानव जीवन से सम्बद्ध प्रत्येक घटना ही नहीं, वल्कि भूशोधन, दिक्शोधन, शल्योद्धार, मेलापक, आयाद्यानयन, गृहोपकरण, इष्टिका द्वार, गेहारम्भ, गृहप्रवेश, मुहूर्त्तगणना, उल्कापात, अतिवृष्टि, ग्रहों का उदय-अस्त, ग्रहण का विचार एवं फल भी ज्योतिष ही बताता है। प्रश्नाक्षर, प्रश्नलग्न, स्वरज्ञान की विधि, शकुन विचार, शुभाशुभों का फल विवेचन, जातकविचार, जन्म कुण्डली निर्माण, सौर-चान्द्रमान का प्रतिपादन, कालगणना, ग्रह-गतियों का निरूपण, प्रश्नोत्तर विवेचन, अक्षक्षेत्र सम्बन्धी अक्षज्या, लंबज्या, द्युज्या, कुब्जा, तद्धित, समशंक प्रभृति विषयों का निरूपण भी यही ज्योतिष विद्या करती है। भारत में ज्योतिः शास्त्र की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और वैदिक वाङ्मय में भी इसका अस्तित्व सर्वत्र प्राप्त होता है। आगे चलकर यज्ञों के विधि-विधान में ऋतु, अयन, दिनमान एवं लग्न के शुभाशुभ पर विचार करने के लिए इसका विकास हुआ। यह विकास इतना हुआ कि डॉ. गौरीशंकर ओझा की यह बात सर्वथा अकाट्य लगती है कि — “भारत ने अन्य देश वासियों को जो अनेक बातें सिखायी, उनमें सबसे अधिक महत्त्व अंकविद्या का है। संसार भर में गणित, ज्योतिष, विज्ञान आदि की जो आज उन्नति पायी जाती है, उसका मूलकारण वर्त्तमान अंक क्रम ही है, जिससे १ से ९ तक के अंक और शून्य इन १० चिन्हों से अंक विद्या का सारा काम चल रहा है। यह क्रम भारतवासियों ने ही निकाला और उसे सारे संसार ने अपनाया[१७]। दूसरे शब्दों में यदि कहा जाय तो, दैनन्दिन व्यवहार में आनेवाला ‘अङ्क’ ज्योतिष की ही देन है। शून्य से प्रारम्भ एवं १ से ९ तक की संख्या अङ्क विद्या का सोपान है, जिस सोपान पर नित्य प्रति मानव जाता और आता है। फलतः यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि ज्योतिष शास्त्र मानव जीवन के हर क्षण रहने वाला ऐसा शास्त्र है, जिसकी अनुपस्थिति मानव जीवन काल में सम्भव नहीं। वह किसी न किसी रूप में, पक्ष या विपक्ष में भी सही, हर मानवीय स्वास के साथ उपस्थित रहता आया है। इसी कारण विद्वानों ने इसे (ज्योतिष विद्या को) ज्योति (नेत्र) वेदाङ्ग माना है और नेत्रवत् ही इसे

मानव के लिए भी अनिवार्य कहा है — "ज्योतिषामयनं चक्षुः।"

"ज्योतिषां सूर्यादिग्रहाणां बोधकं शास्त्रम्" — अर्थात् ज्योतिष शास्त्र से सूर्यादि ग्रहों एवं काल का बोध होता है। 'भारतीय ज्योतिष' पुस्तक के अनुसार इसमें प्रधानतः ग्रह, नक्षत्र, धूमकेतु आदि ज्योतिः पदार्थों का स्वरूप, संचार, परिभ्रमणकाल, ग्रहण और स्थिति प्रभृति समस्त घटनाओं का निरूपण एवं ग्रह, नक्षत्रों की गति, स्थिति और संचारानुसार शुभाशुभ फलों का कथन किया जाता है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

'भारतीय ज्योतिष' में डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि ज्योतिष विद्या का प्रकाश भारत से ही विश्व में फैला है। डॉ. श्यामशास्त्री ने भी अपने 'वेदाङ्गज्योतिष' की भूमिका में यह सिद्ध किया है कि अयन, मलमास, क्षयमास, नक्षत्रभेद, सौरमास, चान्द्रमास प्रभृति ज्योतिष सम्बन्धी विषय वेदों के ही समान प्राचीन हैं। यही 'वेदाङ्ग ज्योतिष' (महात्मा लगधकृत) इस शास्त्र का आदि ग्रन्थ कहलाता है, जिसे संग्रह ग्रन्थ के रूप में ही मान्यता मिली है और इसका रचना काल ई.पू. ५८० कहा जाता है। परन्तु लोकमान्य तिलक ने इसका रचना काल १२००-१४०० ई. पू. के मध्य माना है। जो भी हो, इसके बाद ज्योतिष का पर्याप्त विकास हुआ और अनेकों ऋषि महात्माओं ने इस शास्त्र में रचनाएँ की, इसमें सन्देह नहीं।

पूर्वमध्यकाल ज्योतिष शास्त्र के संवर्द्धन का युग रहा है। इसी युग में होरा, सिद्धान्त, संहिता प्रभृति ज्योतिष के अंगों तथा बीजांक रेखा शास्त्र (बीजगणित, अंकगणित, रेखागणित) एवं फलित ज्योतिष का अद्भुत विकास हुआ। ज्योतिषशास्त्र का उत्तर मध्यकाल व्याख्या, आलोचना और मौलिक ग्रन्थ लेखन का युग रहा। इस युग में अनेक नवीन आविष्कार हुए, जिनमें गोलगणित, केन्द्राकर्षिणी, केन्द्राभिचारिणी आदि क्रियात्मक शक्तियाँ प्रसिद्ध हैं। सूर्य को गतिशील तथा पृथ्वी को स्थिर भी इसी युग में माना गया। राजवंश सहाय 'हीरा' के मत में इसी युग में मिथिला नरेश लक्ष्मणसेन के पुत्र बल्लालसेन (?) ने 'अद्भुत

सागर' नामक ८ हजार श्लोकों बाला ग्रन्थ लिखा, जिसमें पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के सिद्धान्तों का संग्रह है।[१८] आचार्य वाचस्पति गैरोला ने भी संस्कृत साहित्य के इतिहास[१९] में लिखा है कि मिथिला नरेश लक्ष्मणसेन के पुत्र बल्लालसेन ने राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद ११६४ ई. में 'अद्भुत सागर' नामक ग्रन्थ की रचना की थी, जो एक संग्रह ग्रन्थ है और जिसमें पूर्ववर्ती सभी ज्योतिर्विदों के सिद्धान्त संग्रहीत हैं। इसकी श्लोक संख्या लगभग ८ हजार है। स्मरणीय है कि बल्लालसेन लक्ष्मणसेन के पिता थे, न कि पुत्र। अपर कालिदास, गंगाधर, लक्ष्मीदास, बलभद्र मिश्र आदि मैथिल भी इसी युग के ग्रन्थकार हैं।[२०]



१. पा. शि. २५ ।
२. शान्तिपर्व, ३४२/१०४ ।
३. अष्टाध्यायी - ८/४/६७ ।
४. शिक्षा सुधा (सं. त्रैमासिकी, पुरी, मार्च-२००४), लेखक का लेख - भारतीय शिक्षाशास्त्र । तथा - याज्ञवल्क्य शिक्षा (भूमिका) - लेखक की निर्मला हिन्दी व्याख्या सहित, चौखम्बा ओरियण्टालिया, वाराणसी, १९८९ ।
५. ऋक् प्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति, विष्णुमित्र ।
६. ऐतरेय ब्राह्मण ८/२६, महाभाष्य - १/१/१ ।
७. व्याकरण सम्बन्धी कुछ और भी विषय, इसी पुस्तक के पृ. - १३० से पृ. - १३९ तक द्रष्टव्य है – लेखक ।
८. म.भा. मोक्षधर्म पर्व, अ. ३४२, श्लो. ८६-८७ ।
९. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग - १, खण्ड - २ ।
१०. गंगा, वेदाङ्क, प्रवाह - २, तरंग - २, पृ. - ७० ।
११. सायण कृत ऋ. भा. भू. के आधार पर ।
१२. कात्यायन की दो 'छन्दोऽनुक्रमणी' प्रसिद्ध है ।
१३. कात्यायन कृत ऋक् सर्वानुक्रमणी के वृत्तिकार षड्गुरुशिष्य द्वारा वेदार्थदीपिका के पृ. १९७ में उद्धृत, पाणिनि शिक्षा के शिक्षाप्रकाश व्याख्या, व्या. शा. का इतिहास, युधिष्ठिर मीमांसक, पृ. - १३२ ।
१४. कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक, पृ. - २८८ ।

१५. सुधाकर द्विवेदी, पृ. - १२ ।

१६. ७/१/२/४ ।

१७. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति ।

१८. संस्कृत साहित्य कोश, पृ. १९१ ।

१९. पृ. - ५८३ ।

२०. भारतीय ज्योतिष का इतिहास (डॉ. गोरखप्रसाद), भारतीय ज्योतिष (डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री) एवं भारतीय ज्योतिष (शंकर बालकृष्ण दीक्षित) – हिन्दी अनुवाद के आधार पर ।

पंचम पीठिका

उपवेद

जिस प्रकार से वेदों की शाखा, संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक आदि पृथक्- पृथक् हैं, उसी प्रकार से उनके एक- एक 'उपवेद' भी माने गये हैं। परन्तु इन उपवेदों का वेद के साथ कहीं तो परिगणन होता है और कहीं नहीं भी। अतः शाखा-संहिता-ब्राह्मण आदि की भाँति 'उपवेद' को सभी जगह वैदिक साहित्य में स्थान नहीं दिया गया है। परन्तु हमने इसे यहाँ उपवेद के रूप में स्वीकार कर ग्रहण किया है। 'भारतीय संस्कृति का विकास' नामक अपने ग्रन्थ में डॉ. मङ्गलदेवजी ने लिखा भी है कि "वैदिकधारा की साहित्यिक देन और प्रभाव का क्षेत्र उसके अपने वाङ्मय से ही परिमित नहीं है। वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त भी संस्कृत साहित्य का जो महान् विस्तार हुआ है, उस पर भी साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप से वेदों का तथा वैदिक धारा का महान् प्रभाव पड़ा है; उदाहरणार्थ — आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र — ये चार उपवेद माने जाते हैं।" उपवेद शब्दों से ही इनका वैदिक आधार या सम्बन्ध स्पष्ट है। प्राचीन परम्परा के अनुसार भी इन उपवेदों का क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के साथ सम्बन्ध माना जाता है। अर्थात् चारों वेदों का अपना एक- एक उपवेद निश्चित या निर्धारित है। जैसा कि 'शौनकोत्तरचरणव्यूह' में कहा गया है — "ऋग्वेदस्यायुर्वेदोपवेदो यजुर्वेदस्य धनुर्वेदोपवेदः। सामवेदस्य गन्धर्ववेदोपवेदोऽथर्ववेदस्य अर्थशास्त्राणि इति"। इन उपवेदों में धनुर्वेद एवं गान्धर्ववेदों में मिथिला का क्या योगदान रहा हैं, अनुसन्धान अपेक्षित है, परन्तु आयुर्वेद और अर्थशास्त्र में कमोवेश ही सही, कुछ न कुछ योगदान अवश्य है, जिसकी चर्चा आगे करेंगे।

आयुर्वेदादि परमलोकप्रिय और जीवनोपयोगी शास्त्रों की चर्चा और सम्मान न केवल सांख्य, योग, वेदान्तादि दर्शनों में ही प्रदर्शित हैं, अपितु वेद, पुराण और स्मृति ग्रन्थों में भी इनका आदर और प्रभाव देखे

जा सकते हैं। प्रायः इसीलिए आयुर्वेद के साथ - साथ धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद (यानि अर्थशास्त्र) को उपवेद मान लिये गये हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पारलौकिक जीवन की सर्वार्थसिद्धि जहाँ वेदों में वर्णित हैं; वहीं ऐहिक जीवन की पूर्णता का समग्र साधन उपवेदों में ही प्रदर्शित हुए हैं।

आयुर्वेद — आयु सम्बन्धी वेद ही आयुर्वेद पदवाच्य है, अर्थात् वह शास्त्र जिसमें प्राणीमात्र के आरोग्य रहने के उपाय उपवर्णित हों, रोगों के प्रतीकार उपदर्शित हुए हों — वही आयुर्वेद है। "शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्", "आयुर्घृतम्" — आदि कई ऐसे वाक्य हैं; जिनसे शरीर रक्षा को अत्युच्च कहा गया है और इस शरीर रक्षा का कार्य आयुर्वेद ही करता है।

शरीरविज्ञान की विधि बताने वाला यह उपवेद (आयुर्वेद) इतना प्राचीन है कि कहीं भी इसका स्पष्ट जन्म वृत्तान्त वर्णित नहीं है, सिबाय इसके कि अमुक ने इसका संग्रह और व्याख्यान किया है। दिवोदास, भारद्वाज, अश्विनीकुमार आदि सभी आचार्य या परमर्षियों का इसी क्रम में उल्लेख हुआ है।[१] इतनी प्राचीन परम्परावाले इस आयुर्वेद शास्त्र की उत्पत्ति कब हुई, इसका विकास कैसे हुआ कहना कठिन है।

वेदों में भी इसका वर्णन होने से आयुर्वेद अनादि और अपौरुषेय ही सिद्ध होता है। ब्रह्माजी तो इसके उपदेष्टा मात्र हैं; जिनकी प्रेरणा से वैद्यराज धन्वन्तरि काशिराज राजर्षि दिवोदास के रूप में जन्म ग्रहण कर सत्र-स्वभावानुकूल शल्य-शालाक्यादि चिकित्सा के प्रचारक बने। तथा महर्षि भारद्वाज भी अपने ब्राह्मण स्वभावानुकूल शारीरवनौषधि संवलित वैद्यकशास्त्र के उपदेश करने में लग गये। कालान्तर में दिवोदास प्रतिपादित धन्वन्तरि सम्प्रदाय 'सुश्रुत' के नामसे और भारद्वाज सम्प्रदाय 'आत्रेय' के नामसे जाना जाने लगा। 'चरक' आत्रेय सम्प्रदाय का बड़ा प्रसिद्ध और प्रमुख ग्रन्थ है। परन्तु मानवीय बुद्धि और आयु के ह्रास को ध्यान में रखकर भगवान् ब्रह्मदेव ने इस आयुर्वेद को आठ अंगों में विभाजित किया, जिस कारण से इसे "अष्टाङ्ग सम्बलितं वैद्यकशास्त्रम्"

कहा गया है। सुश्रुत संहिता के अनुसार ये अष्टाङ्ग हैं क्रमशः — शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतंत्र, रसायन और वाजीकरण।[२] इन्हीं अंगों या तंत्रों को कालान्तर में ऋषि-मुनियों ने आवश्यकतानुसार बुद्धिगम्य बनाया। ऋषियों का यह कार्य अष्टाङ्गपूर्ण होता हुआ भी किसी एक अंग पर ही अधिक केन्द्रित रहा। यथा — आत्रेय पुनर्वसु ने जहाँ कायचिकित्सा पर अधिक बल दिया है, वहीं कश्यप ने केवल कौमारभृत्य पर। इसी प्रकार आचार्य धन्वन्तरि ने भिषक् क्रिया, शल्यचिकित्सा पर सर्वाधिक बल दिया है।

आयुर्वेद अर्थात् वैद्यकशास्त्र, निश्चय ही एक दर्शन है, दर्शनशास्त्र है, जो कर्म एवं प्रारब्ध को स्वीकार कर उसमें चिकित्सा के स्थान को निरूपित करता है। कुछ लोग आयुर्वेद को रसशास्त्र भी मानते हैं; इसे वे 'रसेश्वर' कहते हैं और रसशास्त्र को एक दर्शन के रूप में स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार रसेश्वर दर्शन की मान्यता है कि परमतत्त्व रसरूप है। शिव एवं पार्वती का वह मूलभाव स्थूल जगत् में पारद एवं अभ्रक रूप से व्यक्त है। पारद आनन्द की मूर्त्त अभिव्यक्ति है, पारद ही रस है। सृष्टि से पार करनेवाला होने से उसे पारद कहा जाता है। पारद की सिद्धि से शरीर जरा और मृत्यु पर विजय पा लेता है।[३]

धनुर्वेद — यजुर्वेदीय उपवेद धनुर्वेद अस्त्रवेद की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। भारत में चिरकाल तक यह विद्या शिक्षा का न केवल अंग बनी रही, वल्कि नित्य शिक्षण-अभ्यास का विषय भी थे। इसी कारण भारत में इस विद्या की इतनी उन्नत-दशा और उसका ऐसा विवरण प्राप्त होता है, जिससे भारतीय समाज अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करता है। परन्तु आज यह विद्या लुप्तप्राय सी हो गयी है।

धनुर्वेद में यद्यपि वे सभी अस्त्र-शस्त्र आ जाते हैं, जिससे प्राचीन काल में लड़ाई लड़ी जाती थी, युद्ध होता था। परन्तु धनुष को शत्रुओं की कामनाओं का विध्वंसक होने के कारण प्रतीक रूप में रखकर ही इस उपवेद का नामकरण 'धनुर्वेद' किया गया है। शब्दकल्पद्रुमकार भी लिखते हैं — "धनूंषि उपलक्षणेन धनुरादीन्यस्त्राणि विद्यन्ते ज्ञायन्तेऽनेनेति

धनुर्वेदः" । इस धनुष की सहायता से ही हमारे पूर्वज धरती पर अथवा युद्ध में विजय प्राप्त करते थे, इसकी ही सहायता से वे समग्र दिशाओं व विदिशाओं में वेगवती सेना को भी परास्त करते थे। यजुर्वेद में कहा भी गया है —

"धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः संत्रदो जयेम।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोत्रि धन्वना सर्वा प्रदिशो जयेम।।"
(२९/३९)

यह सत्य है कि यजुर्वेद में धनुर्विद्या का वर्णन अत्यन्त स्पष्ट और पर्याप्त है, पर ऋग्वेद काल में भी प्रधान अस्त्र धनुर्वाण ही था। 'शरपत्र' (सरपत) निर्मित 'विषधर' और 'अयोमुख' रूपी द्विविध वाणों का विशेष प्रयोग किया जाता था। इनमें 'विषधर' नामक शिलीमुख का अग्रभाग जहाँ शृंगयुक्त होता था, वहीं 'अयोमुख' का शूल ताम्र अथवा लौह-निर्मित हुआ करता था। भगवान् शंकर अपने त्रिशूलास्त्र से प्रसिद्ध हैं, पर वे धनुर्विद्या के कितने बड़े आचार्य थे, इसका प्रमाण ऋग्वेद से मिलता है — "अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्वेषे शरवे हन्त बाउ।[४]"

धनुर्वेद के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में विष्णुपुराण[५] में यद्यपि बहुत कुछ कहा गया है, जिनमें इसके प्रकार पर भी विचार प्राप्त होता है। विष्णुपुराण कहता है —

"चतुष्पादं धनुर्वेदं वेदे पञ्चविधं द्विज!।
रथतागाञ्चपृत्तीनां योधांश्चाश्रित्य कीर्त्तितम्।।
यन्त्रयुक्तं पाणिमुक्तं मुक्तसन्धारितं तथा।
असुक्तं वाद्धयुद्धञ्च पञ्चधा तत्प्रकीर्त्तितम्।।"

और भी जैसे—"तत्र शस्त्रास्त्र सम्पत्या द्विविधं परिकीर्त्तितम्। ऋजुमायाविभेदेन भूयो द्विविधमुच्यते।।"

कृताश्व, विश्वामित्र, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अग्निवेश, भीष्म, आदि जहाँ धनुर्विद्या के अपराजेय आचार्य माने जाते हैं, वहीं उशना (शुक्राचार्य), भरद्वाज, जमदग्नि, आदि इसके सूत्रकार कहे गये हैं। हो भी क्यों नहीं,

आखिर धनुर्वेद की शिक्षा देने का मुख्य अधिकारी भी तो ब्राह्मण ही है — "धनुर्वेदे गुरुः विप्रः प्रोक्तो वर्णद्वयस्य च। युद्धाधिकारः शूद्रस्य स्वयं वापदि शिक्षया।।" धनुर्वेदसूत्रों का उल्लेख महाभारत के सभापर्व (५/११०) में आया हुआ है, जब कि शान्तिपर्व (२१२/३३) के अनुसार भरद्वाज धनुर्वेद के विशेषज्ञ थे — "गान्धर्वनारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्।" सुश्रुत संहिता के टीकाकार डह्लण ने जमदग्नि कृत धनुर्वेद की चर्चा की है — "रथचर्या पदातिचर्या च जमदग्निराह —

"सर्वदिग्भागभागेषु हस्त्यश्वरथपत्तिषु।
शस्त्रास्त्रेयस्तु संयोगः सा चर्येति प्रकीर्त्त्यते।।"[६]

अपने प्रस्थान भेद में मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं कि यजुर्वेद का उपवेद पाद चतुष्टयात्मक धनुर्वेद विश्वामित्र द्वारा प्रणीत है। जिसमें दीक्षापाद, संग्रहपाद, सिद्धिपाद और प्रयोगपाद नामक चार पाद हैं। धनुर्वाण का लक्षण, उसके अधिकारी का निरूपण इसके प्रथमपाद में हुए हैं। यहाँ यह भी कहा गया है कि धनुष शब्द चाप अर्थ में रूढ़ होने पर भी चतुर्विध आयुधवाचक है। ये चतुर्विध आयुध — मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त तथा यन्त्रमुक्त हैं। इनमें चक्रादि मुक्तायुध और खड्गादि अमुक्तायुध कहलाते हैं। शल्यावान्तरभेदादि जहाँ मुक्तामुक्त आयुध की कोटि में आते हैं, वहीं शरादि यन्त्रमुक्त से प्रसिद्ध हैं। मुक्तायुध को अस्त्र और अमुक्तायुध को शस्त्र की संज्ञा दी गयी है, जो ब्राह्म-वैष्णव-पाशुपत-प्राजापत्य-आग्नेय आदि के भेद से कई प्रकार के होते हैं। विश्वामित्र द्वारा प्रणीत इस आयुध शास्त्र में यह भी कहा गया है कि इन अस्त्र-शस्त्रों को चार प्रकार के महारथी चला सकते हैं — "पदातिरथगजतुरगारूढ़ाः"। आगे के पादों में मधुसूदन सरस्वती के अनुसार सभी अस्त्र-शस्त्र विशेषों का परिचय, आचार्य के लक्षण का संग्रहण, गुरु-सम्प्रदाय सिद्ध शस्त्र विशेषों का पुनः- पुनः अभ्यास और मंत्र-देवता-सिद्धिकरण आदि के वर्णन के साथ- साथ देवतार्च्चन-अभ्यास आदि के द्वारा सिद्ध शस्त्रास्त्रों का प्रयोग-विधान प्रदर्शित किये गये हैं। इसी तरह वीरमित्रोदय में शुक्राचार्य के धनुर्वेद का उद्धरण प्राप्त

होता है।

वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार यद्यपि धनुर्वेद क्षत्रियों का क्षेत्र था, फिर भी इसमें ब्राह्मण कम नहीं थे। अथर्ववेद में ऐसे ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है जो धनुर्विद्या में निपुण हुआ करते थे और जिनके बाण तीक्ष्ण होते थे। उदाहरणार्थ यहाँ एक ही पद्य पर्याप्त होगा कि —

"तीक्ष्णेषवो ब्राह्मण हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां इन सामृषा।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादवभिन्दन्त्येनम्॥"[७]

अर्थात् तीक्ष्ण बाणोंवाले, शस्त्रास्त्रों से युक्त ब्राह्मणों के द्वारा प्रक्षिप्त बाण कदापि निष्फल नहीं होते। साथ ही परम तेजस्वी ये ब्राह्मण तपस्या के साथ- साथ पराक्रम में भी अपने शत्रु को भेदने में समर्थ हैं।

प्राचीनकाल में अस्त्रों का प्रयोग या प्रक्षेपण मंत्रों के द्वारा भी होता था। प्रत्येक शस्त्र पर किसी न किसी देवता का अधिकार होता था, कुछ दैवी आयुध भी थे, जिन कर किसी न किसी देवी का अधिकार होता था। अग्नि, गैस, विद्युत्, वायु, जल अथवा यान्त्रिक उपायों से भी अस्त्र-शस्त्र चलाये जाते थे। तंत्र-मंत्र के द्वारा संचालित होने के कारण वे सब दिव्य एवं मांत्रिक अस्त्र कहलाते थे। वाण भी कई प्रकार के हुआ करते थे, जिनमें आग्नेयास्त्र, पर्जन्यास्त्र, वायव्य, पन्नग, गरुड़, ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र तथा नारायणास्त्र प्रमुख होते थे। इनके अतिरिक्त शक्तिवाण, ब्रह्मशिरा, एकाग्नि आदि कई ऐसे वाण भी थे, जिसका प्रयोग योद्धा बहुत ही सोच-समझकर किया करता था।

उन दिनों आज की भाँति अस्त्र-शस्त्र प्रक्षेप के बाद केवल घात ही नहीं करता था, वल्कि यदि शत्रु अस्त्र त्यागकर नम्रतापूर्वक आत्मसमर्पण कर दे तो प्रक्षिप्त अस्त्र भी उसे कुछ नहीं करता था। कुछ अस्त्र या बाण ऐसे भी थे जो शत्रु का नाश करके वापस उसी स्थान या तरकस में आ जाता था, जहाँ से उसका प्रयोग हुआ रहता था।

गन्धर्ववेद — 'गन्धर्व' शब्द की निष्पत्ति धृ + व + गोर्ग आदेश से

होती है, जिसकी व्युत्पत्ति "गाः स्तुतिरूपा गीतिरूपा या वाचः रश्मीन् वा धारयति स गन्धर्वः" होती है। गन्धर्व अर्थात् स्वर्ग का गायक, जैसा कि कहा है – "गन्धं संगीतवाद्यादिजनित-प्रमोदं अर्व्वति प्राप्नोतीति गन्धर्वः"। इन संगीतविद्योपजीवी गन्धर्वों का जो वेद है, वही सामवेद का उपवेद 'गन्धर्ववेद' कहलाता है। यह उपवेद संगीतमूलक है, इसीलिए गन्धर्वविद्या संगीत विद्या कहलाती है; संगीतकला को गन्धर्वकला भी कहा गया है।

जिस प्रकार 'सामवेद' साम-गान प्रधान है, उसके आचार्य को 'उद्गाता' कहा गया है, उसी प्रकार उसका उपवेद भी गानपरक 'गन्धर्ववेद' कहलाता है। सामवेद के इसी गीत-संगीत प्राधान्य को देखकर आचार्य भरत ने उससे गीतांश को लेकर 'नाटक' की रचना की और कहा –

"जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयं रसानाथर्वणादपि।।"

वस्तुतः गान्धर्ववेद के अन्तर्गत गीत, नृत्य और वाद्य ये तीनों मुख्यतया आ जाते हैं; वैसे यामलतंत्र में कहा गया है कि –

"गान्धर्ववेदः षट्त्रिंशत्सहस्रग्रन्थसम्मितः।
यत्र सप्तस्वरोत्पत्तिकथनं परिकीर्त्त्यते।।
वीणातन्त्रं कलातन्त्रं रागतन्त्रमनुत्तमम्।
मिश्रतन्त्रं तालतन्त्रं गीतिकातन्त्रमेव च।।
लासिकोल्लासिकातन्त्रं मेलतन्त्रं महत्तरम्।
जातिग्रहलयस्थानं मार्गाङ्गप्रक्रिया क्रिया।।
कालज्ञानं वाद्यवल्लीत्रिभिन्नाध्याय एव च।
तुरङ्गगतिसारङ्गसिंह्मलीलाविजृम्भणम्।।
अंगहार प्रविक्षेपाध्यायस्संक्षोभणक्रियाः।
एवमादीनि गान्धर्ववेदे सन्ति सहस्रशः।।"

इसी प्रकार द्वात्रिंशज्जामलतन्त्र में नव (९) कलातंत्र, १९ वीणातंत्र आदि का वर्णन किया गया है, जो गान्धर्वविद्या के ही अन्तर्गत आते हैं। वीणातंत्र के वर्णन क्रम में कहा है — "एको न विंशं वीणाख्यतन्त्रं लक्षप्रमाणकम्। नादब्रह्मानन्दसिद्धिर्येन सिद्ध्यति वै नृणाम्।। निषादादिस्वरोत्पत्तिर्गीतोत्पत्ते हि लक्षणम्। रागाणां भेदकथनं रागकालानुकीर्त्तनम्।। ध्वनि प्रभेद कथनं मिश्रामिश्रावबर्हणम्। तालश्रुतिलयादीनामुद्भवश्चोपवर्णनम्।। चतुर्विधानां वीणानां लक्षणं तन्त्रिलक्षणम्। किन्नर स्वरयन्त्रादि लक्षणं मेललक्षणम्।। षड्गीतादिप्रकथनमुत्पत्तिस्थानवर्णनम्। एवमादीनि कीर्त्त्यन्ते यस्मिन्तन्त्रे सहस्रशः।।"

त्रोतालतन्त्र में २८ तालों का विवरण मिलता है — "त्रोतालनामकं तन्त्रमष्टाविंशं सलक्षकम्। यस्मिन् भरतसर्वस्वं साक्षाच्छिवमुखोद्गतम्।।"

गान्धर्ववेद के प्राचीनतम साहित्य में बहुत से आचार्यों का नाम पाया जाता है, शार्ङ्गदेव ने भी अनेक आचार्यों का नाम देकर कहा है — "अन्ये च बहवः पूर्वे ये संगीतविशारदाः। अगाधं बोधमन्थेन तेषां मतपयोनिधिम्।। निर्मथ्य श्रीशार्ङ्गदेवः सारोद्धारमिमं व्यधात्।।" उन्होंने प्राचीन आचार्यों के नाम परिगणन क्रम में श्रीसदाशिव भगवान् शंकर से प्रारम्भ किया है — "सदाशिवः शिवा ब्रह्मा भरतः काश्यपो मुनिः। मतङ्गो याष्टिको दुर्गा शक्तिः शार्दूलकोहलौ।।......"

सामवेद में जो गेय छन्द हैं, उनके गाने के नियम भी उसमें दिये गये हैं। विशेष स्वर-विधान के साथ छन्द-स्वर सहित गाने की प्रक्रिया है। वेद के उदात्तानुदात्तस्वरित — इन्हीं तीन स्वर संस्थानों से कालान्तर में षड्ज आदि सप्तस्वरों का विकास हुआ है। यथा — उदात्त से निषाद और गान्धार की, अनुदात्त से ऋषभ और दैवत की तथा स्वरित से षड्ज, मध्यम और पंचम की सृष्टि हुई। इन सबकी सृष्टि-प्रक्रिया ऋक्प्रातिशाख्य में आयी हुई है।

भरत ने जहाँ सात- सात तारों की दो वीणाओं को लेकर सप्तस्वर की कल्पना की है, वहीं शार्ङ्गधर ने बाइस- बाइस तारों की

वीणाद्वय को लेकर सप्तस्वरों की स्थापना की। ये स्वर हैं क्रमशः — षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद। इनमें ऋषभ और धैवत को छोड़, शेष स्वर के एक-एक ही रस है, जैसे षड्ज का वीररस, गान्धार का करुण, मध्यम का हास्य, पंचम का शृंगार तथा निषाद का भी करुण। जब कि ऋषभ के रौद्र और अद्भुत दो रस हैं साथ ही धैवत के भी वीभत्स और भयानक — ये दो रस माने गये हैं।

प्राचीन युग में वीणा, वेणु, दुन्दुभि आदि प्रमुख वाद्य हुआ करते थे। और वैदिक काल की तुलना में संगीत विद्या पौराणिकयुग में अधिक प्रगतिशील हो चली थी। हरिवंश में उर्वशी, हेमा, रम्भा, मेनका, मिश्रकेशी, तिलोत्तमा आदि नर्त्तकियों, उनके वाद्ययन्त्रों और नृत्य सम्बन्धी रीतियों का उल्लेख मिलता है। मार्कण्डेय एवं वायुपुराण में भी स्वर, गीत, मूर्च्छना, तान, ताल आदि का सुविस्तृत परिचय प्राप्त होता है। इन सबके अध्ययनों से यह सिद्ध होता है कि संगीत के दो भेद हैं — मार्गी और देशी। इनमें मार्गी संगीत अपौरुषेय है, तो देशी संगीत पौरुषेय, जिस देशी से ध्रुपद, धमार, खयाल, ठुमरी, ठप्पा, भजन, गीत आदि का जन्म हुआ है।

अर्थशास्त्र — पुरुषार्थ चतुष्टय के मध्य धर्म, अर्थ एवं काम इन तीनों शास्त्रों पर पहले एक साथ ही विचार किया गया और उस त्रिवर्गशास्त्र की रचना की थी पितामह ब्रह्मा ने। जैसा कि महाभारत[८] में कहा गया है, देवाधिदेव शंकर के द्वारा ब्रह्मदेव विरचित उस बृहद्शास्त्र का दश सहस्र अध्यायों में संक्षेप कर उसका नामकरण 'वैशालाक्ष' किया गया। 'वैशालाक्ष' के आधार पर ही कालान्तर में धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र का पृथक्-पृथक् अस्तित्व की विविक्ति हुई। भगवान् शंकर से सहस्राक्ष इन्द्र ने 'वैशालाक्ष' की शिक्षा प्राप्त की, फिर उन्होंने उसका पाँच सहस्र अध्यायों में संक्षेप कर एक 'बाहुदन्तक' नामक ग्रन्थ बनाया। यही बाहुदन्तक अर्थशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ माना गया।[१०] किन्तु महाभारत (५७/६) के अनुसार देवगुरु वृहस्पति ने ही अर्थशास्त्र की रचना की और इसका समर्थन वात्स्यायन का कामसूत्र भी करता है[११]। इन्द्र कृत बाहुदन्तक को वृहस्पति ने तीन सहस्र अध्यायों में संक्षेप कर उसमें

अर्थवर्ग को प्रधान विषय बनाया। अतः देवों के पुरोहित तथा अंगदतन्त्रकार वृहस्पति ही अर्थशास्त्र के जनक माने गये। यह सत्य है कि संस्कृत साहित्य के महाभारत, कामन्दकीय नीतिसार, याज्ञवल्क्यस्मृति की बालक्रीडा व्याख्या कौटिलीय अर्थशास्त्र प्रभृति ग्रन्थों में वार्हस्पत्य अर्थशास्त्र के कई उद्धरण प्राप्त होते हैं, पर मूलग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता।

महर्षि अंगिरा, उशना, नारद (पिशुन) आदि ने भी एक- एक अर्थशास्त्र की रचना की थी, जिसका परिचय हमें क्रमशः महाभारत[११], चरकसंहिता[१२], महाभारत[१३], रामायण[१४], महाभारत[१५] आदि से मिलता है।

महाभारत से जहाँ अंगिरा के राजनीतिशास्त्र कुशल होने का परिचय मिलता है, वहीं चरकसंहिता में औशनस-अर्थशास्त्र का उल्लेख भी प्राप्त होता है। साथ ही महाभारत में उशना का राजनीतिविषयक विचार भी उद्धृत हुए हैं। पिशुन, अर्थशास्त्र का महाविद्वान् और राजनीतिविज्ञान में प्रवीण था। उसे कुछ लोग नारद से भिन्न तो कुछ नारद से अभिन्न मानते हैं। पर नारद शिक्षा, शिल्प, गान्धर्व, ज्योतिष, हस्तिशास्त्र, योग आदि विषयों का पण्डित था, प्रत्येक पर उसने ग्रन्थ रचना भी की थी- यह सर्वसिद्ध है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से हमें द्रोण, भारद्वाज आदि के विचार भी देखने को मिलते हैं।[१६] महाभारत[१७] और अर्थशास्त्र[१८] के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि कौटिल्य पूर्व अर्थशास्त्रियों या राजनीतिशास्त्रियों में वृहस्पति पुत्र भरद्वाज भी एक अविस्मरणीय नाम है। त्रिकाण्डशेष नामक कोश[१९] में जिस कौणपदन्त को भीष्म कहा गया है, उसने भी किसी अर्थशास्त्र की रचना की थी। इसी प्रकार अर्थशास्त्र में चर्चित उद्धव और दीर्घचारायण भी अर्थशास्त्री प्रतीत होते हैं, पर इनके किसी अर्थशास्त्र विषयक मत का उल्लेख अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं होता।

राजनीतिशास्त्र, दण्डनीतिशास्त्र, शासनशास्त्र, कृषिशास्त्र और वास्तुशास्त्र — अर्थशास्त्र के ही अंग माने गये हैं।

चाणक्य — चाणक्य, आचार्य चणक का पुत्र था, इसी कारण उसका यह नाम वंशज नाम है, जबकि कुटिल राजनीतिज्ञ होने के कारण उसकी ख्याति कौटिल्य उपाधि से हुई। यह उपाधि या विशेषण इतना प्रसिद्ध हुआ कि यह उसका नामान्तर ही हो गया। पर उसका मूल नाम था विष्णुगुप्त। कामन्दकीय नीतिसार में आचार्य कामन्दक ने विष्णुगुप्त को यों कहकर नमस्कार किया है कि —

"नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्रमहोदधेः।
समुद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे॥" (४.५.७)

हेमचन्द्र, यादव प्रकाश वैजयन्ती, भोजराज नाममल्लिका आदि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विष्णुगुप्त के कई नाम थे, जिनमें कई नाम आज भी प्रचलन में हैं, पर कई नाम केवल इतिहास में ही पायेजाते हैं। जैसे — विष्णुगुप्त, कौटिल्य, चाणक्य, द्रामिल, अंगुल, वात्स्यायन, मल्लनाग, पक्षिलस्वामी, चणकात्मज, वराणक, कात्यायन, वररुचि, मयजित् और पुनर्वसु। इनमें कुछ नाम ऐसे भी हैं, जिन पर इतिहास विश्वास नहीं करता।

अर्थशास्त्र के अंतिम इस श्लोक से यह निश्चित होता है कि अर्थशास्त्र की रचना उस व्यक्ति ने की जिसने शस्त्र, शास्त्र और नन्दराज द्वारा शासित पृथ्वी का उद्धार एक ही साथ किया था — "येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः। अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्॥"[२०] इसमें ग्रन्थकार की अहंवादिता का स्पष्ट आभास मिलता है, जो कि कौटिल्य जैसे व्यक्ति के लिए उपयुक्त ही है।

कौटिल्य चन्द्रगुप्त मौर्य का अमात्य था, फलतः उसका समय विद्वानों ने ३२५ - २७३ ई. पू. निर्धारित किया है। कुछ लोगों के मत में चाणक्य का वास्तविक काल ४०० ई. पू. माना जाना चाहिये। ४०० ई. से लेकर ३०० ई. पर्यन्त कभी किसी समय में विरचित पंचतंत्र का लेखक विष्णुशर्मा हमारे विष्णुगुप्त से भिन्न और अर्वाचीन हैं। इसने अपने पंचतन्त्र में चाणक्य के अर्थशास्त्र को तथा मनुस्मृति और वात्स्यायनीय कामसूत्र को अपने विषय

का एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ कहा है — "ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि, अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि, कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि।"

'अर्थशास्त्र' के लिए पंचतंत्र में जहाँ 'नयःशास्त्र' का व्यवहार हुआ है, वहीं दण्डी ने दशकुमारचरित में इसे 'दण्डनीति' का नाम दिया है। दण्डी के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए चाणक्य ने छः हजार श्लोकों में दण्डनीति की रचना की थी, जैसा कि उन्होंने कहा है — "अधीष्व तावद्दण्डनीतिम्। इदमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोक-सहस्रैः संक्षिप्ता। सैवेयमधीत्य सम्यगनुष्ठीयमाना यथोक्तकार्यक्षमेति।"[२१]

पहले पश्चिमी विचारकों की यह मान्यता थी कि भारतीय विचारक कोरे अध्यात्मवादी हुआ करते हैं, राजनीति सम्बन्धी विचारों में उनकी कोई रुचि नहीं होती। उनके मत में अरस्तू ही राजनीति के जनक हैं। परन्तु अब वे भी यह मानने लगे हैं कि भारतीय राजनीति-दर्शन के अधिष्ठाता चाणक्य, यूनानी राजनीति के जनक अरस्तू से बहुत आगे हैं। चाणक्य ही क्यों, उनसे भी पहले भारत में राजनीति पर विचार करने वाले बहुत से आचार्य हुए हैं, जिनका परिचय हमें चाणक्य के अर्थशास्त्र से प्राप्त होता है।

चाणक्य का अर्थशास्त्र अंग्रेजी Economics से बहुत व्यापक है। उनके अनुसार पुरुषार्थ चतुष्टय का 'अर्थ' मनुष्य की जीविका के संचालन में सहायक होता है। मनुष्य अपनी जीविका का उपार्जन कृषि से और कृषि भूमि पर करता है। अतः मनुष्य व भूमि दोनों 'अर्थ' कहलाता है। इसी कारण अंग्रेजी में भी भूमि को 'अर्थ' (Earth) ही कहा गया है। अतएव मनुष्ययुक्त भूमि को प्राप्त करने के तथा उसकी रक्षा करने के ज्ञान से सम्बन्धित शास्त्र ही 'अर्थशास्त्र' कहलाता है। कितनी विहंगम दृष्टि थी चाणक्य की ?

विष्णुपुराण में जिन १८ प्राचीन भारतीय विद्याओं की गणना की गयी है, उनमें अर्थशास्त्र भी एक है। चाणक्य का अर्थशास्त्र सूत्रशैली में लिखा गया है, जिसमें १५ अधिकरण और १८० प्रकरण हैं। इसमें आधुनिक अर्थशास्त्र के साथ- साथ राजनीतिशास्त्र का भी भव्य वर्णन किया गया है। विस्तृत शासन-विधान, साम-दाम-दण्ड-भेद के द्वारा राजनय सिद्धान्त, परराष्ट्र-सम्बन्ध, गुप्तचर व्यवस्था, युद्ध संचालन का ठोस तथा

व्यावहारिक स्वरूप आदि समस्त विषयों का समायोजन इसमें पाया जाता है। चाणक्य ने जहाँ राजा को ही सर्वोच्च बताया है, वहीं वह प्रजा के सुख को ही राजा का ध्येय भी मानता है। चाणक्य के अनुसार –

"प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्यं प्रियं हितं राजाः प्रजानान्तु प्रियं हितम्।।"[२२]

अर्थात् प्रजा का सुख ही राजा का सुख है तथा प्रजा का हित ही राजा का हित है।

चाणक्य महान् कूटनीतिज्ञ था, वह प्रखर प्रतिभावान्, नीतिनिष्णात और धुन का पक्का था। अपने उद्देश्य की पूर्त्ति हेतु वह नैतिक अनैतिक के विश्लेषण में नहीं पड़ता था। तभी तो वह केवल चन्द्रगुप्त के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को ही दूर नहीं किया, वल्कि नन्द के पुत्रों को मारने के लिए विष प्रयोग भी किया और विषक किंवा निर्माल्य के प्रयोग से भी वह पीछे नहीं हटा।

'अर्थशास्त्र' के अध्ययन और उसकी मीमांसा से यह प्रतीत होता है कि अर्थशास्त्र की रचना का आरम्भ कल्पसूत्रों के बाद (७०० ई.पू.), विशेषकर बौधायन धर्मसूत्र (५०० ई.पू.) के बाद हो गया था। इसी कारण जातकग्रन्थों में जहाँ अर्थशास्त्र को एक प्रमुख विज्ञान के रूप में परिगणित किया गया है, वहीं आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२, ५, १०, १४) के समय तक यह विद्या प्रचुर प्रचार पा चुकी थी।

पीछे चलकर नवम - दशम श. में रचित क़िंवा पुनस्संस्कृत दो ग्रन्थों का पता चलता है, जिनमें से एक 'वृहस्पतिसूत्र' का सम्पादन डॉ. एफ्. डब्ल्यू. थामस ने किया और दूसरा सोमदेव कृत 'नीतिवाक्यामृत' है।



१. ऋ. १/१२/१६, हरिवंश–१/२९/२२-२७; ब्रह्माण्डपुराण–३/६७/२०-२४; वायुपुराण–९२/१८-२२; काश्यप संहिता–पृ. ४१ ।
२. सूत्र स्थान – १/६ ।
३. कल्याण, हिन्दूसंस्कृति अंक, पृ. - २८८ ।
४. १० म.म., १५२/६ ।
५. अ. २४७ - ५१ ।
६. चिकित्सा स्थान, अ.-१२; कल्याण का हिन्दू संस्कृति अंक, पृ. - २५०-५१ ।
७. अथर्व. ५/१/१८/९ ।
८. शान्तिपर्व, ५८/८९-९० ।
९. शान्तिपर्व, ५८/८९-९० ।
१०. कामसूत्र १/१७ ।
११. इसमें अंगिरा का परिचय मिलता है । अर्थशास्त्र पृ. - ३२, गणपतिशास्त्री की टीका के आधार पर ।
१२. इसमें उशना के अर्थशास्त्री होना कहा है । वि. ८/५४ ।
१३. शान्तिपर्व, ५६/४०,४२,११८/१० ।
१४. इसमें नारद के प्रसंग में है । अयो. अध्याय - १०० ।
१५. सभा, अ. - ५ ।
१६. अर्थशास्त्र - १/७, १/१६, ५/६, ८/३ ।
१७. शान्तिपर्व ५८/३ ।
१८. अर्थशास्त्र - १२/१ ।
१९. २/८/१२ ।
२०. अर्थशास्त्र - १५/१/८० ।
२१. द.कु.च., उच्छ्वास - ८ ।
२२. अर्थशास्त्र पु. - १/१६ ।

द्वितीय भाग

प्रथम पीठिका

वेद विद्या और मिथिला

वेद विद्या के क्षेत्र में मिथिला आज से नहीं आदिकाल से ही अपना कीर्त्तिध्वज लहराती आ रही है। यह वैदिक काल से ही आध्यात्मिक विद्या का केन्द्र रहा है। इसीलिए बृहदारण्यकोपनिषद् कहती है कि — "जनको जनक इति वै जना धावन्ति", यहाँ ब्रह्मज्ञान के लिए कौन नहीं आये, स्वयं भगवान् वेदव्यास ने शुकदेव जी को भी यहाँ भेजा था। यहाँ जनक-याज्ञवल्क्य सदृश ब्रह्मवेत्ता ही नहीं हुए; गौतम, कणाद, जैमिनि और कपिल सरीखे वेद-वेदाङ्ग कुशल दार्शनिक ही नहीं हुए, वल्कि गार्गी-मैत्रेयी-कात्यायनी-सुलभा-सुनयना-अनुसूया समाना ब्रह्मवादिनी भी हुई हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् (४-५-१-१५) में विदेहराज जनक के वर्णन क्रम में देह और देही के मौलिक भेद के प्रसंग कहा गया है कि —

"अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन॥"

यहाँ एक नहीं, कई ऐसे आत्मविद्याविशारद आचार्य, ऋषि-मुनि, योगी और यहाँ तक कि प्रजापालन तत्पर राजा भी हुए हैं, होते रहे हैं। तभी तो भगवान् वेदव्यास ने कहा है —

"एते वै मैथिला राजन्नात्मविद्याविशारदाः।
योगेश्वरप्रसादेन द्वन्द्वैर्मुक्ता गृहेष्वपि॥"[१]

इस मिथिला में आज तक जो भी आत्मविद्याविशारद, वेदविद्या महारत प्राप्त विद्वान् किंवा महाविभूति हुए हैं, उनमें जनक-याज्ञवल्क्य-कात्यायन-सुरेश्वराचार्य-गुणविष्णु-हलायुध-हरिहर-कर्क-वररुचि आदि सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। पर इनके अतिरिक्त भी यदि हम मैथिल विद्वानों की सूची पर या वेद-वेदाङ्ग की कृतियों पर दृष्टिपात करें, तो और भी कई नाम सामने आते हैं, जिनमें से किसी एक पर भी गौरव किया जा सकता है। यहाँ

हम ऐसी ही महाविभूतियों का संक्षिप्त परिचय देना चाहते हैं, जिन्होंने वैदिक साहित्य में कुछ किया है, वैदिक साहित्य को अपनी अपार ज्ञानराशि से श्रीसमृद्ध किया है या वेदविद्या को किसी न किसी रूप में सामान्य जनता तक लाने का किञ्चित्प्रयास भी किया है।

वेद विद्या महारथियों के परिचय देने से पहले, हम यहाँ यह भी बताना चाहेंगे कि प्राचीन काल में **याज्ञवल्क्य** के १५ प्रधान शिष्यों में एक थे **माध्यन्दिन**, जिन्हें मैथिल कहा जाता है, इनकी यजुर्वेदीय शाखा का नाम 'माध्यन्दिन शाखा' है। परन्तु यह भी मान्यता है कि जब याज्ञवल्क्य ने वैशम्पायन ऋषि से पठित सारी विद्या वान्त कर दिया, तो वे भगवान् सूर्य से पढ़ने गये। सूर्यदेव ने उन्हें वाजि का रूप धरकर पढ़ाया तो सही, पर दिन के मध्य भाग में। इसके बाद ही उस पठित भाग का नाम 'माध्यन्दिन' पड़ा। जो भी हो, इतिहास दोनों बातों को लेकर चलता है। इसी प्रकार शुक्लयजुर्वेद के दोनों उपनिषदों को मिथिला में दृष्ट माना गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् के प्रसंग तो विवाद नहीं है, पर ईशावास्योपनिषद् का दर्शन मिथिला में हुआ या नहीं विवाद से बहिर्भूत भी नहीं है। परन्तु वाजसनेयी प्रातिशाख्य की रचना मिथिला में होने की प्रवल सम्भावना मानी जाती है, उसके कर्त्ता **कात्यायन** के मैथिल होने के कारण। इन्होंने शुक्लयजुर्वेद की पाठविधि को लेकर, उच्चारण प्रक्रिया को आधार बनाकर एक 'शिक्षा' की भी रचना की थी, जो 'कात्यायन-शिक्षा' से प्रसिद्ध है। इनसे पहले **याज्ञवल्क्य** की 'शिक्षा' भी इसी विषय पर लिखी गयी थी, जिस पर पंक्ति लेखक की 'निर्मला' व्याख्या चौखम्बा ओरियण्टालिया से प्रकाशित है। इसी प्रकार माध्यन्दिन शिक्षा भी शुक्लयजुर्वेद की ही शिक्षा है, जिसका प्रणयन महर्षि **माध्यन्दिन** ने किया था। शिक्षारूपी वेदांग में भले ही प्राचीनकाल में **याज्ञवल्क्य**, **माध्यन्दिन**, **कात्यायन**, **गौतम** आदि ऋषि-महात्माओं के ग्रन्थ लिखे गये हों; पर कालान्तर में भी इस दिशा में कार्य अवरुद्ध नहीं रहा। जिस प्रकार शिक्षा ग्रन्थों की संख्या बढ़ती गयी, मिथिला में भी **श्रीवत्स उपाध्याय**, **शम्भू मिश्र** आदि के शिक्षग्रन्थ पाये गये[२]। अस्तु।

शुक्लयजुर्वेदियों के लिए महर्षि **कात्यायन** ने श्रौतसूत्र एवं शुल्वसूत्र की रचना की थी, जो दोनों पाये जाते हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र पर मिथिला में पर्याप्त कार्य हुए हैं, इसके मैथिल भाष्यकारों में **कर्क उपाध्याय** (कर्क स्वामी), **पद्मनाभ**, **भास्कर मिश्र**, **श्रीधर उपाध्याय**, **हरिहर उपाध्याय** (हरिहर शर्मा) आदि मुख्य हैं। जब कि शुक्ल यजुर्वेदीय कातीय गृह्यसूत्र के व्याख्याताओं में **कर्क उपाध्याय**, **मुरारि मिश्र**, **वागीश्वर दत्त**, **वेद मिश्र** एवं **गदाधर शर्मा** को भी कदापि भुलाया नहीं जा सकता। कात्यायन शुक्लयजुः सर्वानुक्रमणी के रचयिता तो हैं हीं, वल्कि अनुक्रमणी साहित्य में महत्त्वपूर्ण माने जानेवाली, सर्वाधिक वृहद् और प्रसिद्ध 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' के लेखक भी कात्यायन ही हैं, जिनकी अन्य रचनाओं में प्रमुख हैं क्रमशः — शुक्लयजुर्विधान, प्रतिज्ञासूत्र परिशिष्ट, माणिक परिशिष्टसूत्र, अष्टादश परिशिष्ट आदि। इन्होंने सामवेदीय श्रौतसूत्र की भी रचना की है, जिसका नाम पंचविधसूत्र और प्रतिहारसूत्र बताये जाते हैं। गोभिल गृह्यसूत्र पर भी इनका 'कर्मपदीप' नामक परिशिष्ट मिलता है, जिसे 'कात्यायन परिशिष्ट' के नामसे भी लोग जानते हैं।

सामवेदीय शाखाओं में महर्षि **जैमिनि** (वि. पू. ३००० वर्ष) की 'जैमिनीय शाखा' अन्यतम है। ये ही जैमिनि सामवेद के प्रथम द्रष्टा थे, जिन्होंने अपने पुत्र सुमन्तु को इस वेद का उपदेश दिया था। जैमिनि प्रणीत 'जैमिनीय ब्राह्मण', 'जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण' दोनों इसी शाखा से सम्बद्ध हैं, जिसका क्रमशः 'आर्षेय ब्राह्मण' और 'छान्दोग्य ब्राह्मण' भी नामान्तर पाया जाता है। इस शाखा से सम्बद्ध महर्षि जैमिनि प्रणीत अन्य रचनाएँ भी मिलती हैं, जिनमें 'जैमिनि आरण्यक', 'जैमिनीयोपनिषद्', 'जैमिनीय श्रौतसूत्र', 'जैमिनीय गृह्यसूत्र' आदि मुख्य हैं। जब कि व्याकरण में तलवकार संहिता भी इनकी पायी जाती है। **गौतम** ऋषि का प्राचीनतम और महत्त्वपूर्ण धर्मसूत्र 'गौतम धर्मसूत्र', 'गौतमी शिक्षा', 'पितृमेध गृह्यसूत्र' भी इसी वेद के माने गये हैं। पितृमेध गृह्यसूत्र के व्याख्याता अनन्तज्ञान ने स्पष्ट कहा है कि गृह्यसूत्रकार गौतम न्यायसूत्रकार अक्षपाद गौतम से भिन्न नहीं हैं।

सामवेदीय श्रौतसूत्र 'पुष्पसूत्र' के रचयिता विवादास्पद हैं। क्योंकि कुछ लोग इसे **गोभिल** प्रणीत मानते हैं, तो कुछ **वररुचि** विरचित। वररुचि को पुष्पसूत्रकार माननेवाले अधिक दिखते हैं। सामवेद के अनुक्रमणी-साहित्य से सम्बद्ध 'सामप्रकाशन' नामक कृति के रचयिता **प्रीतिकर** को जहाँ कुछ विद्वान् मैथिल मानते हैं. वहीं कुछ के मत में ये गुजरात के थे। जब कि तैत्तिरीय आरण्यक पर भाष्य लिखने वाले **भास्कर मिश्र** (१५ वीं. - १६ वीं श.) बृहदारण्यक और छान्दोग्यारण्यक के भी भाष्यकार रहे हैं। इनकी 'निरुक्तवृत्ति' कही तो जाती है मूल निरुक्त की ही व्याख्या, पर वह है देवराज यज्वा के निरुक्तभाष्य की वृत्ति।

इसी प्रकार ऋग्वेद के आश्वलायन श्रौतसूत्र एवं आश्वलायन गृह्यसूत्र के व्याख्याकार **मण्डन मिश्र** जहाँ मीमांसक मण्डन मिश्र से भिन्न हैं, वहीं आश्वलायन श्रौतसूत्र के व्याख्याकार **'नारायण'** सन्देहास्पद हैं। कारण ये 'श्रीपति' के पौत्र एवं 'कृष्णजी' के पुत्र थे, परन्तु मिथिला में भी 'श्रीपति' मिश्र के पौत्र 'कृष्णपति' मिश्र के पुत्र 'नारायण' मिश्र हुए हैं, जिनसे ये भिन्न हैं या अभिन्न ज्ञात नहीं।

कात्यायन — जिस ग्रन्थ में वेदों के देवता, ऋषि एवं छन्दों की सूची प्रस्तुत की जाय, उसे 'अनुक्रमणी' कहा जाता है। वेदों के रक्षार्थ कालान्तर में इन अनुक्रमणियों की रचना की गयी। प्रत्येक वेद की अपनी अलग - अलग अनुक्रमणी होती है। हमारे कात्यायन ने 'ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी' एवं 'शुक्लयजुः सर्वानुक्रमणी' की रचना की है। इनमें ऋक्सर्वानुक्रमणी पर उब्बट का एक भाष्य एवं षड्गुरुशिष्य की 'वेदार्थदीपिका' वृत्ति प्रसिद्ध है; जबकि शुक्लयजुः सर्वानुक्रमणी पर याज्ञिक अनन्तदेव का भाष्य प्रकाशित है। कात्यायन कृत अन्य ग्रन्थों में श्रौतसूत्र, शुक्लयजुः प्रातिशाख्य, पारस्कर गृह्यसूत्र व्याख्या, कात्यायनी शिक्षा, प्रतिज्ञासूत्र परिशिष्ट, माणिक परिशिष्ट सूत्र, अष्टादश परिशिष्ट आदि उल्लेखनीय हैं।

नाटक लक्षणकोश में एक आलंकारिक के रूप में भी आपका उल्लेख मिलता है, जब कि 'अलंकार व्याकरण' के कर्त्ता के रूप में आप तो प्रसिद्ध हैं ही। इसी अलंकार-व्याकरण पर आचार्य वररुचि की भी

वृत्ति कही जाती है[३]। हमारे महामुनि कात्यायन, याज्ञवल्क्य और देवी कात्यायनी के पुत्र थे — ऐसा प्रवाद सुना जाता है। पर कुछ लोग इन्हें याज्ञवल्क्य के पुत्र 'कत' का पौत्र अर्थात् 'कात्य' का पुत्र बतलाते हैं। जो भी हो, अनुसन्धान अपेक्षित है।

सुरेश्वराचार्य — आदि शंकराचार्य से शास्त्रार्थ के बाद पराजित होने पर सुनते हैं आपने अपना नाम 'विश्वरूप मिश्र' से बदलकर सुरेश्वराचार्य रख लिया था अथवा यों कहें कि पराजित होने के बाद आपने संन्यासग्रहण कर लिया और संन्यासोत्तर आपका नाम 'सुरेश्वराचार्य' पड़ गया। आप मूलतः मीमांसक थे, किन्तु न्याय, धर्मशास्त्र और वेदान्त में भी आपका गभीर ज्ञान था। जब कि वेद-वेदाङ्ग में आपकी प्रवीणता जग जाहिर है।

आप महामीमांसक कुमारिल भट्ट के शिष्य और मण्डनमिश्र के प्रतिद्वन्द्वी थे। आपका निवासस्थान महिषी (माहिष्मती) ग्राम था, जो आजकल सहरसा जिले में पड़ता है। आपकी रचनाओं में वृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य एवं पञ्चीकरणभाष्य सुप्रसिद्ध है।

गुणविष्णु — आचार्य हलायुध द्वारा 'ब्राह्मणसर्वस्व' में तथा सायणाचार्य के 'सायणभाष्य' में जिस 'गुणविष्णुभाष्य' का उल्लेख हुआ है, उसके कर्त्ता गुणविष्णु को ऐतिहासिकों ने मैथिल सिद्ध किया है।[४] 'मंत्रब्राह्मणभाष्य' का भी आपने निर्माण किया था, पर वह प्रकाश में नहीं आया है।[५] मिथिला के सामवेदियों के नित्य नैमित्तिक विधियों के उपयोगी साममन्त्रों की व्याख्या करके गुणविष्णु ने बहुत ही उल्लेखनीय कार्य किया है। इनका 'छान्दोग्य-मंत्रभाष्य' कलकत्ता की संस्कृत परिषद् से प्रकाशित है। जो कि सामवेदीय कौथुमशाखा से सम्बद्ध है — "हलायुधेन ये काण्वे कौथुमे गुणविष्णुना।"

गुणविष्णु का भाष्य इतना प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण था कि वेदभाष्यकार सायण और हलायुध दोनों ने उनके भाष्य का उपयोग अपनी भाष्य रचना के समय में किया है।[६] गुणविष्णु कृत उक्त भाष्य के अतिरिक्त और भी

कई भाष्यों का पता चलता है, जैसे — 'मंत्रब्राह्मणभाष्य', 'पारष्करगृह्यसूत्रभाष्य' आदि।

इस प्रख्यात वैदिक का समय विक्रम की १२ वीं - १३ वीं सदी का मध्यभाग माना जाता है।

हलायुध शर्मा — शुक्लयजुर्वेद की काण्वसंहिता पर 'ब्राह्मणसर्वस्व' नामक भाष्य के कर्त्ता हलायुध अपने समय के एक प्रख्यात वैदिक विद्वान् थे। जिनकी लेखनी से और भी कई ग्रन्थ रचे गये हैं, यथा — 'मीमांसा-सर्वस्व', 'वैष्णवसर्वस्व', 'शैवसर्वस्व', 'पण्डितसर्वस्व' आदि। परन्तु ये रचनायें ब्राह्मणसर्वस्व में चर्चित तो हैं, पर उपलब्ध नहीं। केवल गुणीसर्वस्वापर नामक पण्डितसर्वस्व की मातृका पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय में सुरक्षित अवश्य है।[७] 'डिस्क्रिप्टिव मैन्युस्क्रिप्ट्स इन मिथिला' नामक ग्रन्थ से इनकी पारस्कर गृह्यसूत्र की व्याख्या की भी सूचना मिलती है। हलायुध न केवल वैदिक विद्वान् थे, वरन् मीमांसा और तंत्रागम के भी मर्मज्ञ पण्डित थे। खास करके वैष्णवागम और शैवागम में तो वे प्रामाणिक आचार्य ही माने जाते थे। ये राजा लक्ष्मण सेन (११७०-१२०० ई.) के धर्माधिकारी थे, जिस कारण इनका समय बारहवीं श. निर्द्धारित होता है।

साथ ही इसी कारण इन्हें लोगों को बंगाली मानने का भ्रम भी उत्पन्न हुआ। किन्तु ग्रन्थ पर्यालोचन से एवं उसकी परिपाटी को मैथिल निबन्धकारों से पर्याप्त साम्य होने के कारण इन्हें मैथिल स्वीकार करने में कोई सन्देह नहीं बनना चाहिये[८]। कर्म्मकाण्ड की पद्धति जो मिथिला में प्रचलित है, उसका स्पष्ट उल्लेख हमें इस ग्रन्थ में मिलता है। हलायुध अपने ग्रन्थ में लिखते हैं —

"बाल्ये ख्यापितराजवल्लभ पदं शीतांशु बिम्बोज्वल
च्छास्त्रोत्सिक्तमहामहत्तकपदं दत्त्वा नवे यौवने।
यस्मै यौवनशेष योग्यमखिलं क्ष्मापालनारायणः
श्रीमान् लक्ष्मणसेन नामनृपतिर्धर्माधिकारं ददौ ॥"

इससे स्पष्ट विदित होता है कि हलायुध बाल्यकाल में ही राजपण्डित हो गये थे। गौड़ीय नरपति लक्ष्मणसेन के द्वारा तो इन्हें प्रौढ़ावस्था में धर्माधिकारी किंवा महामहत्तक का गौरवपूर्ण पद, श्वेतच्छत्रधारण करने का अधिकार तथा समुचित मान-सम्मान दिया गया था। मैथिल पञ्जी-प्रबन्ध में इस 'महामहत्तक' उपाधि को विशिष्ट उपाधि के रूप में माना गया है।

स्मरणीय है कि बंगाल के उक्त अन्तिम हिन्दूनरेश राजा लक्ष्मणसेन को सन् ११७० ई. में अपने पिता राजा बल्लालसेन के निधनोपरान्त गौड़देश का शासन मिला था और इन्होंने तीस वर्षों तक बड़ी निपुणता से और सफलतापूर्वक राज्य किया था।[९]

यहाँ यह भी स्मर्त्तव्य है कि हलायुध, वृत्तरत्नाकर के टीकाकार रामचन्द्र कवि के भाई थे तथा मिथिला के सिंहाश्रम (सिंहासमय) मूलक शाण्डिल्य गोत्रोत्पन्न थे। इनके वंशज रत्नेश्वर मिश्र के द्वारा अपने विद्यावल से 'सोदरपुर' ग्रामोपार्ज़न[१०] करने के बाद इनका वंश दो भागों में बँट गया, एक 'सिंहासमय' और दूसरा 'सोदरपुर'। म.म. शंकर मिश्र एवं म.म. पक्षधर मिश्र इसी सोदरपुर मूल की विभूति थे। जब कि त्रिकाण्डशेष के कर्त्ता पुरुषोत्तमदेव (१३ वीं श. के उत्तरार्द्ध) को इनका वंशज कहा गया है कि — "इन्हीं के वंश में बंगाल में हुए[११]"।

'धर्मविवेक काव्य', 'कविरहस्य' एवं 'अभिधानरत्नमाला' नामक हलायुधकोश के निर्माता हलायुध शर्मा, इनसे भिन्न, किन्तु तिलकमंजरीकार धनपाल के समसामयिक थे।

हरिहर शर्मा — आप पारस्कर गृह्यसूत्र के हरिहरभाष्यकार हैं[१२] और आपका समय १२ वीं श. खृष्टाब्द का मध्यभाग अनुमान्य है। मिथिलेश गंगदेव के धर्माधिकरणिक बुधवालवंशीय वासुदेव शर्मा ने भी आपको उद्धृत किया है तथा आपको मैथिल आचार्य माना है।[१३]

वररुचि शर्मा — आपको पल्लीवंशीय कहा जाता है और वर्णरत्नाकरकार ज्योतिरीश्वर ठाकुर को आपका प्रपौत्र माना गया है।[१४] आपका समय १२ वीं. श. खृष्टाब्द निर्द्धारित है तथा आपकी रचनाओं में निरुक्त निचय अथवा निरुक्त समुच्चय मुख्य हैं।[१५] कुछ लोगों के मत में निरुक्त पर व्याख्या लिखने वाले वररुचि 'मिश्र' आस्पद के थे। पर यदि यह सच हो तो वे पल्लीवंशीय नहीं हो सकते। पता नहीं 'चारुमती' नामक गद्य काव्य आपका है अथवा आपके पूर्ववर्ती किसी और वररुचि का, अनुसन्धान अपेक्षित है।

रुद्रदत्त — आपने आपस्तम्ब श्रौतसूत्र एवं आश्वलायन श्रौतसूत्र पर व्याख्या लिखी है और आपके पुत्र हरदत्त भी एक अच्छे वैदिक थे। कहा जाता है कि धर्मशास्त्र में भी आपकी अबाध गति थी।

हरदत्त मिश्र — आप परम निविष्ट वैदिक आचार्य रुद्रदत्त के पुत्र थे। आपने आपस्तम्ब गृह्यसूत्र एवं आश्वलायन गृह्यसूत्रों की व्याख्या की थी।[१६] पर न जाने राघव नैषधीयम् महाकाव्य के कर्त्ता हरदत्त से आप भिन्न हैं या नहीं।

शत्रुघ्न मिश्र — म.म. शत्रुघ्न मिश्र कोटा नरेश राजा धर्मचन्द्र के आश्रित थे। इन्होंने उन्हींके आदेश से 'मंत्रार्थ दीपिका' नामक एक कृति का निर्माण किया था, जिसमें वाजसनेयी कर्मकाण्डोपयोगी मंत्रों का संग्रह हुआ है।

अर्जुन मिश्र — महाभारत की 'भारतार्थदीपिका' नामक टीका के रचयिता अर्जुन मिश्र सोदरपुरमूलक शाण्डिल्यगोत्रीय ब्राह्मण थे। इन्होंने पढ़ते समय बंगाल में एक शादी कर ली थी तथा वहीं पर 'चम्पाहेटी' नामक स्थान को अपना निवासस्थान बनाया। आपके वंशज आज भी नवद्वीप (नदिया) आदि स्थानों में बसते हैं। म.म. श्रीकृष्णनाथ भट्टाचार्य अभिज्ञान-शाकुन्तलम् की अपनी टीका में आपके प्रसंग लिखते हैं —

"तस्यानुजः केशवचन्द्रसूनुः विदेहजन्मार्जुनमिश्रवंश्यः।
टीकामभिज्ञानशाकुन्तलस्य श्रीकृष्णनाथः कुरुतेऽग्रजन्मा॥"

पं. श्रीकान्त मिश्र के गुरु सलमपुर ग्रामवासी वैयाकरण और धर्मशास्त्री अर्जुन मिश्र आपसे भिन्न और अर्वाचीन हैं।

गदाधर शर्मा — अरईवार बैगनीमूलक मीमांसक गदाधर एवं थुआम ग्रामवासी मीमांसक रामधरसुत तांत्रिक गदाधर उपाध्याय से भिन्न, आप १४ वीं श. के आरम्भ में हुए हैं। आपने अपने पारस्कर गृह्यसूत्रभाष्य में वासुदेव, हरिहर एवं गंगाधर जैसे मैथिल वैदिक विद्वानों की चर्चा की है, अतः उन सबसे आप अर्वाचीन सिद्ध होते हैं।

गिरिधर उपाध्याय — मैथिल वेदभाष्यकारों में गिरिधर उपाध्याय भी एक अविस्मरणीय नाम है। 'मालतीमाधव' आदि के टीकाकार महाराज धीरसिंह के द्वारपण्डित, १५ वीं श. के जगद्धर ने अपने एक ग्रन्थ में इनका उल्लेख यजुर्वेद के भाष्यकार के रूप में किया है, जिसका समर्थन इस ग्रन्थ के टीकाकार रत्नकण्ठ ने भी किया है। इसके आधार पर पं. भगवद्दत्तजी अपने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' (पृ. १००) में इन्हें भी यजुर्वेद संहिता का भाष्यकार मानते हैं। परन्तु इनका यह भाष्य उपलब्ध नहीं है। हाँ, भाष्यकार के बारे में यह जरूर कहा जा सकता है कि ये उक्त जगद्धर के पितामह थे।

रुद्रदेव शर्मा — १४ वीं. श. के अन्त में स्थित रहे रुद्रदेव शर्मा (इनका ही उपनाम रुद्रधर था) दरिहरा मूलक लक्ष्मीधर उपाध्याय के पुत्र थे। इन्होंने वाजसनेयी मंत्रों का संग्रह कर उसके व्याख्यात्मक 'मन्त्रोद्धार' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय में सुरक्षित है। इनकी अन्य रचनायें हैं व्रतपद्धति, वर्षकृत्य, श्राद्धविवेक आदि। इनसे भिन्न और अर्वाचीन एक दूसरे रुद्रदेव शर्मा कृत 'सोमप्रयोगविधि' दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय पुस्तकालय में सुरक्षित कही जाती है।

चतुर्भुज मिश्र — 'चतुर चतुर्भुज' आदि से भिन्न और प्राचीन, १३०० ई. के आसपास स्थित रहे चतुर्भुज मिश्र महाभारत और रामायण के टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनकी 'भारतप्रकाश' व्याख्या बहुत ही

प्रामाणिक और अर्थपूर्ण मानी जाती है। ये अपने समय के मूर्द्धन्य वैदिक थे तथा श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र के व्याख्याकार भी। परन्तु इनका अधिक परिचय प्राप्त नहीं होता, सिबाय इनके मैथिल होने का।

नारायण उपाध्याय — बुधवाल डुमरा मूलक वत्सगोत्रीय पं. मणिनाथ उपाध्याय के पौत्र एवं गुणपति (गणपति ?) उपाध्याय के पुत्र नारायण उपाध्याय ने रामोत्तरतापन्युपनिषद् की दीपिका नामक व्याख्या की रचना की है। अपने समय के मूर्द्धन्य वैदिक विद्वान् रहे इन महाशय का गोभिल गृह्यसूत्र पर एक भाष्य भी उपलब्ध होता है। आप आश्वलायन श्रौतसूत्रकार कृष्णपतिसुत नारायण (मिश्र ?) से भिन्न हैं।

पद्मनाभ शर्मा — तैत्तिरीय प्रातिशाख्य एवं कात्यायन श्रौतसूत्र के भाष्यकार किंवा विवरणकार पद्मनाभ शर्मा की 'श्रौतपद्धति' का.द.सं. विश्वविद्यालय के मातृकागार में सुरक्षित है।

रामदेव शर्मा — वैदिक रामदेव शर्मा का अधिक परिचय ज्ञात नहीं है सिबाय इसके कि वे १६ वीं शताब्दी में स्थित थे तथा इन्होंने 'छान्दोग्यमंत्रोद्धार' की रचना की थी, जिसकी मातृका संस्कृत विश्वविद्यालय दरभंगा के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

रुद्र सिंह — आपने शतरुद्रीय एवं हरिवंश महापुराण की प्रतिलिपि की थी, जो बरहगोरिया ड्योढ़ी के स्वामी, बाबू चित्तेश्वरसिंह के पास स्थित थी। मैंने भी उसे देखा था, पर न जाने आज वह कहाँ और किस हाल में है।[१७]

जगद्धर शर्मा — साहित्यिक जगद्धर शर्मा (१५ वीं. श.) से भिन्न आप मूलतः पौराणिक थे। आपने श्रीमद्भागवत एवं देवी माहात्म्य पर बड़ी ही विलक्षण टीका लिखी थी। किन्तु आपसे भिन्न और अर्वाचीन गंगौली ग्रामवासी मीमांसक जगद्धर झा ने तीन खण्डों में 'मंत्रार्थ संग्रह' नामक कृति की रचना की है, जिसमें वाजसनेयी मंत्रों का भाष्यसहित संग्रह हुआ है।

मदन उपाध्याय — मङ्गरौनी ग्रामवासी महो. मधुसूदन उपाध्याय के पुत्र

म.म. मदन उपाध्याय मूलतः तांत्रिक थे, इनकी वाक्सिद्धि के चमत्कार से उन दिनों सबके सब चकित हो जाते थे। कहते हैं स्नान करने के बाद आप अपने भींगे वस्त्र को आकाश में फेंक देते थे और वहीं सुखता था। इन्हींकी बनायी हुई 'सोमयागपद्धति' दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय के मातृकागार में सुरक्षित पड़ी है।

कुलमणि मिश्र — आप सोदरपुर हाटी मूलक शाण्डिल्य गोत्रीय पं. सोनीमिश्र के पुत्र एवं वैदिक वंशमणि मिश्र के अग्रज थे। पारस्कर गृह्यसूत्र पर मार्गदर्शिनी टीका आपही ने रची है।

विद्यावाचस्पति पं. मधुसूदन ओझा — दक्षिण के महाविद्वान् मीमांसक रंगास्वामी, बून्दीनरेश के यहाँ सम्मानित राजपण्डित थे। एक वार किसी विषय को लेकर एक जगह बुन्दीनरेश एवं जयपुर नरेश के बीच शास्त्रार्थ छिड़ गया, ज़िसमें इन्हीं रंगास्वामी की चतुराई से बुन्दीनरेश की जीत हुई। जयपुर नरेश बहुत दुःखी हुए और अपने यहाँ किसी मीमांसक के अभाव का अनुभव किये। उन दिनों, १९ वीं. श. में मिथिला से मीमांसकों का इस तरह लोप नहीं हुआ था, बड़े-बड़े मूर्द्धन्य मीमांसक अपना डंका बजा रहे थे। जयपुर नरेश ने अपना दूत भेजकर किसी मीमांसक को सादर आने का निमंत्रण भेजा। मुजफ्फरपुर जिला के अन्तर्गत (वर्त्तमान में सीतामढ़ी जिला) गाढ़ा गाँव के मीमांसक पं. राजीवलोचन झा किसी तरह तैयार हुए जयपुर आने को। ये ही वहाँ के राज़पण्डित बनाये गये। फिर जयपुर नरेश ने शास्त्रार्थ का आयोजन किया, जिसमें रंगास्वामी की चतुराई काम न कर सकी और परिणाम पूर्व के विपरीत रहा। किन्तु अब दोनों महामीमांसकों में छिड़ गयी, दोनों दिग्गजों में लिखित शास्त्रार्थ होने लगा, एक अद्वैतवाद का तो, दूसरा विशिष्टाद्वैत का खण्डन करने लगा। इसी क्रम में एक वार जब रंगाचार्य में 'दुर्जनमुखचपेटिका' नामक काव्य का निर्माण किया तो हमारे राजीवलोचन झा ने 'सज्जनमनोऽनुरञ्जनम्' नामक काव्य के द्वारा उसका अक्षरशः खण्डन कर डाला। कहते हैं इसके बाद ही दोनों की यह अद्‌भुत लड़ाई बन्द हो गयी।

दुर्भाग्यवश राजीवलोचनजी निःसन्तान हुए, तो उन्होंने अपने

अनुज पं. बैद्यनाथ झा के पुत्र 'मधुसूदन' को गोद ले लिया। उपनयन आदि संस्कार सम्पन्न होने के बाद मधुसूदन अपने पितृव्य राजीवलोचन झा के साथ जयपुर आ गया। यहीं उसके पठन-पाठन की व्यवस्था की गयी। बालक मधुसूदन बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि का था, यहाँ उसकी प्रतिभा और चमक उठी। उसमें भी सोने पे सुहागा यह था कि बालक की लगन और प्रतिभा से प्रभावित होकर तत्कालीन महाराजा श्रीरामसिंह द्वितीय ने भी कभी- कभार उसकी परीक्षा ले लिया करते थे। वे इस होनहार बालक से बहुत सन्तुष्ट थे। दैवदुर्योगवश १८८२ ई. में चाचा राजीवलोचन झा का असामयिक निधन हो गया और बालक अपनी चाची के साथ गाँव वापस आ गया। कुछ दिनों बाद पिता पं. बैद्यनाथ झा ने अपने इस लाडले को आगे की पढ़ाई के लिए काशी भेज दिया, जहाँ दरभंगा संस्कृत विद्यालय में म.म. पं. शिवकुमार शास्त्री की देखरेख और श्रीचरणों में बैठकर बालक का सांगोपांग अध्ययन होने लगा।

अभी आठ ही वर्ष उसे काशी आये हुआ था कि उसकी कीर्त्ति चारों ओर फैलने लगी। शास्त्रार्थों के द्वारा वह न्याय-व्याकरण-वेदान्त और मीमांसा में कई लब्ध प्रतिष्ठित विद्वानों को भी निरुत्तर कर देता था। इस तरुण विद्वान् की ख्याति-पताका जयपुर नरेश के यहाँ भी पहुँची तो उन्होंने इस बालक को बुलवा भेजा। बालक भी जयपुर से पुराना परिचित था, वह १८९४ ई. में वहाँ गया और 'महाराजा कालेज' में प्राध्यापक के रूप में नियुक्त हो गया। एक ही वर्ष के बाद उसे दो और अतिरिक्त कार्यभार दिये गये, एक राजकीय पुस्तकालय के प्रधान प्रबन्धक का और दूसरा धर्मसभा के मुख्याधिकारी का। तीनों पदों का इस बहादुरी से इसने संचालन किया कि अब जयपुर राज्य का सारा राज-काज भी इन्हीं के परामर्श से होने लग गया।

ऐसे प्रतिभाशाली और कार्यकुशल मधुसूदन झा का जन्म अपने गाँव गाढ़ा में कृष्णजन्माष्टमी के दिन संवत् १९२३ (तदनुसार १८६६ ई.) को हुआ था और १७ वर्ष की अल्पायु में आपका विवाह करबा

दिया गया, अलवर राज्य के तत्कालीन राजपण्डित चञ्चल झा की पुत्री से, जिससे आपका परिवार आज भी फल-फूल रहा है। आपने अपना परिचय देते हुए लिखा है —

"श्रीक्षेत्रादपि दक्षिणोऽधिमिथिलं यो भैरवादुत्तरः,
पूर्वो यः खलु लक्ष्मणाख्यसरितो यो गौतमात्पश्चिमः।
तस्मिन् संवसथेऽग्रहीद् बहुविधे गाढ़ाभिधे जन्म यः,
सोऽयं मधुसूदनो व्यतनुताऽशौचे समीक्षामिमाम्।।"

जुलाई १९०२ ई. में मधुसूदन झा, जो 'ओझा' जी के नाम से पूरे राजस्थान में विख्यात थे, सम्राट् सप्तम एडवर्ड के राज्याभिषेक के अवसर पर जयपुर नरेश महाराज माधवसिंह के साथ ब्रिटेन गये। वहाँ इन्होंने जो भाषण दिया, उससे वहाँ उपस्थित सारे लोग प्रभावित हुए थे। यहाँ तक कि ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के डॉ. मैकडोनल, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के डॉ. बैण्डल और इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी के डाइरेक्टर डॉ. टॉमस भी। इसका परिणाम यह हुआ कि विद्वानों के द्वारा वहाँ कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में इनका बड़े धूम-धाम से सम्मान किया गया और सम्राट् एडवर्ड के द्वारा स्वर्णपदक के साथ 'सर्टिफिकेट ऑफ ऑनर' भी दिया गया। सही ही कहा है — 'विद्वान् सर्वत्र पूजयेत्'।

वेदमंत्रों के द्वारा आधुनिक विज्ञान पद्धति को प्रमाणित करने की आपमें जो अनुपम कला थी, वह आज तक किसी और में नहीं हो सकी। आपने अपना सारा जीवन वेद-विज्ञान की व्याख्या करने में ही लगा दिया। आपके रचित या व्याख्यायित ग्रन्थों की यदि संख्या देखी जाय तो वह लगभग सौ को भी पार कर जाएगी। इन्हीं ग्रन्थों में प्रमुख हैं — छन्दः समीक्षा, वेद समीक्षा, धर्मसमीक्षा, महर्षिकुलवैभवम्, जगद्गुरुवैभवम्, इन्द्रविजय, गीताविज्ञानम्, शारीरिक विमर्शः, विज्ञानविद्युत्, ब्रह्मविज्ञान प्रवेशिका, ब्रह्मचतुष्पदी, ब्रह्मसमन्वय, देवतानिवित् आदि। नासदीय सूक्त में प्रतिपादित दशवादों पर भी आपने पृथक्- पृथक् दश स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की है, जो — सदसद्वाद, व्योमवाद, आवरणवाद,

रजोवाद, अपरवाद,. दैववाद, अमृतमृत्युवाद, अम्भोवाद, अहोरात्रवाद एवं संशयोच्छेदवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। अपने मित्रों के परामर्श पर इन्होंने इन दशवादों को संक्षेप करके 'दशवादरहस्य' नामसे एक पृथक् ग्रन्थ की भी रचना की है। जब कि विज्ञानेतिवृत्तिवाद एवं सिद्धान्तवाद नामक ग्रन्थों को उपर्युक्त दश वादग्रन्थों के साथ जोड़कर 'द्वादशग्रन्थी' के नामसे जाना जाता है। 'ब्रह्मसिद्धान्त' नामक इनके एक ग्रन्थ का प्रकाशन १९६१ में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के द्वारा हिन्दू विश्वविद्यालय से हुआ है। पथ्यास्वस्ति, अत्रिख्याति, यज्ञमधुसूदन आदि आपके ग्रन्थ साक्षात् या परम्परया वैदिक साहित्य से ही सम्बद्ध हैं।

यहाँ यह स्मरणीय है कि म.म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पं. मोतीलाल शास्त्री, पं. सूर्यनारायण आचार्य, पं. मदनलाल शास्त्री, पं. चन्द्रदत्त चौधरी, वेदतीर्थ पं. जयचन्द्र झा, पं. आद्यादत्त ठाकुर आदि आप ही के शिष्य थे। आपकी अनुमप विद्वत्ता की प्रशंसा किसी ने इस प्रकार की है —

"विख्याता बुधमण्डले सुरगुरु प्रख्यप्रतिष्ठाजुषः,
प्रौढ़ाऽनेकनिबन्धनिर्मिति भवत्कीर्त्तिप्रकर्षोज्ज्वलाः।
वेदज्ञप्रवरानृपाश्रयलसत्सौभाग्यसन्दीपिता,
ओझाश्रीमधुसूदनाख्यविबुधा राजन्ति विद्वद्वराः ॥"

देवानन्द झा — रमौली ग्रामनिवासी पं. देवानन्द झा की एक ही रचना उपलब्ध होती है, और वह है कठोपनिषद् की व्याख्या। ये अपने समय के अच्छे पौराणिक और वैदिक थे।

मुकुन्द झा वक्शी — महामहोपाध्याय पण्डित वख्शीजी का जन्म करमहे-अहपुर मूलक वत्सगोत्र में सन् १२७६ साल (१८६९ ई.) में इनके ननिहाल रोहाड़-भवानीपुर में और १९३८ ई. में काशीलाभ हुआ था। इनका पैतृक ग्राम मधुबनी जिला में ढ़ंगा - हरिपुर था, जहाँ आज भी इनके वंशज बसते हैं। आपके पिता का नाम नन्दलाल झा था, जो मुशली झा से प्रसिद्ध थे। पहले तो आप मिथिला में ही रहकर म.म.

चित्रधर मिश्र एवं म.म. जयदेव मिश्र के श्रीचरणों में बैठकर सरस्वती की साधना की, फिर बाद में काशी आकर म.म. गंगाधर शास्त्री से विद्यार्जन कर स्वदेश लौट आये और १९१९ से १९३५ पर्यन्त, कुल १६ वर्षों तक आपने मुजफ्फरपुर के धर्मसमाज संस्कृत महाविद्यालय में कर्मकाण्ड का अध्यापन किया। इस अवधि में आप वहाँ के प्रधानाचार्य का दायित्व भी वर्षों निर्वाह किये। यहाँ से अवकाश ग्रहण करने के बाद आप पंजाब के पटियाला नरेश सर भूपेन्द्रसिंह महेन्द्रबहादुर के दरवार में द्वारपण्डित बने, पर अधिक दिनों तक रह न सके। १९३८ में आप काशी वास करने आ गये और इसी वर्ष पंचतत्त्व में लीन हो गये।

आपके रचित ग्रन्थों में मैथिली व्याकरण, अमरकोश की मैथिली व्याख्या, मिथिला भाषामय इतिहास, कर्महाकुल प्रशस्ति, अमृतोदय-गौरी दिगम्बरप्रहसन-भर्तृहरिनिर्वेद नाटकों की संस्कृत व्याख्या, मंत्रार्थ प्रदीप, प्राकृतमंजरीटीका, मुक्तावलीप्रभा तो हैं ही; वल्कि वैदिक रचनाओं में गोभिल गृह्यसूत्र की 'मृदुला' व्याख्या, लाटायन श्रौतसूत्र की 'सरला' व्याख्या, निरुक्त विवृति आदि प्रसिद्ध हैं। इनकी निरुक्त वृत्ति, दुर्गाचार्य की वृत्ति पर आधारित और निर्णय सागर से प्रकाशित है, मेहरचन्द्र के यहाँ से इसका पुनर्प्रकाशन भी हो चुका है।

पीताम्बर उपाध्याय — फणिदह मूलक पीताम्बर विद्यानिधि से भिन्न और अर्वाचीन पौना ग्रामवासी वैदिक पीताम्बर उपाध्याय एक अच्छे कवि और सफल व्याख्याकार भी थे। इन्होंने कठोपनिषद् की पद्यमयी व्याख्या बनायी, जो प्रकाशित है।

त्रिलोकनाथ मिश्र — गोसपुर (जिला - भागलपुर) के म.म. पं. पदार्थ मिश्र के पुत्र एवं दरभंगा स्थित महारानी अधिरानी रामेश्वरलता संस्कृत महाविद्यालय के पूर्व प्रधानाचार्य पं. त्रिलोकनाथ मिश्रजी अनेक ग्रन्थों के कर्त्ता एवं व्याख्याकार हैं, जिनमें ऋग्वेदभाष्यभूमिका की 'बादरीनाथी' व्याख्या मुख्य है। आपका पाण्डित्य व्याकरण-धर्मशास्त्र और वेद तीनों में समान था। यह बहुत कम ही लोगों को ज्ञात होगा कि पण्डितजी एक अच्छे घनपाठी भी थे, जो मुझे उनके शिष्य पं. काशीनाथ झा (बिट्ठो) से

विदित हुआ।

इन सबसे पहले, वैदिक काल में जनक, याज्ञवल्क्य की तो बात ही क्या, वेद-वेदान्त में अवला और अनर्हा समझी जानेवाली मैत्रेयी, गार्गी, सुलभा, सुनयना आदि का नाम भी वेद-वेदाङ्ग के क्षेत्र में कदापि भुलाया नहीं जा सकता। जब कि अथर्ववेद सम्बद्ध 'कौशिक सूत्र' के प्रणेता **कौशिकमुनि** का सम्बन्ध भी मिथिला से रहा है। आपका आश्रम (कौशिकाश्रम) सप्तरी प्रगन्ना के हैमवतवन में था, जो आज नेपाल में स्थित है।[१८]

शाहपुर ग्राम निवासी वैदिक **दामोदर झा** का 'मंत्रार्थ चन्द्रोदय' सुप्रसिद्ध है, जो इनकी मौलिक रचना है। परन्तु **कृष्णानन्द झा** का 'भागवत प्रकाश' देवीभागवत की बड़ी विलक्षण व्याख्या कही जाती है। इन सबसे प्राचीन **नरहरि** नामक आचार्य ने मुण्डकोपनिषद् पर एक भाष्य की रचना की थी। तथा **गौरधर** नामक विद्वान् ने यजुर्वेद की 'वेद विलासिनी' टीका लिखी थी। जबकि दरिहरामूलक लघुकारिकाकार **विष्णुशर्मा** अपने समय के अद्वितीय वैदिक विद्वान् थे; इसी 'लघुकारिका' के नामसे एक दूसरी रचना के कर्त्ता **सहदेव शर्मा** बताये जाते हैं। दरिहरे रतौली मूलक वैदिक भगीरथ झा के पुत्र लोहना ग्रामवासी वैदिक **नित्यानन्द झा** अर्वाचीन वैदिक विद्वानों में प्रखर थे, जो महाराज माधवसिंह के समधी भी थे। माण्डरकुल सम्भूत काश्यपगोत्रीय वैदिक **विश्वम्भर झा** म.म. यज्ञपति उपाध्याय के भ्रातृज और विभाकर के पुत्र थे। जब कि विगत शताब्दी में पाहीटोल के **पं. विन्ध्यनाथ झा** एवं **पं. गणनाथ झा** के द्वारा क्रमशः यजुर्वेद एवं ऋग्वेद का आंग्लानुवाद तथा मैथिली अनुवाद हुआ था।

जिन्होंने वैदिक साहित्य में कोई रचना तो नहीं की है और न ही जिनका उल्लेख किसी अन्य ने अपनी रचनाओं में किया है; ऐसे वैदिक भी मिथिला में पर्याप्त हुए हैं। जो केवल संहितापाठ-पदपाठ-क्रमपाठ-जटापाठ-मालापाठ-शिखापाठ-लेखापाठ-ध्वजापाठ-दण्डपाठ-रथपाठ और घनपाठ के द्वारा वेद के प्रचारक बने, वैदिक विद्वान् थे और अपने समय

में वेद का अध्यापन कर लोगों को नैष्ठिक और कर्मनिष्ठ बनाते थे। ऐसे वैदिकों का नाम पंजी प्रबन्ध में यत्र - तत्र देखे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ नामों[१९] को दिया जा रहा है, जिससे मिथिला के रचना-विमुख वैदिक विद्वानों पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है —

मड़रय सिहौल मूलक काश्यप गोत्रीय पं. मेधापति झा के पुत्र वैदिक अक्षपति झा, इसी मूलक थोथी प्रसिद्ध भवानीदत्त झा के पुत्र वैदिक गिरिधारी झा और गोसाईं झा, उपर्युक्त वैदिक अक्षपति झा के पुत्र जीवपति झा, भोजपति झा तथा उनके सवंश्य परमानन्द झा के पुत्र वैदिक परशुराम झा, नरहरि झा के पुत्र वैदिक लक्ष्मीनाथ झा, पुरन्दरसुत गोनू झा एवं गोनू झा के पुत्र गंगादत्त झा, विभाकर झा के पुत्र विश्वम्भर झा तथा इसी समय के पुरन्दरसुत हेमांगद झा आदि कितने वैदिक इस मड़रय वंश में हुए हैं, जिन सभी का उल्लेख करना सम्भव नहीं है। परन्तु कुछ वंश के उल्लेखनीय वैदिकों का नाम छोड़ देना भी उचित न होगा। जैसे —

बलियासय नरसाम मूलक काश्यप गोत्रीय वैदिक गणपति मिश्र के पुत्र आदिनाथ मिश्र, कलाधर मिश्र, वैयाकरण घनश्याम मिश्र के पुत्र कुलपति मिश्र, गणपति मिश्र, वैदिक कलाधर मिश्र के पुत्र वैदिक मणिधर मिश्र; दरिहरय रतौली मूलक काश्यपगोत्र के ही अनिरुद्ध झा के पुत्र वैदिक केशव झा, गोपाल झा के पुत्र पं. जीवनाथ झा, म.म. माधव झा के पुत्र भगीरथ झा एवं इनके पुत्र वैदिक नित्यानन्द झा, विधु प्रसिद्ध देवनाथसुत यदुनाथ झा, रघुनाथसुत वीरेश्वर झा, इसी गोत्र के किन्तु पलिवार परोही मूलक वैयाकरण आँखी झा के पुत्र वैदिक गंगाधर झा, सकढ़िवार परहट मूलक कवि नकटू प्रसिद्ध विष्णुदत्त झा के पुत्र वैदिक चन्द्रदत्त झा, सतलखा मूलक बेचूझा के आत्मज धरणीधर झा, बलखण्डी झा, खौआल मूलक कमलाधर झा के आत्मज वैदिक पीताम्बर झा, अनिरुद्ध झा के आत्मज हरिनन्दन झा आदि।

सोदरपुर हाटी मूलक शाण्डिल्यगोत्रीय सोनी मिश्र के पुत्र वंशमणि मिश्र एवं इसी वंश के कटका शाखासंभूत धरणीधर मिश्र के पुत्र गोकुलनाथ मिश्र, तो मूर्द्धन्य वैदिक थे ही; वल्कि भारद्वाज गोत्रीय एकहरे

खरकामूलक वैयाकरण रघुनाथ झा के पुत्र गिरिधर झा, भक्तिधर झा, वंशीधर झा तीनों भाई अपने समय के मूर्द्धन्य वैदिकों की कोटि में आते हैं। इसी प्रकार वत्सगोत्रीय करमहा मूल में भी बहुत सारे वैदिक हो गये हैं; जिनमें मझौरा शाखा संभूत लालमणि झा के पुत्र चंचल झा, तरौनी शाखा संभूत हरि झा के पुत्र जानकीनाथ झा, बेहट शाखा सम्भूत राघव झा के पुत्र बिराई झा मुख्य हैं। जब कि इसी गोत्र के हरिअम्बय बलिराजपुर मूलक हरिनाथ मिश्र के पुत्र देवानन्द मिश्र, हरिअम्बय शिवा मूलक सन्तोषमणि मिश्र के पुत्र बबुजन मिश्र, घोसौतय नगवार मूलक गदाधर ठाकुर के पुत्र आगमाचार्य नृसिंह ठाकुर तथा उनके सवंश्य कलानाथ ठाकुर के पुत्र मुकुन्द ठाकुर आदि प्रमुख वैदिक विद्वान् मिथिला की विभूति माने जाते हैं। इसी तरह वैदिक सुन्दरलाल झा (बेलौंजा), वै. भीमानन्द झा (लोहना) का नाम भी प्रमुखता से लिया जा सकता है।



१. भागवत,९/१३/२७ ।
२. शिक्षा सुधा, पुरी, १/४, मार्च - २००३ ।
३. NCC Vol.I, P.-297 ।
४. कृ.मा.चिन्तामणि, भाग II, पृ. - 1 ।
५. कृ.मा.चिन्तामणि, भाग II, पृ. - 1 ।
६. कृ.मा.चिन्तामणि, भाग II, पृ. - 1 ।
७. हस्तलेख विभाग की मातृका सं. ३/११/५९८ ।
८. मिथिलांक, पृ. - २४ ।
९. प्राचीन भारत का इतिहास, डॉ. स्मिथ, तृतीय संस्करण, पृ. - ४०३ - ४०७ ।
१०. मि.त.वि., पृ. - ८९ ।
११. मि.त.वि., पृ. - ३७ ।
१२. History of Navya Nyaya in Mithila - Dinesh Chandra Bhattacharya, P.-71.
१३. K. M. Chintamani, Part - II, P. 1.
१४. K. M. Chintamani, Part - II, P. 1.
१५. नोटिसेज ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स - मित्र ।
१६. सं.सा.इ., लोकमणिदाहाल, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, १९९३ ।
१७. द्रष्टव्य - मनीषा - १/२, १९७४, दरभंगा, जीवानन्द ठाकुर का लेख - खण्डवला-कुलोद्भवानां संस्कृत सेवा ।
१८. मि. त. वि. ।
१९. कृ. मा. चि. II भाग, पृ. - १-४ के आधार पर ।

द्वितीय पीठिका

उपवेदों में मिथिला का अवदान

आयुर्वेद — ब्रह्माजी के उपदेश से प्रारम्भ हुआ यह अष्टाङ्ग सम्बलित आयुर्वेद शास्त्र धीरे - धीरे जब सम्पूर्ण विश्व में फैल गया तो फिर इसके प्रभाव और विस्तार से मिथिला पीछे कैसे रह पाती ?

आचार्य वाचस्पति गैरोला के मत में मर्त्यलोक को शालाक्य तंत्र का प्रथम ज्ञान निमि ने ही दिया था, जिस कारण उन्हें आद्यभिषक् कहा गया है[१]। इनकी 'वैद्यक संहिता' यद्यपि उपलब्ध नहीं है, परन्तु शालाक्यतंत्र की व्याख्या में श्रीकण्ठाचार्य ने इनका कई बार उल्लेख किया है। यथा कर्णरोगाधिप्रकरण में वे लिखते हैं — "तथा च निमिः वैद्यक संहितायाम् —

श्लेष्मपित्त जलोन्मिश्रे कोथे शोणितमांसजे ।
जायन्ते जन्तवस्तत्र कृष्णास्ताम्राः सितारुणाः ।।"

इसी प्रकार नेत्ररोगाधिप्रकरण में यथा — "तथा च निमिः —

पञ्चभूतात्मिका दृष्टिर्मसूरार्द्धदलोन्मिता ।
का च इत्येष विज्ञेयो यः स्यात्त्रिपटलोत्थितः ।।" आदि । अष्टाङ्ग हृदय[२] के अनुसार निमि शालाक्यतंत्र के कर्त्ता हैं; जो शालाक्य तंत्र पर ही एक दूसरे तंत्र के रचयिता 'कराल' के गुरु थे।[३] ये कराल भी मैथिल थे, उन्हीं के साथ तीरभुक्ति आये थे, जिन्हें डॉ. मुखोपाध्याय ने 'कराल भट्ट' नाम दिया है[४]।

वाल्मीकिरामायण[५], वायुपुराण[६], ब्रह्माण्डपुराण[७] आदि के अनुसार निमि इक्ष्वाकुवंशीय राजा हैं, जो मिथिला के जनकवंश के आदि पुरुष हैं। इन्हें ही विदेह हो जाने के बाद मथा गया और उस मन्थन से मिथि या मिथिल का जन्म हुआ। यही 'मिथिल' मिथिला के संस्थापक हैं। मिथि का जन्म माता-पिता के विना हुआ था, अतः वे स्वयं अपने पिता थे। इसी कारण उनको 'जनक' कहा गया है। इस जनक के बाद 'जनक'

शब्द संज्ञा न रहकर उपाधि हो गयी।[८] मिथि का भी कई पुराने ग्रन्थों में वैद्यक शास्त्र के प्रणेता या व्याख्याता के रूप में उल्लेख हुआ है। परन्तु इनका कोई भी सिद्धान्त या मत कहीं भी किसी भी रूप में प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार मिथि के वंशज सीरध्वज जनक, जो जगज्जननी जानकी के पिता के रूप में प्रसिद्ध हैं - ने भी आयुर्वेद संहिता बनायी थी। यह ग्रन्थ भले ही प्राप्त न हो, पर जनक का उल्लेख और उद्धरण बहुतों जगह आया हुआ है और इनको प्रमाण रूप में लिया गया है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में भी कहा गया है कि "चकार जनको योगी वैद्य सन्देह भञ्जनम्"। इससे निश्चय ही वे किसी वैद्यक संहिता के कर्त्ता सिद्ध होते हैं। और तो और, उत्तरतंत्र के आरम्भ में शुश्रुत ने भी विदेहराज का इस प्रकार उल्लेख किया है — "शालाक्य शास्त्राभिहिता विदेहाधिप कीर्त्तिताः", जिसकी व्याख्या में डल्लन नामक विद्वान् लिखते हैं — "अस्याग्रे केचित्, विदेहाधिपतिः श्रीमान् जनको नाम विश्रुतः। ....." चरक भी अपने शारीरिक सूत्र में लिखते हैं — "इन्द्रियाणीति जनको वैदेहः"। इस उद्धरण से यह साफ हो जाता है कि विदेहराज और कोई नहीं, सीरध्वज महाराज जनक ही हैं।

शुश्रुत के उत्तरतंत्र में व्याख्याता डल्लन कहते हैं कि — "तथा च विदेहवाक्यम् — समन्ताद्विस्तृतः श्यावो रक्तो वा मांस सञ्चयः।
सन्निपातेन दोषाणां प्रस्तार्य्यर्म तदुच्यते ।।"

डल्लन आगे और विदेहवाक्य का उद्धरण देते हैं —

"अन्तर्गत शिरायान्तु यदा तिष्ठति मारुतः।
स तदा नयनं प्राप्य शीघ्रं दृष्टिं निरस्यति ।।"

'माधव निदान' ग्रन्थ (अरोचाधिकार) की टीका में आचार्य विजय रक्षित ने भी विदेहराज को उद्धृत किया है — "यहाद विदेहः — क्रोधशोकौ स्मृतौ वातपित्तरक्त प्रकोपणौ" और भी जैसे — "यदाह विदेहः — पित्तेन तिक्तास्य विदेहकृत स्यात्स्वाद्वांस्यहृल्लासकरः कपेन"। श्रीकण्ठाचार्य भी कई वार इनका उल्लेख करते हैं। उदाहरण स्वरूप नासारोगाधिकार में ही जैसे — "तथा च विदेहः — सर्वलिंग रुजायुक्तमर्व्वुदं

विद्धिसर्वजम्" और भी जैसे — "तदुक्तं विदेहे — नक्तमन्धास्तु चत्वारो ये पुरस्तात्प्रकीर्त्तितः"[९] आदि।

विदेहराज मिथि के पुरोहित थे महर्षि गौतम, जिनकी गवायुर्वेद संहिता की चर्चा कई ग्रन्थों में पायी जाती है, पर वह स्मृतिशेष ही है। किन्तु इतनी बात तो कही ही जा सकती है कि इसमें पशुओं की चिकित्सा वर्णित थी। महर्षि गौतम, भिषकराज इन्द्र के शिष्य थे।[१०] इन्होंने अन्य विद्याओं के साथ-साथ आयुर्वेद की भी शिक्षा इन्द्र से ही ली थी। जब आयुर्वेदज्ञ मुनियों में एक वार किसी विषय को लेकर विवाद खड़ा हुआ, तो उसके निर्णयार्थ गौतम सहित अन्य सभी ऋषि, आत्रेय ऋषि के पास गये, जहाँ गौतम ऋषि के पक्ष को प्रबल और सही माना गया था[११]। महर्षि गौतम के वचन को महामति विजयरक्षित ने 'माधव निदान' ग्रन्थ की टीका (अर्थाधिकार) में उद्धृत किया है — "यदाह गौतमः —

श्लेष्मा च पञ्चघोरस्थः श्लेषकादि स्वकर्मणा।
कफधाम्नाञ्च सर्वेषां यत्करोत्यवलम्बनम्॥

अतोऽवलम्बकः श्लेष्मा यस्त्वामाशय संश्रितः।
क्लेदकः सोऽन्नसंघात क्लेदनाद्रसबोधनात्॥

बोधको रसनास्थस्तु शिरः संस्थोऽक्षितर्पणात्।
तर्पकः श्लेषकः सम्यक् श्लेषणात् संधिषु स्थितः॥"

इसके अतिरिक्त गौतम के ज्वर विषयक मत का उल्लेख अष्टांग हृदय[१२] में भी देखने को मिलता है। इन्हीं गौतम के वंशज थे महर्षि वामदेव, जो राजा दशरथ के ऋत्विक् थे[१३] और जिन्होंने एक 'आयुर्वेद संहिता' की रचना की थी।[१४]

एक गार्ग्य को मिथिला का तापसी बताया गया है, परन्तु ये कौन गार्ग्य हैं, कहना कठिन है। क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों व पुराणों से कुल चार गार्ग्यों का पता चलता है। जैसे — दृप्तबालाकि गार्ग्य[१५], शौशिरायण गार्ग्य[१६], शौर्यमणि गार्ग्य[१७], एवं ऊर्ध्ववेणीकृत गार्ग्य[१८] इनमें से एक के शालाक्यतंत्र का उद्धरण काश्यप संहिता (पृ. - १०९) में प्राप्त होता है,

जिनसे उनके भिषक् होने का प्रमाण मिलता है। धन्वन्तरि के शिष्य, अंगिरा के समकालीन यही गार्ग्य चरक के सूत्रस्थान (१/१०) में भी स्मृत हुए हैं।

इसी प्रकार सुश्रुत के टीकाकार चक्रपाणि ने ऋतुचर्या प्रकरण में महर्षि कपिल के मत को उद्धृत किया है, जिससे कपिल के भिषक होने का पता चलता है। जैसे — "तदुक्तं कपिलवचने —

मघौ सहे नभस्ये च मासिदोषान् प्रवाहयेत्।
सहस्य प्रथमे चैव वाहयेद्दोष सञ्चयम्।।" (सूत्र - ६)

इन प्राचीन ऋषि-महात्माओं व राजाओं के अतिरिक्त भी मिथिला में आयुर्वेद पर कई कार्य होते रहे हैं, कहीं ये कार्य मौलिक रूप में देखे जाते हैं, तो कहीं व्याख्यान रूप में। परन्तु ऐसे कार्यों का प्रारम्भ. उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यदि कहा जाय, तो ग्यारहवीं शताब्दी से ही होता है, जिसे मैथिल आयुर्वेद के क्षेत्र में एक स्वर्णयुग कहा जा सकता है।

ईसा की इसी शताब्दी में एक कर्णकायस्थ आचार्य हुए म.म. चक्रपाणिदत्त. जिन्होंने आयुर्वेद के क्षेत्र में कई बड़े काम किये हैं। सुश्रुत और चरक संहिताओं पर इन्होंने बड़ी विलक्षण और प्रख्यात व्याख्याओं की रचना की है, जब कि 'चिकित्सासार' नामक मौलिक कृति भी इनकी बड़ी उपयोगी और प्रसिद्ध है। कुछ लोगों के मत में 'चक्रपाणि' (न कि चक्रपाणि दत्त) मैथिल नहीं हैं; पर उनका वैवाहिक सम्बन्ध मिथिला से था और कुछ ऐतिहासिकों के अनुसार इनका वहाँ अध्ययन मात्र हुआ था। जो भी हो, मिथिला से इनका कोई न कोई सम्बन्ध तो सब मानते ही हैं। परन्तु न्यायसूत्र पर लिखी गयी आपकी वृत्ति[११] से आपका मैथिल होना और पालवंशीय बंगभूपाल के दरवार में स्थित होना सिद्ध होता है। लगभग इसी समय में वर्द्धमान और सुरेश्वर भी हुए, जिन्होंने क्रमशः अश्वचिकित्सा पर 'योग मञ्जरी' की और आयुर्वेदिक कोश ग्रन्थ 'शब्दप्रदीप' की रचना की हैं। कई प्राचीन ग्रन्थों में 'अश्ववैद्यक' नामके किसी ग्रन्थ

विशिष्ट का उल्लेख और उद्धरण प्राप्त होता है। इतिहासकारों के मत में इसके कर्त्ता जयदत्त मिश्र अपने समय के मूर्द्धन्य भिषकों में गिने जाते थे, जिनका काल वही ग्यारहवीं शताब्दी बताया जाता है।

राजनिघण्टु के कर्त्ता नरहरि का समय तेरहवीं - चौदहवीं शताब्दी का मध्यभाग निश्चित होता है, जो वैद्यकशास्त्र के कोश-ग्रन्थकारों में प्रमुख रहे हैं। आप शृंगारशतककार, मुण्डकोपनिषद् भाष्यकार, काव्यप्रकाश व्याख्याकार नरहरियों से भिन्न हैं। इसी समय के आसपास अथवा कुछ पश्चात् रहे होंगे, म.म. मीमांसक विश्वरूप से भिन्न, लौहसर्वस्वकार विश्वरूप मिश्र, जिनके 'लौह सर्वस्व' की प्रतिलिपि १४३२ ई. में किसी 'लक्ष्मण' नामक विद्वान् ने की थी।

कृष्णदेवसुत भवदेव मिश्र (भाव मिश्र ?) से भिन्न एक दूसरे आचार्य, भाव मिश्र (१६ वीं श.) नामके हुए हैं, जो आयुर्वेद के क्षेत्र में एक सुपरिचित और विख्यात नाम है। इनसे ही आयुर्वेद की एक नयी, किन्तु उज्ज्वल परम्परा प्रतिष्ठित होती दिखायी देती है; जिन्होंने भावकुतूहल-भावप्रकाश आदि की रचना की है। अपने नाम पर पुस्तक-प्रणयन की शुरुआत आप ही से हुई है, जिसको और आगे बढ़ाया है, भिषकराज पं. शिवदत्त मिश्र ने 'शिवप्रकाश' नामक आयुर्वेदीय कोषग्रन्थ लिखकर। शिवदत्त आपके बहुत ऋणी हैं, जिनका समय शिवप्रकाश का १६७७ ई. में रचित होने के कारण १७ वीं श. का उत्तरार्द्ध निश्चित होता है।[२०] आप नलोदयकाव्य तथा काव्यप्रकाश के टीकाकार शिवदत्त मिश्र से भिन्न और प्राचीन हैं। भाव मिश्र के पिता का नाम श्री लटकन मिश्र था[२१], जब कि 'प्रायश्चित भवदेव', 'भावविवेक' (?) आदि के रचयिता भावमिश्रापरनामक भवदेव के पिता कृष्णदेव मिश्र का उपनाम भी 'भटक मिश्र' था। अतएव बहुतों विद्वान् भावप्रकाश-भावविवेक-भावकुतूहल-प्रायश्चित्तभवदेव आदि के रचयिता भाव मिश्र एवं भवदेव मिश्र (भावमिश्रापरनामक) को एक ही व्यक्ति मानते हैं। लगभग समय साम्य एवं पितृनाम आदि की समानता के कारण।

'स्त्रीविलास' के रचयिता देवेश्वर का समय जहाँ १७ वीं शताब्दी

निर्धारित है, वहीं वाग्भट्ट प्रणीत अष्टाङ्ग हृदय के 'संकेतमञ्जरी' टीकाकार दामोदर मिश्र[२२] का समय निश्चित नहीं हो सका है। परन्तु माधव मिश्र, जिन्होंने आयुर्वेद में रसविहार[२३] नामक कृति बनायी है और जो पण्डित गोविन्द मिश्र (शर्मा) के पुत्र थे — का समय १७ वीं शताब्दी बताया जाता है। इनका मूल नाम पुरुषोत्तम मिश्र था और ये श्रुतबोध (इसकी व्याख्या १६४० ई. में हुई), किरातार्जुनीय, हंसदूत आदि साहित्यिक ग्रन्थों के टीकाकार भी थे। न जाने रामचन्द्रोदय काव्य के रचयिता माधव मिश्र से आप भिन्न हैं या नहीं, पर दार्शनिक माधव मिश्र आपसे अभिन्न नहीं ही थे। हाँ, कामशास्त्र में रतिविहार अथवा रतिविस्तार के रचयिता माधव मिश्र से आप अभिन्न अवश्य हैं। इसी प्रकार 'पथ्यापथ्यनिघण्टु' नामक वैद्यकशास्त्र के कोशग्रन्थकार वंशधरोपाध्याय का परिचय और समय दोनों अज्ञात हैं। म.म. पक्षधर उपाध्याय नामक अनेकों आचार्यों में अन्यतम रहे पक्षधर रसायनतंत्रकार के रूप में सुप्रसिद्ध हैं। आयुर्वेद के निष्णात और प्राकृतिक चिकित्सा के महारथी, इन्होंने आयुर्वेद में आसवारिष्ट विज्ञान एवं अष्टाङ्ग संग्रह टीका की रचना की है। जब कि इनकी ही रतिमञ्जरी व्याख्या कामशास्त्र में बतायी जाती है। इसी प्रकार रसरत्नावली[२४] के कर्त्ता वीरेश्वर का विश्वेश्वर नामान्तर कहा जाता है। सर्वतंत्रस्वतंत्र पं. बच्चा झा के पितामह नवानी ग्रामवासी म.म. रत्नपाणि झा का 'नाड़ीविज्ञान' वैद्यकशास्त्र का बड़ा ही विलक्षण ग्रन्थ है। जब कि बिट्ठो के पं. गोवर्धन झा के पुत्र पं. सीताराम झा का 'नाड़ीविज्ञान' मैथिली भाषा में लिखा गया है। इनके अग्रज पं. विजयनाथ झा ने भी कोई रचना की थी, पर वह उपलब्ध नहीं है। मिथिला के अन्य प्रमुख भिषकों में परिगणनीय हैं, पं. हरिश्चन्द्र झा कविराज, पं. विजयनाथ झा (जीवनाथ झा वैद्य), पं. राम झा, पं. हरे झा, पं. जीवछ मिश्र, पं. ठक्कन झा, पं. राघवेन्द्र झा वैद्य, पं. लोकनाथ झा (सीताराम झा वैद्य), पं. राजा झा आदि। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि दर्शन आदि की भाँति ही आयुर्वेद में भी मिथिला का योगदान किसी से न्यून नहीं है। यहाँ के आचार्य एवं पण्डित इस शास्त्र के प्रणयन एवं संरक्षण में भी अग्रगण्य रहे हैं।[२५]

कामशास्त्र — कामशास्त्र को विद्वानों ने आयुर्वेद का ही एक भाग या अंग माना है, अतः हमने भी इसे आयुर्वेद वाले विषय में ही पिरोया है। इस शास्त्र में भी मिथिला के योगदानों को भुलाया नहीं जा सकता। परन्तु इसका भी प्रारम्भ हुआ मिथिला में ११ वीं शताब्दी से ही, जब आचार्य चक्रपाणि दत्त ने 'रतिविलास' की रचना की थी। वैद्यकशास्त्र के महान् आचार्य चक्रपाणि दत्त का साहित्य में भी योगदान रहा है, जिन्होंने 'द्रौपदीपरिणय' नामक चम्पूकाव्य की रचना की है।

विदेह जनक के समकालीन हुए उद्दालक आरुणि, जिन्होंने ब्रह्मवेत्ता अश्वपति (मैथिल ?) से तत्त्वज्ञान की शिक्षा प्राप्त की थी। इन्हीं आरुणिके पुत्र थे श्वेतकेतु औद्दालिक, जो एक विलक्षण ब्रह्मवेत्ता थे। कहते हैं ये ही श्वेतकेतु कामशास्त्र के प्रवर्त्तक हैं।

१३ वीं शताब्दी के अन्त में ज्योतिरीश्वर ठाकुर नामक एक देदीप्यमान नक्षत्र का उदय होता है, जिन्होंने कामशास्त्रीय ग्रन्थ पञ्चसायक[२६] की रचना चार विभागों में की है। रंगशेखर-धूर्त्तसमागम और वर्णरत्नाकर भी इन्हीं की रचना मानी जाती है, पर मिथिला में दो ज्योतिरीश्वर ठाकुर के होने से यह कहना विरल अवश्य होगा कि किसने कौन सी रचना की थी। एक ज्योतिरीश्वर हुए गढ़ विसफी मूलक कर्मादित्य ठाकुर के वंशज, महाकवि विद्यापति के पूर्वज, जिनके पिता धीरेश्वर ठाकुर और पितामह देवादित्य ठाकुर थे। जब कि दूसरे ज्योतिरीश्वर पालीमूलकी अबरझट्टा शाखा में रामेश्वर ठाकुर के पौत्र हुए हैं, इनके भी पिता का नाम धीरेश्वर ठाकुर ही था। पर मुझे लगता है कि कामशास्त्रीय विषयवस्तुओं को संक्षेप में लिखनेवाले ज्योतिरीश्वर, सिमराँवनरेश हरिसिंह के मित्र, तेरहवीं शताब्दी के अन्त में रहे होंगे। पंचसायक में आपने लिखा है —

> "दृष्ट्वा मन्मथतन्त्रमीश्वरकृतं वात्स्यायनीयं मतम्,
> गोणीपुत्रक मूलदेवभणितं बाभ्रव्यकाव्यामृतम्।
> श्रीनन्दीश्वरचित्तिदेव भणितं क्षेमञ्च विद्यागमम्,
> एते कामिषु पंचसायकमिति प्रीतिप्रदं प्राणिनाम्॥"

आचार्य यशोधर मिश्र, जिन्होंने वैद्यकशास्त्र में रसप्रकाश सुधाकर की रचना की है, वात्स्यायन के कामसूत्र पर 'जयमंगला' टीका लिखनेवाले

प्रथम व्यक्ति हैं। जयमंगला कामसूत्र की प्रथम और प्राचीनतम टीका है। इन्होंने रतिमन्मथ नामक किसी ग्रन्थ की मन्मथदीपिका नामसे टीका भी की थी, जो आज उपलब्ध तो नहीं, पर चर्चित अवश्य है। यशोधर, यशोधरचरित महाकाव्य, प्रद्युम्नचरित महाकाव्य[२७] तथा काव्यप्रकाशसुधाकर के रचयिता पद्मनाभसुत यशोधर से अभिन्न हैं।

मिथिला नरेश राजा कंसनारायण लक्ष्मीनाथ की आज्ञा से रचित जयदेव उपाध्याय की कामकेलिकला या कामकेलिमाला कामशास्त्र की अनुपम निधि मानी गयी है। जब कि माधव मिश्र का रतिविहार, पक्षधर उपाध्याय की रतिमंजरी व्याख्या और प्रद्योतन मिश्र की वात्स्यायन कामसूत्र की कन्दर्पचूड़ामणि व्याख्या कामशास्त्र की मैथिल परम्परा को बढ़ाने में अहम भूमिका निभाती हैं। इसी प्रकार देवेश्वर उपाध्याय (१७ वीं श.) का स्त्रीविलास, चन्द्रशेखर उपाध्याय सुत हरिहर कां रतिदर्पण, भवानन्द ठाकुर का सदर्पकन्दर्प कामशास्त्रीय ग्रन्थों में उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

धनुर्वेद — धनुर्वेद, जो कि यजुर्वेद का उपवेद है, इसमें यहाँ बहुत काम नहीं हुआ है, केवल शाके १७२७ में मिथिला के पुष्पग्राम (पुपरी ?) निवासी आचार्य त्रिविक्रम मिश्र ने आयुधशास्त्र में 'पञ्चायुधप्रपञ्च'[२८] की रचना की थी ऐसा देखने और सुनने में आता है। अन्य किसी और विद्वान् ने इस विधा में अपनी लेखनी चलायी या नहीं, ज्ञात नहीं।

गान्धर्ववेद — सामवेद के इस उपवेद में मिथिला में आयुर्वेद को छोड़ सर्वाधिक कार्य हुआ है, यहाँ उसीका संक्षिप्त विवरण, आचार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है —

१. नान्यदेव — मिथिला में कर्णाटराजवंश के संस्थापक राजनारायण उपनामक नान्यदेव भवभूति के मालतीमाधव नाटक के व्याख्याकार हैं। इन्होंने १०९६-११३७ ई. के मध्य कभी किसी समय में भरत नाट्यशास्त्र पर एक भाष्य की रचना की थी, जिसका नाम भरतवार्त्तिक, सरस्वती हृदयभूषण या सरस्वती हृदयालंकारहार[२९] है। यह भाष्य १७ अध्यायों में विभक्त होकर दश हजार ग्रन्थियों में विभाजित है। संगीत विद्या में नान्यदेव का यह भाष्य एक महनीय कृति मानी जाती है। इसमें

दाक्षिणात्य, सौराष्ट्री, गुर्जरी, बंगाली, सैन्धवी आदि अनेक देशी रागों का विवेचन मिलता है। इनकी मालतीमाधव टीका 'विबुधरत्नावली' मात्र तीन अंक (८, ९, १०) पर ही उपलब्ध होती है, प्रथम से सात अंकों की व्याख्या प्राप्त नहीं होती। कृष्णमाचारियार के अनुसार आप किसी त्रिपुरारि के शिष्य और सलहाभट्टय परिवार के हरिश्चन्द्र के पुत्र थे।

२. ***जगद्धर*** — रत्नधरसुत जगद्धर, जिनका समय १५वीं श. माना जाता है — ने भोजदेव के सरस्वती कण्ठाभरण तथा भवभूति के मालतीमाधव पर टीका तो किये ही थे, वल्कि अन्य नाटकों पर भी व्याख्या लिखे थे। इनका दो ग्रन्थ मौलिक भी कहा जाता है, जिनमें एक 'शिवस्तोत्र' है तो दूसरा संगीतशास्त्र में 'संगीतसर्वस्व'। इनमें संगीतसर्वस्व की चर्चा रुचिपति और राघव ने की है, पर ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता।

३. ***लोचनकवि*** — १५ वीं श. के आदि में राजा महिनाथ ठाकुर के द्वारपण्डित रहे म.म. लोचन उपाध्याय (लोचनकवि से प्रसिद्ध) ने रागतरंगिणी की रचना की थी, जिसमें राग-रागिनी या मूर्च्छनाओं के वर्गीकरण के स्थान पर मेल या थाट की दृष्टि से वर्गीकरण किया गया है। आप एकहरय कन्हौलीमूलक भारद्वाज गोत्रीय श्रोत्रिय तथा उजान (दरभंगा) ग्राम के वासी थे।

४. ***शुभङ्कर दास*** — साम्धिविग्रहिक श्रीधरदास के पुत्र शुभङ्कर दास के 'संगीतदामोदर' पाँच स्तवकों में बँटा है। इसमें हाव, भाव, अनुभाव, नायक, नायिका, रस एवं संगीत का बड़ा ही सुन्दर वर्णन हुआ है। इसका सम्पादन पं. गौरीनाथ शास्त्री के द्वारा १९६० में कलकत्ता से हुआ है।

५. ***दामोदर मिश्र*** — संगीत विद्या के क्षेत्र में दामोदर मिश्र का स्थान अन्यतम है, जिन्होंने जहाँगीर के समय (१६२५ ई.) में संगीतदर्पण की रचना की थी। इसमें लेखक ने उत्तर व दक्षिण की सांगीतिक पद्धतियों का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। साथ ही इसमें रागों का बड़ा ही विलक्षण वर्णन हुआ है। इस ग्रन्थ के महत्त्व को इसीसे आँका जा सकता है कि इसका फारसी अनुवाद १८ वीं श. में ही हो चुका था और बाद में इसका हिन्दी, गुजराती, बंगला अनुवाद भी प्रकाश में आये।

६. ***वंशमणि उपाध्याय*** — बिल्वपंचमूल के भारद्वाज गोत्रीय

वंशमणि उपाध्याय 'हरिश्चन्द्रनृत्यम्' के रचयिता रामचन्द्र उपाध्याय के पुत्र थे, जिसका उल्लेख आप हरकेलिकाव्य में इस प्रकार करते है —

"पितायस्यान्वीक्षाम्बुधि वहलनेचन्द्रमा रामचन्द्रो।
जगत्ख्याता माता जयमतिरिति भवानीववध्या ।।"

आप नेपालनरेश प्रतापमल्लदेव के आश्रित तथा नरपतिजयचर्या, गीत दिगम्बर, मुदित कुवलयाश्वनाटक, ऋगेदयदीपिका आदि के कर्त्ता है। आपने संगीत विद्या में 'संगीतभास्कर' नामसे एक अत्यन्त सुन्दर कृति की रचना की है। इसकी रचना आप जगज्ज्योतिर्मल्ल (१६११ - १६३१ ई.) की आज्ञा से किये थे। जैसा कि आप लिखते है —

"श्रीमज्जगज्ज्योति अधीश्वरस्य निदेशमासाद्य गुणोत्तरस्य।
संगीतशास्त्रस्य चकारटीका श्रीमैथिलीवंशमणिः मणीषाम् ।।"

७. ***सिंहभूपाल —*** संगीतरत्नाकर की व्याख्या, व्याख्यासंगीत एवं रसार्णवसुधाकर जैसे ग्रन्थों की रचना करके आपने संगीतशास्त्र को मिथिला में परम सशक्त बनाया। व्याख्या - संगीत में यद्यपि सात अध्याय हैं, पर प्रथम अध्याय मात्र (कलकत्ता से) प्रकाशित है।

अर्थशास्त्र — मिथिला में **म.म. चण्डेश्वर ठाकुर** ने 'नीतिरत्नाकर' एवं 'नीतिप्रकाशिका' ग्रन्थों को लिखकर अर्थशास्त्र की परम्परा को प्रशस्त किया है। इन्होंने 'राजनीति रत्नाकर' नाम से एक और अर्थशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें इन्होंने दो अन्य मैथिल विद्वानों की अर्थशास्त्र विषयक रचनाओं को उद्धृत किया है। इनमें प्रथम है लक्ष्मीधरकृत 'राजनीतिकल्पतरु' तथा दूसरी रचना का नाम है 'राजनीतिकामधेनु', जिसके कर्त्ता का उसमें उल्लेख नहीं है।

अन्त में बस इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अर्थशास्त्र और उसकी परम्परा के अध्ययन से एक बात सुतरां सिद्ध होती है कि संस्कृत साहित्य की मानवृद्धि में अर्थशास्त्र का निश्चय ही अविस्मरणीय योगदान रहा है और इसमें मिथिला भी किसी से पीछे नहीं है।



१. सं.सा.का. इति. पृ. – ७२१, सुश्रुतसंहिता, उ. २०/१३ ।
२. सूत्र - १/४ ।
३. सुश्रुतसंहिता उ. - १/४-७, चरक संहिता - चि. २६/१३०-३१ ।
४. डॉ. गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, हिष्ट्री ऑफ इण्डियन मेडीसिन, भाग - ३, पृ. - ७७१ ।
५. बाल. - ६७/३ ।
६. ८९/३ । ७. ३/६४ ।
८. भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का इतिहास, पृ. - १९० एवं आयुर्वेद का इतिहास, पृ. - २३० ।
९. इसे डल्लन ने भी उद्धृत किया है ।
१०. ऋ. १०/४८/५०, शत. ब्रा. ९/५/२/१ ।
११. चरक संहिता, सिद्धिस्थान, अध्याय - ११ ।
१२. निदान स्थान, अध्याय - २ ।
१३. वा. रा. ७/१ ।
१४. आयुर्वेद का इतिहास, भगवद्दत्त कृत पृ. - ५९-७९ ।
१५. शतपथ ब्राह्मण - १४/१/१ ।
१६. हरिवंश, पृ. - ५७ । १७. प्रश्नोपनिषद - ४/१ ।
१८. वायुपुराण - ३४/६३ ।
१९. न्यायालंकार की भूमिका, पृ. - २२ (बड़ौदा) तथा Commentetor's of Nyaya Sootra – विमर्श, प्रवाह - ३ ।
२०. पं. भगवद्दत्तजी, आयुर्वेद का इतिहास ।
२१. कल्याण, आरोग्याङ्क, वर्ष - २००१, अंक - १२, पृ. - ४८६ ।
२२. ये वाणीभूषणकार एवं संगीतदर्पणकार दामोदर मिश्रों से भिन्न हैं ।
२३. MM.-II, 134. २४. IO - ii - ३५९ ।
२५. इस लेख को लिखने में मिथिलांक, दरभंगा, १९३६ में प्रकाशित पं. हरिश्चन्द्र झा कविराज का लेख का पर्याप्त उपयोग किया है । – लेखक ।
२६. लाहौर एवं बम्बई से प्रकाशित, PR-ii 110, II, TC-iii, 4035. ।
२७. DC-XX -793. २८. CC-I, 317, CC-II, 261. ।
२९. इसकी मातृका BORI पुणे में रक्खी है ।
३०. १८९१ में जर्मनी से ऑगस्टस् कोनरेडी के सम्पादन में प्रकाशित ।
३१. वर्द्धमान वि. वि. से प्रकाशित ।

तृतीय पीठिका

व्याकरण में मिथिला का योगदान

व्याकरण शास्त्र की उत्पत्ति कब, कैसे और किसके द्वारा हुई — ये प्रश्न इतने विरल हैं कि इनका उत्तर दे पाना कठिन ही नहीं असम्भव भी है। वेद अपौरुषेय एवं नित्य है — ऐसा ऋषि-मुनि आचार्य और इतिहासकारों का मत है। उन वेदों में भी व्याकरण के प्रयोग, पदों की व्युत्पत्ति महज आसानी से देखी जा सकती हैं। संस्कृत वाङ्मय के प्राचीन ग्रन्थों से यह विदित होता है कि प्रत्येक विद्या का प्रथम प्रवक्ता और आचार्य ब्रह्माजी ही हैं।[१] ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता हैं, अतः व्याकरण की उत्पत्ति कब हुई होगी, सहज सम्वेद्य है। संस्कृत का आदि काव्य त्रेतायुग में महर्षि वाल्मीकि के द्वारा रचा गया; जिसके आधार पर यह सिद्ध है कि भगवान् राम के काल में व्याकरण शास्त्र का सुव्यवस्थित पठन-पाठन प्रचलित था।[२] वायुपुराण के अनुसार वायुदेव शब्दशास्त्र के विशारद हैं।[३] इतना ही नहीं; जब वेद अपौरुषेय और नित्य है और व्याकरण वेद के षडङ्गों में आता है, व्याकरण और वेद में आत्मा और शरीर के सदृश सम्बन्ध है, तब फिर इसकी उत्पत्ति बता पाना कितना दुष्कर है, यह स्वतः बोध्य है। इस शास्त्र की प्राचीनता के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मूल वेदातिरिक्त जितने ही भारतीय वैदिक वाङ्मय या लौकिक वाङ्मय के ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध हैं, व्याकरण का नाम्ना किंवा प्रायोगिक उल्लेख उसमें अवश्य मिलता है। कहते हैं ब्रह्मा के बाद सुरगुरु वृहस्पति ने ही व्याकरण का प्रवचन दिया था[४] और देवराज इन्द्र शब्दशास्त्र को संस्कारित अथवा सुसंस्कृत किये थे।[५]

प्रारम्भ में व्याकरण शास्त्र एक ही था, फिर ऐन्द्र और माहेश्वर भेदों से दो हुए। कालान्तर में तो इसकी संख्या धीरे - धीरे बढ़ती ही गयी। वर्तमान प्रसिद्धि के अनुसार कातन्त्र व्याकरण ऐन्द्र सम्प्रदाय का है। इसी प्रकार पाणिनीय व्याकरण शैव सम्प्रदाय का[६]। ऐतिहासिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो पाणिनि से प्राचीन ८५ व्याकरण प्रवक्ताओं के नाम हमें मिलते हैं। अकेले पाणिनि ने ही अपने से पूर्व हुए १० वैयाकरणों का नामोल्लेख किया है; ये हैं — आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव,

चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन।[७] अन्य ग्रन्थों व स्थलों में भी कई प्राचीन व्याकरणों किंवा आचार्य प्रोक्त शब्दशास्त्रों का नामोल्लेख मिलता है; जिनमें मुख्य हैं — ब्राह्म, ऐशान, ऐन्द्र, प्राजापत्य, वार्हस्पत्य, त्वाष्ट्र, चान्द्र, याम्य, रौद्र, वायव्य, वारुण, सौम्य, वैष्णव आदि। इसी प्रकार भागुरि, पौष्करसादि, चारायण, काशकृत्स्न, शन्तनु, वैयाघ्रपाद्य, माध्यन्दिन, रौढ़ि, शौनकि, गौतम, व्याडि आदि व्याकरण प्रवक्ताओं का भी नाम कहीं न कहीं से आया हुआ जरूर मिलता है। ये तो हैं पाणिनि पूर्व वैयाकरण, अब यदि उनके अर्वाचीन वैयाकरणों पर, खास करके अपने ढङ्ग और शैली में व्याकरण शास्त्र की रचना करने वाले आचार्यों पर दृष्टिपात करें तो हम पायेंगे कि इसकी भी संख्या कहीं कम नहीं है। कातन्त्रकार, चन्द्रगोभी, क्षपणक, देवनन्दी, वामन, पाल्यकीर्त्ति, शिवस्वामी, भोजदेव, बुद्धिसागर, भद्रेश्वर सूरि, हेमचन्द्र, क्रमदीश्वर, सारस्वतकार, रामाश्रमसिद्धान्त चन्द्रिकाकार, बोपदेव, पद्मनाभ आदि ऐसे ही व्याकरण शास्त्र प्रणेता हैं, जिनका व्याकरण पाणिनि के बाद बना, उसके बाद पल्लवित व पुष्पित हुआ और आज भी ये व्याकरण कमो-वेश ही सही दिखाई जरूर देते हैं। पाणिनि के बाद जब उनके व्याकरण का एकछत्र बोलवाला हुआ, उस परीस्थिति में भी वैयाकरणों ने अपने - अपने व्याकरण की रचना करते ही गये। आशुबोध, शुद्धाशुबोध, बालबोध, द्रुतबोध, शीघ्रबोध, शब्दबोध आदि ऐसे ही व्याकरण बने; किन्तु पाणिनि के सदृश 'अर्क' के सामने इन 'दीपकों' का तर्क चल नहीं पाया और ऐसे व्याकरण या तो सिमटते चले गये या फिर पनपे ही नहीं। ज्ञानामृत, हरिनामामृत, चैतन्यामृत, चिन्तामृत आदि व्याकरण भी इसी कोटि के हैं; जिनका प्रचार - प्रसार प्रायः न के बराबर रहा है अथवा यों कहें कि ये व्याकरण केवल नाम मात्र के ही हैं, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

प्रसिद्धि दृष्ट्या व्याकरण शास्त्र आठ प्रकार के हैं; जिनमें इन्द्र कृत ऐन्द्र-व्याकरण प्रथम और पाणिनि कृत व्याकरण सर्वप्रमुख है। महाभाष्य में ऐन्द्र व्याकरण के सम्बन्ध में कहा गया है कि — "वृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्ष सहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच"। वैयाकरण

बोपदेव व्याकरणों के सम्बन्ध में लिखते हैं कि —

"इन्द्रश्चान्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादि शाब्दिकाः।।"

इन आठों वैयाकरणों के अलग- अलग व्याकरणशास्त्र निर्मित हैं, किन्तु मात्र पाणिनि व्याकरण ही संस्कृत वाङ्मय में साङ्गोपाङ्ग उपलब्ध होता है, जिसे 'त्रिमुनि व्याकरण' भी कहते हैं। इस व्याकरण के निर्माण में महामुनि पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि तीनों का समान योगदान रहा है।

संस्कृत भाषा के जितने भी उपलब्ध अथवा परिज्ञात शास्त्र हैं, प्रायः प्रत्येक शास्त्र पाँच अङ्गों में विभक्त है। पृष्ठपेषण की आवश्यकता नहीं कि व्याकरण शास्त्र भी पाँच अङ्गों या भागों से युक्त है; इसके ये अङ्ग हैं — सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ और लिङ्गपाठ। इनमें सूत्रपाठ, गणपाठ और लिंगपाठ के क्रमशः नामान्तर हैं — शब्दानुशासन, प्रातिपदिक एवं लिङ्गानुशासन। सूत्रपाठ को छोड़ शेष चारों 'सूत्र' के ही उपकारी होने से प्रथमापेक्षा गौण हैं। अतः इन चारों अङ्गों को शब्दानुशासन का 'खिलपाठ' माना गया है। खिल अर्थात् अङ्ग, भाग, अवयव अथवा परिशिष्ट[८]। शब्दों का अनुशासन ही शब्दानुशासन है और ये शब्द चार विभागों में विभक्त हैं — नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात।[९] यद्यपि कर्म प्रवचनीयों व गतिसंज्ञकों को लेकर कुछ लोग इसके छः भाग मानते हैं[१०]; परन्तु इनका तो क्रमशः निपातों व उपसर्गों में ही अन्तर्भाव हो जाता है, जिससे पृथक् परिगणना की आवश्यकता ही नहीं बचती। प्रकारान्तर से पाणिनि ने शब्द के तीन ही भेद माने हैं — नाम, आख्यात और अव्यय[११]। जब कि पाणिनि व अन्य आचार्य मार्ग भेद से शब्द किंवा पद के सुबन्त-तिङन्त रूप दो भेद भी स्वीकार करते हैं। ऐन्द्र आदि कतिपय आचार्य इसके भेदवाद में नहीं पड़ते, उनके मत में शब्द एक ही है; जैसा कि दुर्गवृत्तिकार लिखते हैं — "नैकं पदजातम्, यथा — अर्थः पदमैन्द्राणामिति"[१२]। इस प्रकार हम देख चुके कि शब्द के एक से लेकर छः तक विभाग होते हैं; जब कि यौगिक, योगरूढ़, रूढ़ या फिर जाति-गुण-क्रिया-यदृच्छारूप भेदों को लेकर तीन अथवा चार भेद शब्द के होते हैं। परन्तु वैज्ञानिक दृष्ट्या

विचार करने से इसके तीन ही भेद अधिक समीचीन दिखाई देते हैं — नाम (सुबन्त), आख्यात (तिङन्त) एवं अव्यय (उभयविध विभक्तिशून्य)। इस वैज्ञानिक और सूक्ष्म विचार पद्धति के कारण ही व्याकरण शास्त्र को 'विज्ञान' की कोटि में रखा गया है। यदि वास्तविक रूप से देखा जाय तो इतना बड़ा विशाल और विपुलकाय व्याकरण शास्त्र मात्र एक 'शब्द' पर आधारित है, इसीलिए तो इसका नाम ही रह गया — शब्दशास्त्र। जिस एक 'शब्द' के हमने इतने भेद दिखाये हैं, उसीका धातुज, अधातुज और नामज रूप में भी तीन भेद देखने को मिलते हैं।

व्याकरण शास्त्र 'विज्ञान' ही नहीं एक दर्शन शास्त्र है, जिसे स्फोटवाद या शब्दाद्वैतवाद भी कह सकते हैं। इस दर्शन के अनुसार — "शब्द अनादि और सनातन है। जितने दृश्य हैं, वे कल्पना या विचार की छाया, उन्हींके मूर्त्तरूप हैं। दृश्य जगत् अवास्तविक है। शब्द के विना ज्ञान स्वयं प्रकाश नहीं है। शब्द और ज्ञान — ये परस्पर अविभेद्य हैं। शब्द की स्मृति ही श्वासादि समस्त क्रियाओं का कारण है। शब्द अव्याख्येय शक्ति से युक्त है। संसार अर्थों से बना है। शब्द उसका ज्ञान देता है। वाचकता अधिष्ठान प्रणव है। वही जगत का मूल कारण है। नाम रूपात्मक ही विश्व है। विश्व शब्द ब्रह्म का परिणाम नहीं, विवर्त्त है। शब्द का अर्थ से कल्पित सम्बन्ध नहीं, नित्य सम्बन्ध है, व्यक्त शब्द की वाणी मूलाधार में परा, नाभि में पश्यन्ती, हृदयाकाश में मध्यमा और कण्ठ में वैखरी रूप से प्रकट होती है। प्रणवोपासना, योग, शुद्ध एवं सत्य भाषण शब्द ब्रह्म की अनुभूति में सहायक हैं।[१३]

सूत्ररचना में रचयिता अत्यन्त ही लाघव से काम लेता है, अंग्रेजी का 'प्वाइण्ट' शब्द इसके स्थान पर बड़ा ही उपयुक्त हो सकता है। 'सूचनात्सूत्रम्'[१४] अथवा तन्तु के अवयव के सदृश होने से यह 'सूत्र' कहलाता है। सूत्र से सर्वत्र काम नहीं चलता, इसीलिए व्याख्यान की आवश्यकता महसूस की गयी और महाभाष्यकार ने कहा कि व्याख्यान में पदच्छेद, वाक्याध्याहार (पूर्व प्रकरणस्थ पदों की अनुवृत्ति अथवा सूत्रबाह्य पद का योग), उदाहरण और प्रत्युदाहरण होने चाहिये। जब कि अन्य वैयाकरणों के अनुसार पदच्छेद, पदों का अर्थ, समस्त पदों का विग्रह, वाक्ययोजना, पूर्वपक्ष और समाधान — ये पाँच व्याख्यान के

अवयव होते हैं।[१५] जो शब्द के विविध रूपों को धारण करनेवाला, निष्पादन करने वाला (शब्द के अन्तः प्रविष्टरूप) है, वही धातु है — "दधाति विविधं शब्द रूपं यः स धातुः" — ऐसा व्याकरण निकाय में कहा भी गया है। तात्पर्य है कि विभिन्न प्रकार के शब्द रूपों को धारण करने वाला जो मूल शब्द है, वही धातु है। पहले कभी 'धातु' पद के लिए प्रातिपदिक शब्द का भी व्यवहार होता था, तभी कहा गया होगा — "पदं पदं प्रतिपदम्, प्रतिपदेषु भवं प्रातिपदिकम्" ।

'गणसंख्याने' धातु से निष्पन्न गण शब्द का अर्थ गिनती करना है, 'गणना' इसी गण पद से बनी है। गणों का यानि क्रम विशेष से पढ़े गये शब्दसमूहों का जिस ग्रन्थ में पाठ किंवा सङ्कलन हो, वही 'गणपाठ' कहलाता है। व्याकरण शास्त्र में गणशब्द का प्रयोग केवल उसी ग्रन्थ के लिए होता है, जिसमें केवल प्रातिपदिक शब्दों के समूहों का सङ्कलन हो अर्थात् गणपाठ शब्द वैयाकरण निकाय में शुद्ध यौगिक न रहकर योगरूढ़ बन गया है। यदि ऐसा न होता तो धातुपाठ के लिए भी गणपाठ का ही प्रयोग हुआ होता। यतो हि उसमें भी तो क्रमविशेष से पठित १० धातु गणों का ही सङ्कलन मिलता है। यह नितान्त बोधव्य है कि गणशैली के उद्भव के मूल में शास्त्र का संक्षेपीकरण ही मुख्य हेतु है।

अति प्राचीन काल में जब सम्पूर्ण नाम (जाति-द्रव्य-गुण-शब्द) और अव्यय (स्वरादि निपात) शब्द एक स्वर से यौगिक माने जाते थे, उस समय उणादि सूत्र शब्दानुशासन के कृदन्त प्रकरण के अन्तर्गत ही होते थे, परन्तु कालान्तर में जब शब्दों के एक बड़े अंश के विषय में यौगिकत्व और रूढ़त्व सम्बन्धी मतभेद उत्पन्न हो गये तब उन विवादास्पद शब्दों के साधुत्व ज्ञापन के लिए एक ऐसा मार्ग निकाला गया, जिससे दोनों मतों का समन्वय हो सके। और यही समन्वय वाला मार्ग है उणादि पाठ का प्रवचन, जिसके आधार पर प्रायः सभी उणादि व्याख्याकार औणादिक शब्दों को रूढ़ मानते हुए वर्णानुपूर्वी के परिज्ञान मात्र के लिए उनमें प्रकृति प्रत्यय विभाग की कल्पना स्वीकार करते हैं।[१६] लिङ्गानुशासन एक ऐसा भाग- विधा या अंग है, जिसके बिना व्याकरण शास्त्र अधूरा

है। स्त्रीत्व-पुंस्त्व-नपुंसकत्व लिंग, जैसे प्राणिमात्र के संस्थान के साथ सम्बद्ध है, उसी प्रकार ये प्रत्येक नाम शब्द के भी अविभाज्य अंग हैं। ऐसी स्थिति में भी यह लिङ्गानुशासन, धातुपाठ आदि के सदृश शब्दानुशासन के किसी विशिष्ट सूत्र या सूत्रों से सम्बद्ध नहीं है, वल्कि यह शब्दानुशासन का साक्षात् अवयव ही है।

सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ, लिङ्गानुशासन — इन पाँच भागों, विधाओं से सम्बद्ध मूल रचनायें एवं उनकी व्याख्यायें, वृत्तियां या भाष्य व्याकरण विषयक ग्रन्थ तो हैं हीं, वल्कि परिभाषा पाठ, फिट्सूत्र, प्रातिशाख्य आदि से सम्बद्ध कृतियाँ (मूल एवं वृत्ति) भी व्याकरण क्षेत्र के अन्तर्गत ही आती हैं। परिभाषा पाठ में अपने व्याकरण से सम्बद्ध परिभाषाओं का संग्रह किया गया है। परिभाषा अर्थात् "परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते।"[१७] भगवान् पतञ्जलि ने परिभाषा को भी एक विशिष्ट प्रकार का अधिकार माना है।[१८] परिभाषा का द्वैविध्य (सूत्ररूप से पठित-सूत्रादि से ज्ञापित) और चातुर्विध्य (ज्ञापित, न्यायसिद्ध, वाचनिक एवं मिश्रित) सिद्ध है।

पाणिनीय व्याकरण सम्प्रदाय में आश्रीयमाण स्वर विषयक एक छोटा सा ग्रन्थ ही 'फिट् सूत्र' के नाम से ख्यात है। वैसे तो यह फिट् सूत्र पाणिनि और आपिशालि से भी प्राचीन हैं[१९], फिर भी उपलब्ध और प्रचलित फिट् सूत्र पाणिनि व्याकरण में मुख्य है। चतुःपादात्मक शन्तनुप्रोक्त फिट्सूत्र इस विधाका प्रथम फिष्सूत्र है। पाणिनि व्याकरण में जिन अर्थवान् शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है, उन्हींकी शान्तनव व्याकरण में फिष् संज्ञा होती थी। फिष् का ही प्रथमैकवचन एवं पूर्व पद में फिट् रूप बनता है और फिष्संज्ञा होने के कारण ये सूत्र 'फिट् सूत्र' कहलाते हैं। यह भी निश्चित है कि सम्प्रति उपलभ्यमान चतुःपादात्मक फिट् सूत्र किसी बृहद् ग्रन्थ का एक भाग मात्र है।[२०]

'प्रातिशाख्य' यद्यपि मूलतः वैदिक वाङ्मय में आता है, परन्तु इसका विषय ही ऐसा है, जिसे लौकिक वाङ्मय का भी अङ्ग माना जा सकता है। पार्षद, पारिषद्, अनुशाखा या अवान्तर शाखा भी इसी प्रातिशाख्य के पर्याय हैं, जिसका व्युत्पत्तियुक्त अर्थ ऐसा किया गया है

कि जिस ग्रन्थ में वेद की एक-एक शाखा के नियमों का वर्णन हो, वही प्रातिशाख्य है — "शाखां शाखां प्रति प्रतिशाखम्, प्रतिशाखेषु भवं प्रातिशाख्यम्।" परन्तु यह यहीं तक सीमित नहीं है, वल्कि इसमें एक-एक चरण की सभी शाखाओं के नियमों का सामान्यरूप से उल्लेख भी मिलता है[२१], जिससे "शाखां प्रति गता शाखा प्रतिशाखा" अर्थ बनता है। आचार्य यास्क का कथन है कि 'प्रातिशाख्य' पद प्राकृतिक है अर्थात् पदों को प्रकृति मानकर संहिता में होने वाले विपर्ययों का यह वर्णन करता है।[२२] परन्तु प्रातिशाख्यों में संहिता के कारण होने वाले विकारों के अतिरिक्त शिक्षा (वर्णोच्चारण विद्या) का भी सूक्ष्म विवेचन मिलता है।[२३] एतावता प्रातिशाख्य शब्द से हम न केवल वैदिक प्रातिशाख्य को लेते हैं, वल्कि प्रातिशाख्यानुसारिणी कुछ शिक्षा ग्रन्थ, शौनकीय चतुरध्यायी ऋक्तन्त्र, सामतन्त्र, अक्षरतन्त्र, प्रतिज्ञासूत्र, भाषिकसूत्र आदि को भी ग्रहण करते हैं। अतएव यह प्रातिशाख्य भी व्याकरण का अङ्ग ही है।

संस्कृत साहित्य में मुख्य रूप से पाणिनीय व्याकरण का ही प्रचलन रहा है, भले ही अनेक व्याकरणों के ग्रन्थ उपलब्ध क्यों न रहे हों, उनके पठन-पाठन की व्यवस्था क्यों न रही हो। पाणिनि ने आठ अध्यायों में व्याकरण के जो सूत्र दिये हैं, उसे ही अष्टाध्यायी कहते हैं: इसीलिए उन्हें नमस्कार करने की परम्परा रही है —

"येनाक्षर समाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ।।"

इस पद्य से यह सिद्ध होता है कि भगवान् पाणिनि ने अष्टाध्यायी, सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ आदि की रचना की थी। इसी पर वार्तिक, भाष्य, दर्शनदृष्ट्या व्याकरण ग्रन्थ आदि लिखे गये। जैसा कि पराशर उपपुराण में कहा गया है —

"उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्त्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुः वार्तिकज्ञा मनीषिणः ।।"

इसके आधार पर राजशेखर ने भी लिखा— "उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्तिकम्।"[२४] इसीको विद्वानों ने वृत्तिका व्याख्यान माना है — "वृत्तेर्व्याख्यानं वार्तिकम्।" शास्त्र प्रवृत्ति की[२५] वास्तविक प्रतीति जब केवल सूत्रों से ही

होती दिखायी नहीं दी, तब उसके लिए सूत्र व्याख्यान की अपेक्षा की गयी। इसीसे मूलभूत शब्दानुशासन के लिए 'वृत्तिसूत्र' पद का व्यवहार हुआ है। सूत्रों के लघुव्याख्यान ग्रन्थ, जिनमें पदच्छेद, विभक्ति, अनुवृत्ति, उदाहरण, प्रत्युदाहरण आदि द्वारा सूत्र के तात्पर्य को अभिव्यक्त किया जाय, 'वृत्ति' कहलायी। जिन सूत्रों का व्याख्यान किया जाय, वे 'व्याख्यान सूत्र' हैं और जिन सूत्रों पर भाष्य लिखे जाँयें, वे 'भाष्यसूत्र' हैं। जब कि अनुतंत्र, अनुस्मृति, वाक्य और उपर्युक्त व्याख्यान सूत्र, भाष्यसूत्र — सब वार्तिक के ही पर्याय कहलाते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी पर कात्यायन ने वार्तिक की रचना की। यदि आज उस वार्तिक की रचना न हुई होती तो निःसन्देह पाणिनि का व्याकरण पूर्ण न हुआ होता।

"न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरित वार्तिकैर्यः।
काव्येऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः॥"

यहाँ यह भी स्मर्त्तव्य है कि जिस ग्रन्थ में सूत्रार्थ सूत्रानुसारी वार्तिक तथा अपने पदों का व्याख्यान किया जाता है, वही 'भाष्य' है। यथा —

"सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥"[२६]

इसकी रचना अष्टाध्यायी और वार्तिक के आधार पर भगवान् पतञ्जलि ने की —

"कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायवीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥"

चूँ कि पाणिनि व्याकरण के निर्माण में पाणिनि, कात्यायन एवं पतंजलि तीनों का समान और अनुपम योगदान है, अतएव इसे 'त्रिमुनि व्याकरण' कहा जाने लगा; जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। टीका, व्याख्या, विवृत्ति, टिप्पणी आदि अपने- अपने ढङ्ग से, योग्यता-ज्ञान-अनुभूति के अनुसार, देश-काल-परीस्थिति को देखकर, आवश्यकतानुकूल किसी शब्द, वाक्य, प्रसंग, ग्रन्थ, शास्त्र पर विद्वानों व आचार्यों द्वारा की गयी 'रचना' मात्र है। वहीं व्याकरणशास्त्र के ग्रन्थों के अध्ययन से 'अनुपद' और 'पदशेष' का भी पता चलता है, जो 'भाष्यानुकूल' और 'भाष्येतर'

शब्दों के ही पर्याय दिखते हैं। अर्थात् 'पद' = 'महाभाष्य' के 'अनु' = अनुकूल रचित ग्रन्थ तथा 'पद' = महाभाष्य बोधक शब्द, 'शेष' = अवशिष्ट अथवा अनन्तर रचित ग्रन्थ, क्रमशः भाष्यानुकूल एवं भाष्येतर शब्दों के हितार्थ हैं।

नागेशकृत उद्योत की छाया टीका के आरम्भ में 'षड्विधा व्याख्या' का निर्देश मिलता है। जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि सूत्र ग्रन्थों के प्रारम्भिक व्याख्यानों में पदच्छेद, पदार्थ, समासविग्रह, अनुवृत्ति वाक्ययोजना (अर्थ), उदाहरण, प्रत्युदाहरण, पूर्वपक्ष और समाधान — ये अंश प्रायः रहा ही करते थे। इसी प्रकार के लघुव्याख्यानरूप ग्रन्थ 'वृत्ति' शब्द से व्यवहृत होते हैं। सारांशतः इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि विद्वानों ने "व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेन इति शब्दज्ञानजनकं व्याकरणम्" — ऐसी व्याकरण की व्युत्पत्ति की है। इसे ही महाभाष्यकार ने 'शब्दानुशासन' नाम दिया है, जिसके विना किसी भी भाषा या किसी भी शास्त्र का ज्ञान अधूरा रह जाता है। वेद की रक्षा तो इससे होती ही है, तभी न इसकी गणना वेदाङ्गों में की गयी है; वल्कि "मुखं व्याकरणम्" पद से इसका स्थान और महत्त्व भी दिखायी देता है। भगवान् पतञ्जलि ने तो इसे और स्पष्ट कर दिया है कि — "षट्स्वङ्गेषु प्रधानं व्याकरणम्, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान्भवति।" भाष्कराचार्य भी कहते हैं —

"यो वेद वदनं सदनं हि सम्यक्
बाह्याः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम्।
यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य विद्वान्
शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी॥"

ऐसा महिमामण्डित यह व्याकरण शास्त्र कुछ प्रक्रियानुसार भी लिखे गये, उसीको देखकर बाद में पाणिनि व्याकरण वालों ने भी इस प्रक्रिया को अपनाये। प्रक्रियाप्रणाली एक ऐसी व्यवस्था है, जो किसी एक विषय की एक ही क्रम से जानकारी देती है। उदाहरणार्थ ऐसा नहीं कि एक ही 'समास' के प्रसंग ही देखने और पढ़ने के लिए बीच-बीच में हमें छोड़कर अन्यत्र कई जगह देखना पड़े। पाणिनि कृत अष्टाध्यायी प्रक्रियानुसार प्रकरण रचना नहीं है, जब कि उसीको लेकर रची गयी

सिद्धान्तकौमुदी प्रक्रियाग्रन्थ कहलाता है।

व्याकरण के सम्बन्ध में इन सब सामान्य सूचनाओं के बाद अब हम यह कहना चाहेंगे कि व्याकरण जगत् में मैथिल आचार्यों ने अपनी किस रचना और कृति से व्याकरण के किस विभाग को सबल और पूर्ण किया है अथवा उन्होंने अपना कौन-सा योगदान इस क्षेत्र में दिया है। प्राक् पाणिनि वैयाकरणों की दृष्टि से भी मिथिला बन्ध्या नहीं रही है। **माध्यन्दिन, गार्ग्य** और **गौतम** इसी मिथिला के पाणिनि पूर्व वैयाकरणों में मुख्य रहे हैं। जहाँ गार्ग्य, महाविदुषी गार्गी के गुरु थे; वहीं गौतम न्यायदर्शन के जनक के रूप में जगद्विख्यात हैं। आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी में वैयाकरण गार्ग्य का तीन वार नामोल्लेख हुआ है।[२७] इनके मत का उद्धरण हमें ऋक् प्रातिशाख्य एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्य में भी मिलता है; जब कि यास्क ने भी इनकी सादर चर्चा की है।[२८] देवर्षिचरित, शाकल्यतंत्र, सामतंत्र आदि कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनके कर्त्ता के रूप में ये ही गार्ग्य विश्वविश्रुत हैं। महर्षि गौतम भी पाणिनि पूर्व वैयाकरणों में अन्यतम हैं, भाष्यकार ने भी इन्हें आपिशालि, पाणिनि और रौढ़ि के साथ परिगणित किया है।[२९] गौतम न केवल शाखाकार थे, अपितु गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र के भी रचयिता थे।[३०] गौतमीय शिक्षा और न्यायसूत्र भी आपही की रचना है। यह बात भी किसी से छिपी नहीं है कि महावैयाकरण पाणिनि **वर्ष** एवं **उपवर्ष** उपाध्याय के शिष्य थे। ये दोनों भाई यद्यपि मैथिल तो नहीं थे,किन्तु मिथिला के साथ इन दोनों का अच्छा सम्बन्ध ही नहीं, अपितु दोनों की शिक्षा-दीक्षा भी मिथिला में ही हुई होगी, मिथिला के निकट होने के कारण, ऐसा अनुमान है।

न जाने '**रात**'[३१] नामक आचार्य मैथिल हैं या नहीं, परन्तु मिथिला में इस नाम के आचार्य हुए अवश्य हैं, जिनके नाम पर बसा 'रतौली' ग्राम आज भी उनकी याद दिला रहा है। परन्तु पूर्व मीमांसाकार **जैमिनि** (विक्रमपूर्व ३००० वर्ष ?), जो एक मैथिल ऋषि सिद्ध हैं — ने व्याकरण में 'तलवकार संहिता' की रचना की है। **वात्स्यायन** भी प्राचीन ऋषि हैं, जो एक लिंगप्रवक्ता हैं और किसी अनुपलब्ध लिङ्गानुशासन के कर्त्ता हैं।[३२] आप न तो कामसूत्रकार से अभिन्न हैं और न ही नैयायिक

वात्स्यायन से ही।

पाणिनीयेतर व्याकरण — व्याकरण की पाणिनि शाखा को छोड़ शेष अन्य व्याकरणों की शिक्षण व्यवस्था न-के बड़ावर रही है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि इनका अस्तित्व यहाँ था ही नहीं। मिथिला में भी चिरकाल से सभी व्याकरणों का अध्ययन-अध्यापन, प्रणयन-सम्पादन होता रहा है। न केवल यदा-कदा, अपितु निरवच्छिन्न रूप से। पाणिनीयेतर व्याकरण में भी मैथिल विद्वानों ने अपनी गति को प्रवाहित किया है तथा उन सम्बद्ध व्याकरणों में अपना अमिट योगदान दिया है।

पाणिनीयेतर व्याकरणों में जो प्रमुख वैयाकरण मिथिला में हुए हैं, वे हैं — **उमापति उपाध्याय, कन्दर्प शर्म्मा, कृष्णदास मिश्र, चण्डेश्वर, धनेश्वर, नरहरि मिश्र, पद्मनाभदत्त, पृथ्वीधर आचार्य, पहराजाचार्य, वैजल भूपति, भवदेव मिश्र (भाव मिश्र), लक्ष्मीधर, वररुचि मिश्र, वर्द्धमान उपाध्याय, विश्वेश्वर मिश्र, विष्णु मिश्र** आदि।

जैन सम्प्रदाय में व्याकरण शास्त्र के जनक भगवान् **महावीर स्वामी** माने गये हैं, ये ही देवश्रेष्ठ इन्द्र से व्याकरण विषयक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर पाये थे। इसीलिए 'जिन' (जिनदेवता महावीरस्वामी) और 'इन्द्र' के नाम पर 'जिनेन्द्र' शाखा का प्रवर्त्तन हुआ माना गया है। यह भला कौन नहीं जानता होगा कि जिनेश्वर भगवान् महावीर जगज्जननी जानकी के धराधाम पर ही अवतरित हुए थे और मा मिथिला (वैशाली ?) के वरदपुत्र थे। इनके बाद आते हैं ११ वीं श. के उत्तरार्द्ध में **पहराजाचार्य** अर्थात् पहराजसिंह, जिनका 'पउमकोश' (पाउअकोस) प्राकृतव्याकरण की अनुपमकृति है। ये माण्डरमूलक सिहौलशाखा प्रवर्त्तक अजय सिंह के पौत्र एवं विजयसिंह के पुत्र थे। वाचस्पति मिश्र के गुरु त्रिलोचन भट्ट इन्हीं के पूर्वज थे। फिर विक्रम की १२वीं श. में हुए **वर्द्धमान** को भी भुलाया नहीं जा सकता। शब्दानुशासन, महाभाष्य प्रकाश एवं कातंत्रविस्तरकार (वि.सं. ११९७) से अभिन्न वर्द्धमान, कई अन्य वर्द्धमानों से भिन्न हैं। पञ्जिकाटीकाकार त्रिविक्रम (१३वीं श.) इन के शिष्य थे — "इति श्रीवर्द्धमानशिष्य त्रिविक्रमकृते पञ्जिकोद्योतेऽनुषङ्गपादः।" बोपदेव द्वारा 'कविकामधेनु' में कातन्त्रविस्तरकार का उल्लेख हुआ है,

जो आप ही हैं। आपके इस ग्रन्थ की मातृका कई प्राचीन पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। इसी शताब्दी में उत्पन्न हुए **उमापति उपाध्याय** राजा लक्ष्मणसेन के सभासद थे, जो कातंत्रव्याकरण के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार हुए हैं।[३३] इनके ही समय में लिंगानुशासन के व्याख्याकार **पृथ्वीधर आचार्य** ने वर्द्धमानकृत कातंत्र विस्तर पर बड़ी विलक्षण व्याख्या लिखी थी।[३४]

आचार्य **पद्मनाभ मिश्र** पाणिनीयेतर वैयाकरणों में वररुचि के बाद सर्वाधिक चर्चित और प्रमुख हैं। यद्यपि पद्मनाभ नामक कई आचार्य मिथिला में हुए हैं, जिनमें मिश्र, दत्त, उपाध्याय, ठाकुर सब आस्पदवाले सम्मिलित हैं। मिश्रोपनामक भी दो से कम नहीं हैं। इनमें सौपद्मव्याकरण की रचना कर स्वयं उस पर 'सुपद्मपञ्जिका' नामक व्याख्या लिखने वाले पद्मनाभ दत्त (जिनके वंशज 'मिश्र' कहलाते हैं) १४वीं. श. के मूर्द्धन्य आचार्य हैं। पुरुषोत्तम देव की परिभाषावृत्ति की विजयाटीकाकार **श्रीमानशर्मा**, जिनका अनुन्याससार भी प्रसिद्ध है, कहते हैं इनके गुरु थे[३५], पर, वे इनके बाद के हैं।

कुछेक आधुनिक विद्वान् पद्मनाभ के नाम में 'दत्त' आस्पद देखकर इन्हें बंगाली मान बैठे हैं, जो सर्वथा ही भ्रामक और असत्य है। अब यह निश्चित हो गया है कि ये न केवल मिथिला की विभूति थे, वरन् श्रीदत्त के पौत्र और दामोदरदत्त (मिश्र ?) के पुत्र थे। इनके 'सुपद्म' नामक संक्षिप्त व्याकरण की उणादिवृत्ति में इनका नाम 'सुपद्मनाभ' मिलता है — "सुपद्मनाभेन सुपद्मसम्मतं विधिः समग्रः सुगमं समस्यते।" शाकाब्द १२९२ (१४२७ वि.सं.) में इन्होंने 'पृषोदरादिवृत्ति' नामक एक विशिष्ट ग्रन्थ की भी रचना की थी[३६]; जब कि इनकी 'परिभाषावृत्ति' ग्रन्थ से इनके कई अन्य ग्रन्थों का भी पता चलता है —

"दिङ्मात्रं दर्शितं किन्तु सकलार्थविकशनम्।
धैर्यावधेयं धीराः श्रीपद्मनाभनिवेदितम्॥
उक्तो व्याकरणादर्शः सुपद्मस्तस्य पञ्जिका।
ततो हि बालबोधाय प्रयोगाणाञ्च दीपिका॥
उणादिवृत्तिरचिता तथा च धातुकौमुदी।

तथैव यङ्लुको वृत्तिः परिभाषास्ततः परम् ॥
गोपालचरितं नाम साहित्ये ग्रन्थरत्नकम् ।
आनन्दलहरीटीका माघे काव्ये विनिर्मिता ॥
छन्दोरत्नं छन्दसि च स्मृतावाचारचन्द्रिका ।
कोशे भूरिप्रयोगाख्यो रचिता तत यत्नतः ॥
इति श्रीमत्पद्मनाभदत्तकृता परिभाषावृत्तिः सम्पूर्णा ॥"[३७]

इन सब ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके लिङ्गानुशासन[३८] और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य विवरण[३९] की चर्चा मिलती है। परन्तु ये दोनों ग्रन्थ इनका न होकर दूसरे पद्मनाभ नामधेय आचार्यों के लगते हैं। लिंगानुशासनकार निश्चय ही मैथिल मिश्रोपाह्वक थे, जब कि प्रातिशाख्यविवरणकार दाक्षिणात्य प्रतीत होते हैं।

आचार्य पद्मनाभ ने अपने व्याकरण से सम्बन्धित 'उणादिपाठ' का भी प्रवचन किया था[४०], साथ ही उन उणादि सूत्रों पर स्वयं अपनी व्याख्या भी लिखी थी[४१], जिसमें आप लिखते हैं —

"प्रणम्य गोपीजनवल्लभं हरिं सुपद्मकारेण विधीयतेऽधुना ।
अचोऽत्वकादिक्रमतोऽज्झलयो - रुणादिवृत्तेरितिसारऽसंग्रहः ॥
बुधैरुणादेर्बहुधा कृतोऽस्ति यो मनीषिदामोदरदत्त सूनुना ।
सुपद्मनाभेन सुपद्मसम्मतं विधिः समग्रः सुगमं समस्यते ॥"

डॉ. बेलवलकर जी का मत है कि सौपद्मसम्प्रदाय के गणपाठ का निर्धारण काशीश्वर नामक पण्डित ने किया था तथा रमाकान्त नामक वैयाकरण ने इस गणपाठ पर एक वृत्ति भी लिखी थी। यद्यपि सुपद्मव्याकरण पर सर्वप्रथम स्वयं इन्होंने ही पञ्जिकाटीका की रचना की है, परन्तु उसके बाद हुए अन्य व्याख्याकारों में मुख्य हैं — विष्णुमिश्र, रामचन्द्र, श्रीधरचक्रवर्ती, काशीश्वर आदि। जब कि इनकी परिभाषावृत्ति के टीकाकार हैं — रामनाथ सिद्धान्तवागीश, धर्मसूरि आदि। ये धर्मसूरि भी किसी वैयाकरण पद्मनाभ के ही पुत्र थे, परन्तु वे इन सब पद्मनाभों से भिन्न और मैथिलेतर हैं।[४२]

प्रबोधचन्द्रिका नामक बालोपयोगी व्याकरण के रचयिता **बैजल**

भूपति ईसा के १५वीं शतक के मूर्द्धन्य वैयाकरणों में अन्यतम हैं। जिनकी चर्चा विद्यापति ने अपने गीतों में की है। इन्हींके नाम पर नेपाल में एक रे.स्टे. का नामकरण किया गया माना जाता है — 'बिजलपुरा'। जबकि इसी समय के **धनेश्वर उपाध्याय** का नाम बड़े ही आदर के साथ प्रमुख मैथिल वैयाकरणों में लिया जाता रहा है। ये न केवल पाणिनि व्याकरण के अच्छे विद्वान् और महाभाष्य के 'चिन्तामणि' व्याख्याकार थे, अपितु सारस्वत व्याकरण पर भी इनकी अच्छी पकड़ और अबाध गति थी। इनका 'सारस्वत प्रदीप', जिसका दूसरा नाम 'क्षेमेन्द्रमत खण्डन' भी है — इसी सारस्वत व्याकरण पर रचा गया सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। जहाँ आप छात्र व्युत्पत्ति और सारसंग्रह[४३] ग्रन्थकार पीताम्बर के अन्तेवासी थे, वहीं करमहावंशीय नव्यन्यायप्रवर्त्तक गङ्गेशोपाध्याय आपके पूर्वज माने जाते हैं।

१५५० ई. के आसपास मिथिला में दो ऐसे आचार्य हुए, जिन्होंने पाणिनीयेतर व्याकरण की परम्परा को अक्षुण्ण ही नहीं रक्खा, वल्कि अपनी रचनाओं से सम्बद्ध व्याकरणों में चार चान्द भी लगाया। इनमें एक हैं आचार्य **विश्वेश्वर मिश्र**, जिन्होंने पल्लवप्रदीप की रचना की और दूसरे हैं आचार्य **विष्णुमिश्र** — पद्मनाभ के 'सौपद्मव्याकरण' पर 'मकरन्द' नामक सर्वोत्कृष्ट व्याख्या के रचयिता। इनके पश्चात् १६०० ई. में स्थित रहे **कृष्णदास मिश्र** (म.म. गोविन्ददास झा के पिता कृष्णदास झा से भिन्न) न केवल संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे, वल्कि फारसी भाषा के भी अतुलनीय विद्वान् थे। इन्होंने अकबर के दरवार में उन्हीं के आदेश से संस्कृत में फारसी भाषा का व्याकरण 'पारसीक प्रकाश' की सूत्रबद्ध रचना की थी। जबकि १७वीं श. के मध्य में वासुदेवाचार्य के शिष्य **चण्डेश्वर** सारस्वत व्याकरण के मूर्द्धन्य आचार्य और व्याख्याकार हुए हैं। १७वीं श. के ही अन्तिमचरण में हुए **नरहरि मिश्र** का 'बालबोध' भी पाणिनीयेतर व्याकरण ग्रन्थों में अविस्मरणीय और उल्लेखनीय रचना रही है, जो 'बालबोध व्याकरण' का आधार स्तम्भ माना जाता है।

कातन्त्रव्याकरण में परिभाषावृत्ति नामक रचना के कर्त्ता **भवदेव मिश्र** का उपनाम भावमिश्र था। इनकी दूसरी रचना 'पातञ्जल सूत्रभाष्य'

है। इन्होंने अपनी परिभाषावृत्ति में विद्यानन्द नामक किन्हीं कातन्त्रीय वैयाकरण का उल्लेख किया है, न जाने वे मैथिल थे या मैथिलेतर। परन्तु यहाँ यह स्मर्त्तव्य है कि महान् वैयाकरण **भैरवमिश्र** आप ही के पुत्र थे, जिनका समय १८वीं. श. निर्द्धारित है। धर्मशास्त्री व साहित्यिक लक्ष्मीधरों से भिन्न एक अज्ञात कालिक **लक्ष्मीधरोपाध्याय** ने प्राकृतव्याकरण में 'षड्भाषाचन्द्रिका' नामक बड़े ही विलक्षण और उपादेय ग्रन्थ की रचना की है। जब कि दूसरे अज्ञातकालिक आचार्य **कन्दर्प शर्मा** ने भट्टिकाव्य पर सौपद्मव्याकरणानुकूल एक भव्य व्याख्या की रचना की थी, जिसमें आप लिखते हैं —

"सौपद्मानां प्रीतये भट्टिकाव्ये टीकां धीरंकन्दर्पशर्मा।

x x x x x x

विद्यासागर टीकायां कातन्त्रप्रक्रिया यतः।

सुपद्मप्रक्रिया तस्मात्तस्मादेव प्रणीयते ॥"

मधुबनी जिलान्तर्गत विद्यमान 'कन्दर्पीघाट' का सम्बन्ध आपही से था, ऐसी जनश्रुति है।

कातन्त्रव्याकरण के तीन भाग हैं — आख्यातान्त, कृदन्त एवं छन्दः प्रक्रिया। इनमें कृदन्त भाग के रचयिता आचार्य **वररुचि** हैं[४४], जिनकी कातंत्रवृत्ति का नाम चैत्रकूटी है।[४५] चूँकि कातंत्र व्याकरण के मूलप्रवर्त्तक (प्रवक्ता) कृदन्त शब्दों का अन्वाख्यान नहीं किये थे, अतः वररुचि को ही उस भाग का प्रवचन करना पड़ा। इतना ही नहीं कातंत्रव्याकरण से सम्बद्ध 'षट्पादी उणादिसूत्र', जो कातंत्र उत्तरार्द्ध यानि कृदन्त भाग का परिशिष्ट कहलाता है — का प्रवचन भी इन्होंने ही किया था। कहते हैं इनके पिता का नाम भाष्कर मिश्र अथवा मन्मथ मिश्र था, किन्तु माता कात्यायनी थी।[४६] यहाँ यह स्मर्त्तव्य है कि कातंत्रवृत्तिकार वररुचि मैथिलेतर नहीं हैं तथा विक्रमसभ्य वररुचि से अभिन्न, व्याकरणादर्शकार आचार्य पद्मनाभ मिश्र के पूर्वज रहे हैं, जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है।[४७] इनके वंशज **श्रीपति दत्त** (श्रीपति मिश्र ?) ने भी कातंत्रपरिशिष्ट लिखकर स्वयं उस पर विलक्षण टीका लिखी थी, जिनका काल विक्रम की ११वीं श. माना जाता है और जो पद्मनाभदत्त के

पितामह थे।

अमरटीका सर्वस्व[४८], गणरत्नमहोदधि[४९], हैमवृहन्न्यास[५०] एवं धातुवृत्ति आदि में चर्चित किंवा उद्धृत **'रत्नमति'** यदि मैथिल वैयाकरण **रत्नपति** से भिन्न नहीं हैं, तो इन्होंने न्यास पर कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा था[५१], अन्यथा वैयाकरण रत्नपति के किसी ग्रन्थ के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं। आचार्य सर्वानन्द अपने अमरटीका सर्वस्व में इनका एक पाठ उद्धृत करते हैं — "न तु संशयवति पुरुष इति न्यासः। अतः सप्तम्यर्थे बहुव्रीहिः, संशयकर्त्तरि पुरुषएवेति तद्रत्नमतिः।"[५२] इसी प्रकार **जगद्धर** भी विवाद से पड़े नहीं हैं, यतो हि आचार्य युधिष्ठिर मीमांसक के मतानुसार[५३] इन्होंने अपने पुत्र यशोधर को पढ़ाने के लिए कातंत्र की बालबोधिनी वृत्ति लिखी थी, जब कि बालबोधिनी के प्रमुख टीकाकार **शितिकण्ठ** स्वयं को अपनी व्याख्या में जगद्धर का नप्तृकन्यातनयातनूज (पोते की कन्या का दौहित्र) मानता है। शितिकण्ठ कश्मीरी हैं, ऐसा विद्वानों का मानना है। यदि वस्तुतः शितिकण्ठ कश्मीरी हैं तो जगद्धर को मैथिल होने में मुझे सन्देह दिखता है। परन्तु यशोधर के पिता जगद्धर निश्चय ही मैथिल हैं, जिन्होंने मालतीमाधव-वेणीसंहार आदि ग्रन्थों पर व्याख्या लिखी है। वेणीसंहारटीका में आप अपना परिचय यों देते हैं कि —"येनापाठि कठोरगौतममतं वैशेषिकं खण्डनम्

येनाश्रावि सकाव्यकोष निवहं तत्पाणिनीयं श्रुतम्।
छन्दोलंकरणञ्च शुद्धभरतं येनाध्यगायि स्थिरं
तेनानेन जगद्धरेणकविना टीकाकृता मर्मदा॥"

ये १५ वीं श. के उत्तरार्द्ध में मिथिलेश धीरसिंह के दरवारी और धर्माधिकारी थे तथा ये सुरगणयमूलक पराशर गोत्रीय **रत्नेश्वर ठाकुर** के पुत्र थे।[५४] जब कि 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास'[५५] नामक ग्रन्थ के आधार पर इन्हीं के पिता गौरधर ने यजुर्वेद की 'वेदविलासिनी' व्याख्या लिखी थी और बेलवलकर जी के अनुसार **जगद्धर** का काल १०वीं श. माना गया है। परन्तु मीमांसकजी ने यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि इनका समय वि. सं. १३५० के आसपास ही था, जो महाराज धीरसिंह का भी समय बनता है। १०वीं श. इसलिए भी इनका काल संगत प्रतीत

नहीं होता कि इन्होंने अपनी वेणीसंहार की टीका में उसं 'रूपावतार' की चर्चा की है[५६], जिसकी रचना वि.सं. ११४० में हुई थी। बम्बई विश्वविद्यालय जॅर्नल में प्रकाशित लेख 'Date of Jagaddhar' से भी इनका समय १४वीं श. का उत्तरार्द्ध ही सिद्ध होता है।[५७] अब यहाँ यह सन्देह स्वाभाविक है कि क्या जगद्धर दो हुए हैं अथवा शितिकण्ठ ही कश्मीरी से भिन्न, मैथिल हैं। दूसरा पक्ष ही सबल दिखता है, क्यों कि साहित्यिक रचनाकार जगद्धर और वैयाकरण जगद्धर दोनों ही अभिन्न हैं; जिनकी स्तुतिकुसुमाञ्जलि के अलावा अन्य रचनायें हैं — देवीमाहात्म्य, श्रीमद्भागवत, मेघदूत, वासवदत्ता, गीतगोविन्द आदि की टीकायें। यहाँ एक पक्ष यह भी है कि चूँ कि मैथिल दार्शनिक उदयनाचार्य, प्राचीन पण्डित अर्जुन मिश्र एवं शूलपाणि झा का विवाह मिथिला से बाहर बंगाल एवं शाहाबाद में हुआ था[५८], अतएव जगद्धर के वंशजा का भी विवाह कश्मीरी ब्राह्मण से होना सम्भव है। अतः यह भी सम्भव है कि राजानक शितिकण्ठ का मात्रिक (ननिहाल) मिथिला रहा होगा।

नव्यन्याय के प्रवर्त्तक गंगेश्वर प्रसिद्ध गंगेश के पिता **गिरीश्वर उपाध्याय** भी सामान्य वैयाकरण नहीं थे, जिससे उनका उपसर्गों के द्योतकत्त्व पर दृढ़ होना स्वाभाविक था। पर, गंगेश इतने बड़े तार्किक होकर भी जो उनका इस पक्ष में समर्थन करते हैं, उससे लगता है कि वे अपने पूज्य पिता का आदर मात्र करते हैं; अन्यथा वे यह कैसे लिखते कि — "...... उपसर्गा द्योतकाः न वाचकाः। द्योतकत्त्वञ्च धातोरर्थविशेषे तात्पर्य ग्राहकत्त्वं, तदुपसन्दानेन तत्र शक्तिर्वा.......।" गिरीश्वर का इनकी शैशवावस्था में ही स्वर्गारोहण हुआ था, जिससे उनकी योग्यता और विचार के सम्बन्ध में इनका साक्षात्परिचय नहीं था। वर्षों बाद गंगेश के द्वारा इस प्रकार अपने पिता के विचार का उल्लेख करने का अर्थ यही है कि व्याकरणशास्त्र पर उनका अवश्यमेव कोई ग्रन्थ आत्मज गंगेश के सम्मुख रहा होगा, जो आज उपलब्ध नहीं है। अन्यथा अपने पिता के शास्त्रीय मत से वे कैसे परिचित होते, जबकि पिता के साथ इनका सज्ञान में साक्षात्कार भी नहीं हुआ था। इसी प्रकार अज्ञात काल परिचय **बाणेश्वर मिश्र** का उल्लेख भी हम पर्याप्त पाते हैं, परन्तु उनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं होती। कहते हैं आप वैयाकरण **नन्दन मिश्र** के पिता

थे, परन्तु नन्दन मिश्र अपनी न्यासोद्दीपन व्याख्या में स्वयं को धनेश्वर मिश्र का पुत्र कहते हैं। जो भी हो, बाणेश्वर मैथिल अवश्य थे और कोई न कोई ग्रन्थ भी उनका अवश्य ही रहा होगा, जो आज उपलब्ध नहीं है। कुछ लोग भण्डारिसम ग्राम स्थित भगवती बाणेश्वरी का आप ही के साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं कि इसकी स्थापना इन्होंने ही की थी, पर कुछ लोगों के मत में इनकी स्थापना पार्वती परिणय नाटककार बाणभट्ट (बाण उपाध्याय ?) ने की थी।

पाणिनि की अष्टाध्यायी पर वैसे तो बहुत सारे विद्वानों ने अपनी-अपनी टीकाएँ लिखी हैं, तथापि उनमें वि.सं. १५१०-१५७५ के मध्य आचार्य भट्टोजी दीक्षित ने जो 'सिद्धान्तकौमुदी' नामक ग्रन्थ रचा है, उससे पाणिनीय व्याकरण की महत्ता और अधिक बढ़ गयी है। यहाँ तक कि लुप्तप्राय होनेवाला पाणिनीय व्याकरण भी बच गया। किसी ने इस ग्रन्थरत्न को देखकर लिख भी दिया कि —

"कौमुदी यदि आयाति वृथाभाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यदि नायाति वृथाभाष्ये परिश्रमः॥"

ठीक ही तो है यदि कौमुदी आती हो तो भाष्य का अर्थ करना आसान है, फिर सहजसाध्य भाष्य के लिए परिश्रम करना भी व्यर्थ है और यदि कौमुदी ही न आती हो, तो फिर भाष्य की गुत्थियाँ सुलझ नहीं पाएँगी, उस स्थिति में भी परिश्रम व्यर्थ जाएगा। तभी तो आचार्य वरदराज ने कौमुदी के पथप्रदर्शक के रूप में मध्यसिद्धान्तकौमुदी और लघुसिद्धान्तकौमुदी जैसे ग्रन्थरत्नों का निर्माण किया था। ये दोनों ही ग्रन्थ भट्टोजि दीक्षित की कौमुदी का लघुरूप और लघुतमरूप है। यहाँ यह भी प्रसंगान्तर नहीं होगा कि मध्यसिद्धान्तकौमुदी की सुललित एवं सुबद्धरचना शैली को देखकर भट्टोजि दीक्षित को यह शङ्का हुई कि इसके आगे हमारी कौमुदी का ह्रास न हो जाए, महत्त्वहीन न हो जाए, अतः शङ्कालुहृदय दीक्षित ने अपने ही शिष्य की कृति को शापित कर दिया, फलतः वह लोकप्रिय न हो सकी।

मिथिला में प्रायः इसी शाप के कारण पहले किसी ने भी मध्य या

लघुसिद्धान्तकौमुदी पर व्याख्या नहीं की। अथवा उन्होंने सोचा होगा कि जब मूल सिद्धान्त कौमुदी पर ही व्याख्या हो गयी, तो फिर संक्षिप्तसंस्करण पर व्याख्या करने की आवश्यकता ही क्या है ? यह सही है कि वर्त्तमान सदी में जहाँ सिद्धान्तकौमुदी एवं लघुकौमुदी पर चानचौर (घटहो) जि. समस्तीपुर वासी **चन्द्रमणि मिश्र** (१९१४) ने मैथिली में अर्थतरंगिणी की और तरौनी ग्रामवासी डॉ. **रामचन्द्र झा** (१९१५-१९९२) ने इन्दुमती हिन्दी व्याख्या की रचना की है; वहीं मध्यकौमुदी पर उनके अतिरिक्त, उनके परवर्ती पण्डित **कालीकान्त झा** एवं डॉ. **अर्कनाथ चौधरी** ने अलग - अलग व्याख्याओं की रचना की है। इनमें वरदबड्डा (अरड़िया) निवासी कालीकान्त झा की संस्कृत-हिन्दी टीकाओं का नाम सीता-सावित्री है तथा रुद्रपुर (झंझारपुर) निवासी जयपुर स्थित राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के प्रो. अर्कनाथ चौधरी की व्याख्या का नाम 'मध्यमनोरमापूरणी' है। परन्तु प्राचीन काल में मैथिलाचार्यों के द्वारा केवल सिद्धान्तकौमुदी पर ही व्याख्यायें होती रही हैं। इनमें शब्दतत्त्व प्रकाशकार **इन्द्रदत्त उपाध्याय** (१८वीं श.) की 'गूढ़फक्किका-प्रकाश', **हरिशङ्कर झा** (१८७७-१९४७) की टीका, **दीनबन्धु झा** (१८७८-१९५५) की 'मूलार्थविद्योतिनी', **चन्द्रधारी सिंह** (१९००-१९८३) की 'चन्द्रिका' (हिन्दी), **जगन्नाथ झा** का 'शब्दमहार्णव' तथा **रामचन्द्र झा** की व्याख्या मुख्य हैं। इसी दिशा में पं. **सुरेश झा शास्त्री** की सिद्धान्तकौमुदी एवं लघुकौमुदी की श्लोकबद्ध प्रस्तुति भी बड़ी प्रशंसनीय कृति है। जबकि **राधारमण ठाकुर** एवं **कलानाथ झा** की कारक प्रकरण पर हिन्दी टीका विलक्षण उतरी है।

अष्टाध्यायी पर भी **रुद्रधर-वासुदेव मिश्र-सृष्टिधर - श्रीनारायण मिश्र** आदि की व्याख्यायें सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। मीमांसकजी के अनुसार मैथिल पण्डित **रुद्रधर** ने पातञ्जल महाभाष्य पर आधारित अष्टाध्यायी पर बड़ी ही विलक्षण वृत्ति की रचना की है।[५९] यह बात भी परम स्मर्त्तव्य है कि प्राचीन काल में इस ग्रन्थ पर दो प्रकार से व्याख्यायें लिखी जाती थीं, एक विस्तृत और दूसरी संक्षिप्त। एक तो सूत्र की व्याख्या होती है और दूसरी टिप्पणी। पदमंजरीकार के मत में विस्तृत व्याख्या ही 'वृत्ति' होती है — "सूत्रार्थ प्रधानो ग्रन्थो वृत्तिः।"[६०] जबकि

टिप्पणी को ही विद्वानों ने वार्तिक भी कहा है। इसी प्रकार अष्टाध्यायी पर जहाँ **वासुदेव मिश्र** ने 'सारवृत्ति' नामक व्याख्या की रचना की है, वहीं आचार्य **सृष्टिधर**, अष्टाध्यायी की प्रसिद्ध और मुख्य टीकाओं में परिगणित 'भाषावृत्ति' के टीकाकार हैं। यह सही है कि इनकी यह व्याख्या 'भाषावृत्त्यर्थ विवृत्ति' मूल अष्टाध्यायी पर न होकर उसकी व्याख्या की व्याख्या है। परन्तु अष्टाध्यायी पर भी इन्होंने 'प्रभावृत्ति' की रचना की थी, इसका पता चलता है।[६१]

पतञ्जलिकृत व्याकरण महाभाष्य अपने आप में वही महत्त्व रखता है, जो कि पाणिनि की अष्टाध्यायी का है – ऐसा कहना अवश्य ही पुनरुक्ति होगी; फिर भी इस पर आदिकाल से लेकर अर्वाचीन काल पर्यन्त काफी व्याख्यायें होती रही हैं। कातंत्रविस्तरकार (१२वीं श. विक्रमाब्द के) **वर्द्धमान**, महाभाष्य के मैथिल व्याख्याकारों में न केवल प्रमुख हैं, अपितु सर्वाधिक प्राचीन भी हैं। इनका 'महाभाष्य प्रकाश' भाष्य-व्याख्याओं में उत्कृष्ट और विद्वत्तापूर्ण है। **प्रवर्त्तक उपाध्याय** का महाभाष्य प्रदीप पर जहाँ प्रदीपप्रकाश या प्रकाशिका[६२] व्याख्या मिलती है; वहीं १६५४ वि. से पूर्व रहे **नारायण** ने उक्त प्रदीप पर 'विवरण' नामक व्याख्या लिखी थी।[६३] परन्तु कहीं - कहीं इसका नाम 'महाभाष्यविवरण' भी प्राप्त होता है[६४], जिसके आधार पर यह अनुमान लगता है कि 'विवरण' प्रदीप की व्याख्या न होकर महाभाष्य की ही व्याख्या रही होगी। परन्तु इस खण्डित और अपूर्ण व्याख्या की पुष्पिका से यह एक भ्रम मात्र लगता है, जिसमें लिखा है कि – "इति नारायणीये श्रीमन्महाभाष्ये प्रदीपविवरणे अष्टमाध्यायस्य चतुर्थे पादे प्रथमाह्निकम्। पादश्चाध्यायश्च समाप्तः। शुभं भवतु।" **नारायण** १६वीं श. के अन्तिम चरण में हुए, ऐसा कुछ लोगों का मत है, जबकि कुछ लोग इन्हें उषाहरणनाटककार देवानन्द का पुत्र मानते हैं। **धनेश्वर उपाध्याय** की 'महाभाष्य चिन्तामणि', चिकनौटा के **लालजी झा** की महाभाष्य व्याख्या, **शुकदेव झा** (१९०० ई.) का 'महाभाष्यादर्श', **जुडाओन झा** का 'महाभाष्यविमर्श', **महेश झा** (१९०१-१९८३) की 'महाभाष्यविमला', **रुद्रधर झा** (१९२९-१९९०) का 'तत्त्वालोक', पं. **मधुकान्त झा** का 'महाभाष्य प्रकाश' एवं

मुक्तिनाथ ठाकुर (अथरी) की व्याख्यायें इस परम्परा की उल्लेखनीय रचनायें हैं। इनमें ठाढ़ी के पं. रुद्रधर झा हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापक थे। पं. शोभित मिश्र के साथ - साथ इन्होंने पद्मप्रसाद भट्टराई से व्याकरण पढ़ा था। अष्टाध्यायी के वृत्तिकार रुद्रधर आपसे भिन्न और प्राचीन हैं। इसी प्रकार १८७५ के आसपास रहे अथरी ग्रामवासी मुक्तिनाथ ठाकुर की महाभाष्य-व्याख्या के आधार पर उन दिनों शास्त्रार्थ भी हुआ करता था।

शुकदेव झा (१९०० ई.) जहाँ लघुमंजूषा एवं परमलघुमंजूषा के 'प्रकाश' व्याख्याकार हैं; वहीं परमलघुमंजूषा के व्याख्याकारों में म.म. **शशिनाथ झा** (१८६०-१९३२), म.म. **कृष्णमाधव झा** (१८९८-१९८५), **किशोरी झा** (१९५०), **सदानन्द झा** (१९००) आदि मुख्य रहे हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि म.म. कृष्णमाधव झा की 'तत्त्वप्रकाशिका' व्याख्या पर उनके ही भाई पण्डित **चन्द्रमाधव झा** (१९१०-१९८५) ने 'विवृत्ति' की रचना कर उसके साथ ही प्रकाशित करबाया था। वैयाकरण केसरी पं. चन्द्रमाधव झा का जन्म १९१० में पं. बुद्धिनाथ झा उपाख्य गोवर्द्धन झा के घर हुआ था। आपका संपूर्ण अध्ययन पं. दीनबन्धु झा एवं पं. मार्कण्डेय मिश्र के श्रीचरणों में ही हुआ था। आप स्वतन्त्रता सेनानी तथा संगीत के मर्मज्ञ भी थे। आप पाहीटोलस्थित सचलसंस्कृत विद्यालय में प्रधानाचार्य थे तथा आपने १९८५ में (प्रयाग में) शरीर त्याग किया था।

शब्देन्दुशेखर पर यद्यपि **विद्याकर मिश्र** की एकमात्र व्याख्या 'प्रकाश' प्राप्त होती है, परन्तु लघुशब्देन्दुशेखर पर यहाँ व्याख्याकारों की कमी नहीं रही। लघुशब्दार्थदीपक, जया, नागेशोक्ति प्रकाश, प्रदीप, लघुशब्देन्दुप्रकाश और दुर्गा इस शृंखला की अविस्मरणीय व्याख्यायें हैं; जिनके प्रणेता क्रमशः **हर्षनाथ झा** (१८५०), **जयदेव मिश्र** (१८५४-१९२६), **खुद्दी झा** (१८६६-१९२७), **मुक्तिनाथ मिश्र** (१८७१-१९४७), **बुद्धिनाथ झा** और **हर्षनाथ मिश्र** हैं। इनके अतिरिक्त भी **श्रीकृष्ण मिश्र** हिसार (१९२५), पं. **श्यामानन्द झा** (लालगंज), पं. **शोभाकान्त झा** (केशुली), **जटाशंकर झा** (बराई निवासी, १९२५-१९७०); **ताराकान्त**

झा (१९१५-१९९६ ई. और **माधव झा** की लघुशब्देन्दुशेखर व्याख्यायें प्राप्त होती हैं। ताराकान्त झा मधुबनी मण्डलान्तर्गत नगवास के पास स्थित नवटोली ग्राम के प. स्वरूप झा के पुत्र थे, जिनकी दीपिका व्याख्या हिन्दी में प्रसिद्ध है ।

परिभाषेन्दुशेखर पर भी हर्षनाथ झा (शारदापुर), जयदेव मिश्र (गजहरा) एवं खुद्दी झा (कोइलख) की व्याख्यायें मिलती हैं; जिनका नाम क्रमशः परिभाषार्थदीपक, विजया और प्रकाश है। परन्तु इन व्याख्याताओं से पूर्व १७८०-१८६० में स्थित रहे **आँखी झा** से ख्यात पं. **जीवनाथ झा** ने परिभाषार्थमंजरी की रचना की थी, जो बड़ी विलक्षण और अनुपम रचना कही जाती है। मधुबनी के हरिनगर निवासी पण्डितजी से एक बार किसी सम्मेलन में किसी पण्डित ने पूछा —

"असमस्य समस्यापि भीहमानुख्यमस्यतः।
कः काकोऽकः सतो ब्रूहि ...."

तो इन्होंने उत्तर दिया था — "स्पर्शहीनो मुदा विधुः"। अर्थात् प्रश्न का अभिप्राय यह था कि 'असमस्य' शब्दस्य 'भीमाख्यस्य' तथा 'समस्य' शब्दस्यापि 'हनुमतः' (**भीहमानुख्यमस्यतः**) काकः अकः सतः कः ? 'काकः' शब्दगत ककारं विहाय 'अकः', पुनः तेन सह तकारं संयोज्य 'सतः', नाम 'तातः' पिता 'कः' आसीत् ? इसी पर इन्होंने कहा था — "स्पर्शवर्णों को छोड़, मुदा 'विधु' ही उन दोनों के पिता थे। उ + आ + इ + उः = वायुः। विधु में से जब स्पर्शवर्णों को हटा देङ्गे तो ये ही चार वर्ण वचते हैं। साथ ही अपर **वर्द्धमान** (१२ वीं. श.) ने भी 'परिभाषाविवेक' का प्रणयन किया था। **बुद्धिनाथ झा** (१९११-१९९८) और डॉ. **श्रीनारायण मिश्र** की जहाँ एक ही नाम से अर्थात् 'प्रकाश' नामक व्याख्या देखी जाती है; वहीं गजहरा निवासी **हर्षनाथ मिश्र** की 'दुर्गा' व्याख्या आधुनिक कृतियों में उल्लेखनीय रचना है। जब कि छतौनी ग्रामवासी डॉ. **उदयकान्त झा** की "परिभाषेन्दुशेखर भूतिविजय-योस्तुलना" किसी भी मौलिक से कम नहीं है। इसी प्रकार **हरिशंकर झा** (१८७७-१९४७) और **रमेश झा** (१९०७-१९५७) ने भी परिभाषेन्दुशेखर

की व्याख्या की थी, पर वह व्याख्या नष्ट हो गयी लगती है।

म.म. **हर्षनाथ झा** न केवल मनोरमाभावार्थदीपक (प्रौढ़मनोरमा-कारकान्त की व्याख्या) की रचना की थी, अपितु वे शब्दरत्न के भी 'शब्दरत्नार्थदीपक' व्याख्याकार हैं। **सुखदेव झा** का 'मनोरमारत्नप्रकाश', **आद्याचरण झा** की 'मनोरमारत्नप्रकाशिका', **बुद्धिनाथ झा** का भी मनोरमाप्रकाश जहाँ मनोरमा की मनोरमा व्याख्यायें हैं; वहीं **बुद्धिनाथ झा** एवं **उदयकान्त झा** की पृथक् - पृथक् 'प्रकाश' व्याख्यायें शब्दरत्नाधारित महनीय कृतियाँ हैं। जब कि प्रौढमनोरमा- इन्दुकला के रचयिता, अलपुरा (ताजपुर, झंझारपुर अनुमण्डल) ग्रामवासी प.जागेश्वर झा के पुत्र डॉ. बैद्यनाथ झा (जनवरी १९५४) रा.सं.संस्थान के जयपुर परिसर में कार्यरत हैं।

म.म. **जयदेव मिश्र** (जयाकार), म.म. **खुद्दी झा** (नौकाकार) एवं स.त.स्व.प. **बच्चा (धर्मदत्त) झा** जहाँ व्युत्पत्तिवाद के व्युत्पन्न व्याख्याता रहे हैं; वहीं वाक्यपदीय के टीकाकारों में पं. **द्रव्येश झा** (१८९१-१९४२) एवं प. **कृष्णमाधव झा** (१८९८-१९८५) महदुल्लेखनीय माने जाते हैं। इनकी प्रकाशिका और तत्त्वप्रकाशिका व्याख्यायें दर्शन और व्याकरण दोनों के ही छात्रों के लिए उपयोगी हैं। इनके अतिरिक्त डॉ. बैद्यनाथ झा ने भी व्युत्पत्तिवाद पर हिन्दी टीका लिखी है, जो झंझारपुर अनुमण्डल के ताजपुर - अलपुरा ग्राम निवासी हैं। वैयाकरणभूषणसार पर प. **वनमाली मिश्र** की व्याख्या 'वैयाकरण मतोन्मज्जिनी' लघुकाय होने पर भी परम उपादेय और विलक्षण है। जब कि **दीनबन्धु झा** की 'भूषणसार दीपिका' एवं **उदयकान्त झा** की 'प्रकाश' व्याख्यायें भूषण के तात्पर्य समझाने में वास्तविक भूषण ही हैं। इसके साथ ही बरदबट्टा ग्राम निवासी नरौनय मूलक प.केदारनाथ झा एवं सावित्रीदेवी के पुत्र **प. कालीकान्त झा** भूषणसार की संस्कृत-हिन्दी टीका कमला के रचयिता हैं।

जयादित्य और **वामन** की युगलकृति 'काशिका' पर **रामदेव मिश्र** (१२वीं. श.) का 'वृत्तिप्रदीप', **वासुदेव मिश्र** (१६वीं श.) की 'सारवृत्ति', **गोकुलनाथोपाध्याय** के पदवाक्यरत्नाकर पर **यदुनाथ मिश्र**

(१८८५-१९२५) की गूढ़ार्थ दीपिका जहाँ उत्कृष्ट रचनाओं में गिनी जाती हैं; वहीं **कलाधर उपाध्याय** (१६वीं श.) की शब्दकौस्तुभ व्याख्या, **परमेश्वर झा** (१८५६-१९२४) की ऊष्मविवेकटीका, **जगन्नाथ मिश्र** की पदवाक्यरत्नाकर व्याख्या, **श्रीधरठक्कुर** की भागवृत्तिटीका, **नरपति मिश्र** किं वा **महा मिश्र** की न्यास-व्याख्या भी व्याकरण की अन्यतम कृतियाँ हैं।

११०० ई. में आचार्य **विश्वरूपोपाध्याय** ने न केवल धातुवृत्ति की रचना की, वल्कि भाषावृत्ति पञ्जिका का भी प्रणयन किया था। अन्य व्याकरण सम्बन्धी कृतियों में मुख्य हैं — पीताम्बर सुत मङ्गरौनीवासी जगन्नाथ से भिन्न **जगन्नाथ झा** के शब्दमहार्णव एवं शब्दकौस्तुभ खण्डन, म.म. **शशिनाथ झा** (१८६०-१९३२) की विभक्त्यर्थ प्रकाशिका, म. वै. **दीनबन्धु झा** (१८७८-१९५५) की समासशक्ति-दीपिका व हरिकारिका टीका, **सदानन्द झा** (१९५०, विशौल) की कौमुदीयावशिष्ट-शब्दविचार चर्चा अथवा शाब्दबोध विचारचर्चा एवं पण्डित **वेदानन्द झा** की प्रत्येकार्थ प्रकाशिका विवृति आदि।

यहाँ हम कुछ प्रमुख मैथिल वैयाकरणों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना चाहते हैं, जिनमें कोई एक-दो कदाचित् विवादास्पद भी हो सकते हैं; परन्तु उनका नाम हमने मैथिल के रूप में उद्धृत देखकर ही दिया है। ऐसे आचार्यों के प्रसंग वृहद्शोध की आवश्यकता है, जिनके सम्बन्ध में मिथिला में भी पर्याप्त प्रमाण प्राप्त होते हैं।

१. *कात्यायन* — (लगभग, विक्रम के २५०० वर्ष पूर्व)

पाणिनि व्याकरण त्रिमुनि व्याकरण कहलाता है, इसमें कात्यायन और पतञ्जलि का भी उतना ही योगदान है, जितना कि स्वयं महर्षि पाणिनि का। इनमें कात्यायन, पाणिनि और पतञ्जलि के मध्यवर्ती हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है पाणिनि की अष्टाध्यायी पर कात्यायनकृत वार्तिक का होना और महाभाष्य में पतंजलि द्वारा उस वार्तिक की चर्चा करना।[६५] किन्तु कात्यायन, पाणिनि के बहुत अर्वाचीन नहीं हैं, वल्कि समकालिक ही रहे हैं। कहते हैं परस्पर शापित होने से पाणिनि और

कात्यायन की मृत्यु एक ही दिन 'त्रयोदशी' को हुई थी, जिस कारण पण्डित समाज प्रत्येक त्रयोदशी को ही अनध्याय मानता है। क्यों कि कौन-सी त्रयोदशी को इन विभूतियों का अन्त हुआ था, निश्चित नहीं है। पुरुषोत्तम देव के त्रिकाण्डशेष में कात्यायन के कई नाम गिनाये गये हैं; यथा — कात्य, कात्यायन, पुनर्वसु, वररुचि और मेधाजित्। इनमें मेधाजित् को छोड़ शेष सभी नामों का उल्लेख महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी किया है। जब कि सदुक्तिकर्णामृत में 'श्रुति'[६६] और कथासरित्सागर में इनका 'श्रुतधर' नामान्तर[६७] भी मिलता है। परन्तु मीमांसकजी श्रुति-श्रुतिधर किंवा श्रुतधर को वार्तिककार से भिन्न मानते हैं[६८]। इनके मत में वार्तिककार कात्यायन का दूसरा नाम 'वररुचिकात्यायन' था, जो याज्ञवल्क्य के पौत्र (कात्यायनी पुत्र कात्यायन के आत्मज) थे।[६९]

यद्यपि हमने इनके ऊपर अपने दूसरे विनिबन्ध 'वररुचि-कात्यायन' में विस्तार से चर्चा की है, तथापि सूत्ररूप से यहाँ कुछ आवश्यक बातें बता देना उचित ही होगा कि — "प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः, यथा लोके वेदे च प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेषु प्रयुञ्जते[७०]" के आधार पर वार्तिककार को दाक्षिणात्य माना गया है, जब कि कुछ लोगों के मत में कात्यायन गोत्र को दक्षिण का होने से गोत्र प्रवर्त्तक भी उधर के ही रहे होंगे। परन्तु सत्यकाम वर्मा-बेबर-मैक्सम्यूलर-गोल्डस्टूकर आदि समीक्षकों ने सप्रमाण यह सिद्ध कर दिया है कि वार्तिककार अवश्यमेव प्राग्देशीय थे। याज्ञवल्क्य के पौत्र होने से इनका मैथिल होना निर्विवाद सिद्ध है। वैसे तो 'कात्यायन' याज्ञवल्क्य के पुत्र 'स्मृतिकार' थे और उनके पुत्र थे वररुचि; परन्तु वार्तिककार वररुचि, कात्यायन सुत होने से वररुचि कात्यायन से ही प्रसिद्ध हो गये। कुछ लोगों के मत में वररुचि का ही दूसरा नाम कात्यायन था, जो गोत्र सम्बद्ध था। स्कन्दपुराण के अनुसार याज्ञवल्क्य के पुत्र का नाम 'कत' था, जिनके पुत्र 'कात्य' हुए। कात्यायन इन्हीं कात्य के पुत्र थे, जो वररुचि से प्रसिद्ध हुए। पुराणों के अनुसार याज्ञवल्क्य का एक आश्रम 'आनर्त' (गुजरात) में भी था, जहाँ उनके प्रपौत्र वररुचि अपना अधिक समय बिताया करते थे। इसीसे उनकी भाषा या बोली पर दक्षिणी प्रभाव पड़ गया था, जिससे महाभाष्यकार को "प्रिय

तद्धिता दाक्षिणात्याः" लिखना पड़ा।

नागेश के लघुशब्देन्दुशेखर से यह विदित होता है कि कात्यायन पाणिनि का साक्षाच्छिष्य हैं और यही वार्तिककार भी हैं।[७१] प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में कोई एक 'कात्यायन' नहीं हुआ है, परन्तु अष्टाध्यायी पर वार्तिक लिखनेवाले कात्यायन (जिनका वास्तविक नाम वररुचि था) दूसरे हैं। कात्यायन (प्रथम) वार्तिककार कात्यायन द्वितीय के पिता थे। एक कात्यायन यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र, स्मार्त्तसूत्र के रचयिता भी हैं। 'कात्य' जहाँ गोत्र प्रत्ययान्त नाम है, वहीं 'कात्यायन' युवप्रत्ययान्त नाम है, जिसका प्रयोग पूज्य व्यक्ति के सम्मान के लिए किया जाता है।[७२] महाभाष्य में एक स्थल पर 'जिह्वाकात्य' पदका निर्देश हुआ है[७३], जिसका अर्थ 'जिह्वाचपलः कात्यः' — ऐसा किया गया है[७४]। जिह्वा चापत्य यानि आवश्यकता से अधिक कहने का स्वभाव वररुचि कात्यायन का गुण वैशिष्ट्य था। अष्टाध्यायी वार्तिक के अतिरिक्त व्याकरण सम्बन्धी इनकी दूसरी रचना है — 'लिंगानुशासन'। यद्यपि यह लिंगानुशासन आज उपलब्ध नहीं है, परन्तु वररुचि के लिंगानुशासन की वृत्ति में कात्यायन का लिंगप्रवक्ता आचार्य के रूप में निर्देश होने से यह स्पष्ट है कि ये कात्यायन, विक्रमसभ्य वररुचि से पूर्ववर्ती हैं, जो वार्तिककार ही थे। वार्तिककार कात्यायन ने जिस प्रकार अष्टाध्यायी के लघुपाठ पर अपने वार्तिक रचे, उसी प्रकार उन्होंने धातुपाठ के अर्थरहित लघुपाठ को स्वीकार कर[७५] वार्तिक की भी रचना की है। यहाँ यह बताना प्रायः अनावश्यक न होगा कि जिनमें वेदों के देवता ऋषि एवं छन्दों की सूची प्रस्तुत की जाय, उसे ही अनुक्रमणी कहते हैं, जिसकी रचना वेदों की रक्षा के लिए ही होती रही है। प्रत्येक वेद की अपनी पृथक् अनुक्रमणी है, जिसमें ऋक्सर्वानुक्रमणी और शुक्लयजुः सर्वानुक्रमणी के रचयिता न जाने कौन से 'कात्यायन' हैं, प्रथम या द्वितीय अथवा तृतीय। अर्थात् कात्यायन नाम के तीन व्यक्तियों की सत्ता मानी ही जाती है।

१. गोत्र प्रवर्त्तक मुनिविशेष।
२. यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र, ऋक्सर्वानुक्रमणी आदि के कर्त्ता। तथा
३. वार्त्तिककार।

परन्तु इनके अतिरिक्त भी कुछ लोग कात्यायन नामधारी मुनि वा आचार्यों को पाते हैं —

१. याज्ञवल्क्य एवं कात्यायनी के पुत्र।

२. याज्ञवल्क्य सुत कतमुनि के पौत्र एवं कात्य के पुत्र।

३. कात्यायन स्मृतिकार आदि। परन्तु इनमें कुछ एक-दूसरे से अभिन्न भी हो सकते हैं।

परन्तु कात्यायन श्रौतसूत्र, कात्यायन गृह्यसूत्र, कात्यायन धर्मसूत्र, कात्यायन प्रातिशाख्य, कात्यायनी शाखा आदि के प्रवक्ता कात्यायन निश्चय ही अभिन्न हैं, जिसको कात्यायन प्रातिशाख्य के उब्बट, अनन्तभट्ट, श्रीरामशर्मा आदि के भाष्यों से भी बल मिलता है। चरकसूत्रस्थान में निर्दिष्ट कात्यायन आयुर्वेद का विद्वान् और शालाक्यंतंत्र का प्रणेता है। जब कि कौटिल्य अर्थशास्त्र में चर्चित कात्यायन राजनीति-अर्थशास्त्र आदि में कुशल था तथा मंत्र, ब्राह्मण, धर्मसूत्र एवं स्मृति का प्रणेता है। साथ ही यह वार्तिककार से प्राचीन भी है। किन्तु सर्वानुक्रमणी और बृहत्कथाकार कात्यायन इन दोनों से ही भिन्न हैं।

कुछ लोग वार्तिककार और सर्वानुक्रमणीकार को भिन्न नहीं मानते और वार्तिककार कात्यायन को मैथिल मानकर लिखते हैं — "But I am sure that he (Born in 1500 BC) was the inhabitant of Mithila"[७६]

२. *वात्स्यायन* — (विक्रम के लगभग १५०० वर्ष पूर्व)

लिंगानुशासनकार वात्स्यायन, कामसूत्रकार वात्स्यायन से तो भिन्न हैं, परन्तु यह पता नहीं कि दार्शनिक वात्स्यायन से भिन्न हैं अथवा नहीं। यदि न्यायभाष्यकार से अभिन्न हैं, तो ये मैथिल थे ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु यह भी कहा जाता है कि वैयाकरण वात्स्यायन सबसे भिन्न और मैथिल थे। पाश्चात्य ऐतिहासिक २५० वर्ष विक्रम पूर्व को इनका समय मानते हैं, जब कि भारतीय इतिहासकार के मत में १५०० विक्रम पूर्व के आसपास इनका काल माना जाता है। यह भी कहते हैं कि न्यायभाष्यकार वात्स्यायन, अर्थशास्त्रकार कौटिल्य, चन्द्रगुप्त के अमात्य चाणक्य, पञ्चतन्त्रकार विष्णुशर्मा और विद्यापति के पूर्वज विष्णुशर्मा सब

अभिन्न थे; परन्तु इन सब के समय भेद के कारण ऐसा मानना उचित न होगा ।

३. *वररुचि मिश्र* — (ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी)

विक्रमादित्य के सभासद और महाकवि कालिदास के समसामयिक वररुचि मिश्र, जहाँ अष्टाध्यायीवृत्ति के निर्माता हैं[७७], वहीं इन्होंने 'लिंगविशेषविधि' या लिंगानुशासन की भी रचना की है, इसमें आप लिखते हैं — "इति श्रीमदखिलवाग्विलासमण्डित सरस्वतीकण्ठाभरणानेकविशरण श्रीनरपति विक्रमादित्य किरीटकोटि निघृष्टचरणारविन्द आचार्यवररुचिविरचिता लिंगविशेषविधिः समाप्ता ।" इस पर स्वयं वररुचि की स्वोपज्ञावृत्ति[७८] भी प्राप्त होती है तथा मूलग्रन्थ का ८ वाँ श्लोक हर्षवर्द्धनीय लिङ्गानुशासन की व्याख्या में भी उद्धृत हुआ है — "यदुक्तम् — "दीधितिमेकामुक्त्वा रश्म्यभिधानं तु पुंस्त्येव" । इनके आर्याछन्द में लिखित लिंगानुशासन का सर्वप्रथम और प्राचीन उद्धरण जिनेन्द्र विरचित "काशिका विवरण पञ्चिका"[७९] में मिलता है — "तथा चाह लिंगकारिकाकारः — ईदूदन्तं यच्चैकाच् शरद्दरद्दृषत् प्रावृषश्चेति ।" पत्रकौमुदी[८०] और विद्यासुन्दर काव्य भी आप ही की रचना है तथा व्याकरण विषयक एक और ग्रन्थ 'प्रयोगविधि' का आपने निर्माण किया था, जिस पर 'नारायण' नामक किसी आचार्य की टीका तिरुअनन्तपुरम् से प्रकाशित हुई है। माधवनिदान की मधुकोष व्याख्या में चर्चित[८१] उपसर्गसूत्रकार वररुचि मेरी जानकारी में आपसे भिन्न नहीं हो सकते; जब कि उभयाभिसारिका भाण भी आपही की रचना कही जाती है। इसमें स्वयं को आप 'मुनि' बतलाते हैं[८२], जिससे आप तपस्वी सिद्ध होते हैं। कात्यायन कृत 'अलंकारव्याकरण' पर 'वृत्ति'[८३] लिखनेवाले वररुचि कौन हैं - कहा नहीं जा सकता। परन्तु ज्योतिष में 'वाक्यकरण' और नीतिशास्त्र में 'नीतिरत्न' (जिसकी जर्मन भाषा में Boehtlingk ने अनुवाद किया है) की रचना आपही ने की है। आपकी कृतियों में तैत्तिरीय प्रातिशाख्य व्याख्या, निरुक्तसमुच्चय (?), सारसमुच्चय (?), लिंगवृत्ति (लिंगविशेष विधि), कातंत्र उत्तरार्द्ध, कोश आदि को भी बताया जाता है, पर इनमें कुछ रचना आपकी नहीं हैं।

हमारे चरितनायक विक्रमसभ्य वररुचि आलंकारिक भी थे, किन्तु इनकी कोई भी आलंकारिक रचना प्राप्त नहीं होती। आ. शिवराज कौण्डिन्यायन लिखते हैं — "काश्यप, वररुचि, ब्रह्मदत्त, नन्दीस्वामी-एते चत्वारो दण्डिनः प्राचीनाः अलंकारशास्त्रकाराः, काव्यादर्शहृदयङ्गमायां काव्यादर्शश्रुतानुपालिन्यां च यथायथमुल्लिखिताः।"[८४]

एक वररुचि ११०० ई. के आसपास हुए हैं, जिन्होंने २५ श्लोकों में 'वाररुचप्रयोग संग्रह' नामक व्याकरणग्रन्थ की रचना की है। स्वयं इन्होंने इस ग्रन्थ पर 'प्रयोगविवेक' और 'प्रयोगविधि' नामक दो व्याख्या भी लिखी है। इसकी तीसरी व्याख्या है **धर्मकीर्त्ति** नामक मैथिल की 'प्रयोगमुख'। इन्होंने अपने 'पत्रकौमुदी' ग्रन्थ में लिखा है कि पत्र लिखने से पहले उसमें 'अंकुश' का चिह्न अवश्य देना चाहिए। यह एक मैथिल परम्परा है तथा विद्यापति की 'लिखनावली' का आधार भी यही ग्रन्थ है। पल्लीवंश की पञ्जी में इनकी वंशावली इस प्रकार दी गयी है — राउलभृगु > अभिमन्यु > वररुचि > देल्हन > धारेश्वर > धीरेश्वर (१२५० ई.)। ये वररुचि हुए हैं वर्णरत्नाकरकार ज्योतिरीश्वर के प्रपितामह, जो पल्लीवंशीय विद्वान् और 'निरुक्त निचय' के कर्त्ता हैं। 'नोटिसेज ऑफ मैन्युस्क्रिप्ट्स' में डॉ. मित्र ने इनकी चर्चा की है।

४. *जयादित्य मिश्र* — (प्रथम श. वि.)

पाणिनि सूत्रों पर की गयी 'काशिका' (काशी में लिखे जाने के कारण) वृत्ति के रचयिता आचार्य जयादित्य और वामन दोनों हैं। यद्यपि काशिका को युगल कृति मानने की परम्परा बलवती रही है, फिर भी इस अनुमान को भी सर्वथा नकारा नहीं जा सकता कि जयादित्य और वामन दोनों ही आचार्य अलग- अलग स्थानों व समयों में अलग- अलग रूपसे समस्त अष्टाध्यायी पर, किन्तु एक ही 'काशिका' नाम से वृत्ति लिखे हुए होंगे, जो आज पूर्णरूप से प्राप्त नहीं होती।[८५] वल्कि विडम्बना तो यह है कि आठ अध्यायों वाली इस काशिका वृत्ति के प्रथम पाँच जयादित्य और शेष तीन वामन कृत वृत्ति प्राप्त होती है, जो दोनों की वृत्तियों को लेकर ही पूर्ण है। सम्भावना यह भी है कि (वामन पूर्व) जयादित्य की अपूर्ण 'काशिका' को देखकर वामन ने उसे पूरा किया हो,

जो वामन साहित्यिक और जैन वामनाचार्यों से भिन्न हैं।

जयादित्य, मैथिल मीमांसक जयादित्य[८६] से भिन्न प्रतीत नहीं होते। इत्सिंग, इनकी मृत्यु ७१८ विक्रम सं. में हुई मानते हैं। किन्तु जिस जयादित्य की चर्चा ये करते हैं, लगता है वे इनसे भिन्न विशैबार मूलक हरादित्य-देवादित्य-कर्मादित्य आदि के पूर्वज रहे होंगे। जब कि ये थे पद्मनाभ मिश्र के पूर्वज और विक्रमसभ्य वररुचि के वंशज।[८७]

एक परम्परा जहाँ जयादित्य को वररुचि मिश्र का पौत्र (न्यासदत्त का पुत्र) मानती है; वहीं दूसरी मान्यता के आधार पर आप वररुचि के ही पुत्र थे[८८]। म.म. परमेश्वर झा लिखते हैं कि पम्मारवंशीय राजा विक्रमादित्य का शासन मिथिला पर्यन्त चलता था। मिथिला में विक्रमादित्य के आने का कारण यह था कि हरिहर क्षेत्र में बौद्धसंघ एवं मैथिलवर्ग के बीच शास्त्रार्थ हुआ, परन्तु बौद्धलोगों के द्वारा राजा के बल पर मैथिल पण्डितों का अपमान किया गया। तब सभी पण्डित क्रुद्ध होकर वररुचि मिश्र के पुत्र जयादित्य मिश्र को विक्रमादित्य के यहाँ भेजे। वहाँ क्षिप्रानदी के तटस्थ महाकाल शिव मन्दिर में पूजा के अवसर पर दोनों की भेंट हो गयी, फिर दोनों के बीच श्लोकबद्ध प्रश्नोत्तर हुआ —

"के यूयं, कुत आयाता, अत्र वक्तव्यमस्ति किम्?
मैथिला मिथिलातोऽत्र शकादित्येन पीडिताः।
आः स जीवति? कुत्रास्ति? नेपाले बौद्धसङ्कुले
इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः सोऽचिरेण भविष्यति।।"

इसके बाद दलबल सहित विक्रमादित्य मिथिला मण्डल आकर अधिकार जमाये। उनके ही वंशज-राजपूत इस देश में सम्प्रति 'गन्धबरिया' कहलाते हैं।[८९] इस कथानक से भिन्न एक और कथा प्राप्त होती है कि जिस समय बौद्धमत का प्रावल्य मिथिला की पड़ोस नेपाल में हो रहा था, तब वीरतीर्थ प्रभञ्जो नामक बौद्ध संन्यासी ने विरौल गाँव में एक पाठशाला स्थापित की, जिस स्थान को लोग आज भी संन्यासी डीह के नाम से पुकारते हैं। उस समय दीर्घोदय वंश के आचार्य वररुचि विक्रमसभा में थे। पर उनके पौत्र नवयुवक धर्मदत्त से रहा न गया, शास्त्रार्थ में जा-जुड़े। विजय पायी और विक्रमादित्य से उन्हें 'जयादित्य' की उपाधि

मिली तथा पारितोषिक भी प्राप्त हुआ। अब भी उस गाँव में विक्रम के नाम पर अनेकों जलाशय मिलते हैं, जो इस किंवदन्ती को पुष्ट करते हैं।[१०]

५. *शबर स्वामी* — (२ रीश.ई.)

मीमांसक शबरस्वामी व्याकरण के उणादिसूत्रकार हैं, जिनके कल्पकलिका भाष्य की भी चर्चा कई जगह प्राप्त होती हैं।[११] रघुनाथ पुस्तकालय जम्मू में हर्षवर्द्धन कृत लिंगानुशासन की एक व्याख्या अप्रकाशित सुरक्षित है, जिसका नाम 'सर्वार्थलक्षणा' है। इसके प्रणेता हैं 'दीपिस्वामिपुत्रः शबरस्वामी', जिन्हें कुछ लोग मीमांसक शबरस्वामी से भिन्न कहते हैं। परन्तु कुछ लोगों के अभिमत में ये देवादित्यापर नामक शबरस्वामी[१२] से भिन्न नहीं हो सकते। यह भी कहा जाता है कि इन्होंने चारों वर्णों की कन्याओं से विवाह किया था, जिनसे इन्हें छः पुत्र उत्पन्न हुए — वराहमिहिर, भर्तृहरि, विक्रमादित्य, हरिश्चन्द्र, शङ्कु और अमरसिंह —

"ब्राह्मण्यामभवद्वराहमिहिरो ज्योतिर्विदामग्रणी
राजाभर्तृहरिश्च विक्रमनृपः क्षत्रात्मजायामभूत्।
वैश्यायां हरिश्चन्द्र वैद्यतिलको जातश्च शङ्कुः कृती
शूद्रायाममरः षडेव शबर-स्वामिद्विजस्यात्मजाः॥"[१३]

परन्तु यह अन्वेषणीय और अनुसन्धेय है। यदि ये मीमांसक शबरस्वामी से भिन्न नहीं हैं, तो इनके मैथिल होने में सन्देह नहीं रह जाता।

६. *मण्डन मिश्र* — (८ वीं श. ई.)

मिथिला की महिषी (माहिष्मती) ग्रामवासी आचार्य मण्डन मिश्र, मूलतः मीमांसक एवं नैयायिक थे। इनके गृहद्वार पर शुकियाँ भी वेद के स्वतः प्रमाण परतः प्रमाण पर शास्त्रार्थ करती थीं, जैसा कि कहा गया है — "स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थ नीडातरु सन्निपाते जानीहि तन्मण्डनमिश्रधाम॥"[१४]

जिनके घर पर कीरांगनायें भी वेद के स्वतः प्रामाण्य पर विचार करती हों, इससे यही सिद्ध होता है कि उनके घर पर सतत् वेदचर्चा, शास्त्रार्थ और मीमांसाशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन चलता ही रहता था, जिसे

सुनते - सुनते पिञ्जड़े में बन्द तोते भी बोलने लगे थे।

मीमांसक जी ने इनका समय वि.सं. ६९५ से पूर्व कहा है[९५], जब कि शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी कलि सं. ३७४०[९६] (१३५७ ई.) में मण्डन मिश्र के समकालिक प्रभाकर के अनुयायियों का उल्लेख करते हैं — "........ अथवा सूत्राणि, यथा विध्युद्देश इति प्राभाकराः - अपः प्रणयतीति यथा।" अतः यह काल मण्डन मिश्र का भी अन्तिम सीमा रहा होगा। मण्डन मिश्र का शंकराचार्य से शास्त्रार्थ हुआ माना गया है और शंकराचार्य का मण्डन के गुरु कुमारिल भट्ट से परिचय हुआ माना जाता है। इसमें मतभेद भले ही हों, पर समसामयिकता में वैमत्य नहीं है। इसके आधार पर आचार्य मण्डन का समय ७८८-८३४ ई. के आसपास माना जा सकता है। यद्यपि कुछ लोग इन्हें महाराष्ट्र के, तो कुछ लोग मध्यप्रदेश के मानते हैं; किन्तु मीमांसा दर्शन के इतिहास मेंप. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर ने सप्रमाण इन्हें मिथिला के माहिष्मती ग्राम निवांसी बताया है तथा इनका समय — ६१५-६९५ ई. कहा है[९७]। जब कि त्रिलोकनाथ मिश्र के अनुसार भी ये मिथिला की विभूति थे, पर पीछे मिथिला को छोड़ युक्तप्रान्त के मण्डला में अपना निवास बनाये।[९८] किन्तु पं. सहदेव झा ने इसका भी खण्डन करते हुए अपने मैथिली ग्रन्थ 'वाचस्पति मिश्र' में इन्हें प्रबल युक्तियों के द्वारा महिषी निवासी ही सिद्ध किया है। ब्रह्मसिद्धि-विधिविवेक, विभ्रमविवेक, भावनाविवेक, मीमांसानुक्रमणी, वेदान्त वार्तिक आदि इनकी प्रमुख रचनायें मानी जाती हैं। परन्तु व्याकरण में ३६ कारिकाओं वाली 'स्फोटसिद्धि' इनकी प्रसिद्ध रचना है, जो वर्णवादियों के खण्डन स्वरूप, मीमांसा दर्शन के प्राण स्फोट सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए लिखी गयी है। इस पर स्वयं इनकी व्याख्या भी है। वैसे इस ग्रन्थ पर एक व्याख्या 'गोपालिका' भी मिलती है, जो दक्षिण में किसी परमेश्वर के द्वारा १६ वीं श. में लिखी गयी है। कहना न होगा कि 'गोपालिका' का महत्त्व स्फोटसिद्धि से किसी भी मायने में कम नहीं है।

७. हलायुध शर्मा — (१० वीं श. ई.)

क्रिया विशेष्यता एवं अभिधानरत्नमालाकोशकार हलायुध शर्मा का काल ईसा की दशवीं शताब्दी यानि ९५० ई. के आसपास माना गया है।[९९] जब कि कुछ लोगों ने १२५० वि.सं. (अथवा १२३०-१२६०) को इनका समय स्वीकार किया है।[१००] परन्तु ये दोनों ही हलायुध एक नहीं हैं, क्यों कि एक का सम्बन्ध राष्ट्रकूटवंशीय राजा कृष्णराज तृतीय एवं वाक्पतिराज राजा मुंज से था तो दूसरे का गौड़नरेश राजा लक्ष्मणसेन से, जिनका समय अलग - अलग है। इनमें हलायुध प्रथम (१०वीं श.) राष्ट्रकूटवंशीय कृष्णराज तृतीय (वि.सं. ९९७-१०१३) के सभा पण्डित थे जो स्वयं कविरहस्य में लिखते हैं —

"तोलयत्यतुलं शक्त्या यो भारं भुवनेश्वरः।
कस्तं तुलयति स्थाम्ना राष्ट्रकूट कुलोद्भवम्।।"

इनके आश्रयदाता कृष्णराज तृतीय 'अकालवर्ष' उपनामक थे, पर इस उपनाम के कृष्णराज भी दो हुए हैं — कृष्णराज द्वितीय एवं तृतीय। इनमें तृतीय ही इनके आश्रयदाता थे, जिसकी सिद्धि पिंगलछन्दःशास्त्र की व्याख्या मृतसंजीवनी से हो जाती है। इसमें लिखा है कि — "त्वया कृत परिग्रहे क्षितिपवीर (तुडिगवीर) ! सिंहासने ......" (७/१७) तथा — "यशः शेषीभूते खुडिगनरनाथे गुणनिधौ" (७/२०)। यहाँ स्मर्त्तव्य है कि ऐतिहासिकों ने यह प्रमाणित किया है कि तुडिगवीर, तुडिगदेव अथवा खुडिगवीर, खुडिगदेव कृष्णराज तृतीय के वैमात्रेय थे, जिनका समय एक ही रहा होगा। 'खुडिगवीर' विशेषण के पीछे कहा जाता है कि उनके खुडिग या तुडिग प्रान्त के सामन्त होने के कारण उन्हें यह विशेषण दिया गया था। एक प्राचीन शिलालेख में कहा गया है कि —

"ऐन्द्र पदजिगीषयेव स्वर्गमधिरूढ़े च ज्येष्ठे भ्रातरि श्रीमत्कृष्ण राजदेवे युवराजदेव दुहितरि कन्दकदेव्याममोघवर्षनृपाज्जातः खोट्टिगदेवो नृपतिरभूद्भुवनविख्यातः।" यही कृष्णराज कविरहस्य के नायक हैं, जिनका शासनकाल ८६७-८८८ शालिवाहन शकाब्द के बीच माना गया है। इनके मरणोपरान्त हलायुध मालवानरेश वाक्पतिराज राजा मुञ्ज (वि.सं. १०३१-१०५२) की सभा में चले गये।[१०१] और इन्हींकी आज्ञा से उनके दरवार में कवि हलायुध ने पिंगलछन्दः सूत्र की व्याख्या

'मृतसंजीवनी' की रचना की। इसमें इन्होंने राजा मुञ्ज की प्रशंसा में कई पद्यों को बनाकर दिया है, जिनमें उदाहरणार्थ हैं —

"ब्रह्मक्षत्रकुलीनः समस्तसामन्तचक्रनुतचरणः।
सकलसुकृतैकपुञ्जः श्रीमान्मुञ्जश्चिरं जयति॥" ४/१९
"तव मुञ्ज नराधिप ! सेनां वेगवतीं सहते समरेषु" ५/३४
"सर्वोर्वीनाथः स जयति नृपतिर्मुञ्जः" ७/५
"मुञ्जनराधिराज ! भूयात्तव वरयुवतिः" ८/१२
"स जयति वाक्पतिराजः सकलार्थिमनोरथैक कल्पतरुः" ४/२० आदि।

वाक्पतिराज उपनाम आने से यह निश्चित है कि ये राजा मुञ्ज वही हैं जो मालवाधीश रहे हैं और जिनका शासनकाल कुछ ऐतिहासिकों ने ८९३-९१९ शकाब्द निर्धारित किया है।

हलायुध प्रथम, संस्कृत धातुओं के नानार्थ एवं समानाक्षर होने पर भी भिन्नार्थ का बड़ा ही सुन्दर, विवेचक और आख्यातों के अर्थबोधक 'कविरहस्य' नामक ग्रन्थ के रचयिता हैं। जिसमें इन्होंने धातुओं के रूपों का विशेष निर्देश किया है। इस लक्ष्य प्रधान काव्यग्रन्थ में कुल २७४ श्लोक हैं, जिस ग्रन्थ के अवलोकन से इनका एक विशेषण प्राप्त होता है — "धातुपारायणाम्भोधिपारोत्तीर्णधीः", जो कि सर्वथा उपयुक्त ही जँचता है। इनकी ख्याति भले व्याकरणेतर शास्त्रों में ही अधिक हुई हो, पर ये थे व्याकरण के अद्वितीय और मूर्द्धन्य आचार्य। जैसा कि मृतसंजीवनी[१०२], कविरहस्य तथा क्रियाविशेष्यता से सिद्ध होता है।

इनकी अन्य रचनाओं में मुख्य हैं — धर्मविवेककाव्य, अभिधानरत्नमाला उपनामक हलायुधकोश, क्रियाविशेष्यता आदि। इनमें हलायुध कोश के महत्त्व को इसी बात से आँका जा सकता है कि मल्लिनाथ आदि अनेक टीकाकारों ने अपने-अपने टीकाग्रन्थों में इसका भरपूर उपयोग किया है।

इनके स्थान को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। क्यों कि कुछ लोग इन्हें "इह हि भवति दण्डकारण्यदेशे स्थितिः, पुण्यभाजां मुनीनां मनोहारिणी"[१०३] के आधार पर दण्डकारण्य निवासी मानते हैं, तो कुछ

लोग — "भुवन नमितपाद पद्माभिधानाम्बिका, तीर्थ यात्रागतानेक सिद्धाकुले"[१०४] पद्यांश को दृष्टि में रखकर दाक्षिणात्य स्वीकार करते हैं। परन्तु कुछ लोग इसी पद्यांश को आधार मानकर यह कहते हैं कि इनकी कुलदेवी पद्मावती थी और कुल सिद्धकुल किं वा सिद्धाकुल था, जो बाद में 'सिद्धाश्रम' कहलाया और सिद्धादेवी कुलदेवता बनी। ये लोग यह भी मानते हैं कि मृतसंजीवनी में सभी उदाहरण इनके अपने नहीं हैं, वल्कि रत्नावली आदि से भी लिये गये हैं। इन लोगों के मत में हलायुध वहीं के हो सकते हैं, जहाँ मीमांसा का अध्ययन-अध्यापन पर्याप्त होता था, ये स्वयं भी मीमांसक थे और मीमांसाशास्त्र के आचार्य बहुरूप मिश्र के पुत्र थे। जैसे — "मीमांसारसममृतं पीत्वा शास्त्रोक्तिः कटुरितरा भाति। एवं संसदि विदुषां मध्ये जल्पामो जयपणवं हत्वा ॥"[१०५] साथ ही — "श्रुतिपरिपूत वक्त्रमतिसुन्दर वाग्विभवं, तमखिल जैमिनीयमत सागरपारगतम्। अवितथवृत्तविप्रजनपूजितपादयुगं, पितरमहं नमामि बहुरूप-मुदारमतिम् ॥"[१०६] कुछ ऐतिहासिकों के मत में ये माहिष्मती (महिषी) ग्रामवासी विश्वरूप मिश्र के पुत्र थे, जो बाद में 'सुरेश्वराचार्य' बन गये। परन्तु कुछ विद्वान् इसका खण्डन कर लिखते हैं इनके पिता बहुरूप मिश्र मीमांसक विश्वरूप मिश्र के भाई थे। जो भी हो, इनका मैथिल होना सिद्ध होता ही है। दूसरी बात है कि इन्होंने अपनी व्याख्या में जिस धरणीधर को उद्धृत किया है, वे मैथिल मीमांसक धरणीधर (९म श.) से भिन्न नहीं हैं — "यदि वाञ्छसि कर्णरसायनं सततममृतधाराभिः, यदि हृदि वा परमानन्दरसम्। चेतः ! शृणु धरणीधरवाणीममृतमयीं तत्काव्यगुण-भूषणम् ॥"[१०७]

इनसे भिन्न और अर्वाचीन हलायुध (१२ वीं श.) राजा लक्ष्मणसेन के आश्रय में रहा करते थे।

८. *भरत मिश्र* — (११ वीं श. ई.)

भरत मिश्र को अपने पूर्ववर्ती आचार्य मण्डन मिश्र की 'स्फोटसिद्धि' देखकर उसमें कुछ अभाव दिखाई दिया। फलतः उस अभाव के निराकरणार्थ इन्होंने 'स्फोटसिद्धि[१०८] नाम से ही एक मनोहर ग्रन्थ की रचना की, जिसके कारिका और व्याख्यारूप दो भाग तथा प्रत्यक्ष, अर्थ, आगमरूप तीन परिच्छेद हैं। यह सत्य है कि भरत की स्फोटसिद्धि

मण्डन कृत स्फोटसिद्धि की तुलना में अधिक स्पष्ट और व्यापक है। जो स्वाभाविक ही है, क्यों कि आचार्य भरत के सम्मुख मण्डन की स्फोटसिद्धि पड़ी थी, और उसीके आधार पर उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना भी की थी। म.म. गणपति शास्त्री द्वारा १९१७ में त्रिवेन्द्रम् से, तथा गोमतीप्रसाद के द्वारा १९२७ में निर्णय सागर से प्रकाशित अज्ञातकर्तृक 'स्फोटसिद्धि न्यायविचार' के ग्रन्थावलोकन से यह ज्ञात होता है कि यह रचना भी किसी मैथिल की ही है। रचयिता लक्ष्मणानदी के तटवर्ती किसी गाँव में रहता था और वहीं इसकी रचना हुई थी, ऐसा इसकी अन्तर्मीमांसा से सिद्ध होता है। ग्रन्थ के आदि में रचयिता लिखता है कि —

"प्रणिपत्य गणाधीशं गिरां देवीं गुरुनपि।
मण्डनं भरतञ्चापि मुनित्रयमनुहरिम्।।"

९. *हरदत्त मिश्र* — (१२ वीं. श.)

जयादित्य और वामन के युगल कर्तृक ख्यातिप्राप्त 'काशिका' वृत्ति पर प्राचीनकाल से ही व्याख्या करने की परम्परा रही है[१०९]; जिस कड़ी में रचित हरदत्त मिश्र की 'पदमंजरी' विषय प्रतिपादन (स्पष्टता) की दृष्टि से भले ही न्यासापेक्षया महत्त्व कम रखती हो, परन्तु शास्त्रार्थ प्रक्रिया की दृष्टि से प्रौढ़ और उपयोगी अवश्य है। अपनी व्याख्या के महत्त्व के सम्बन्ध में हरदत्त का यह आत्मीय उद्घोष, वस्तुतः उन्हें प्रखर और मूर्द्धन्य वैयाकरण ही सिद्ध करता है कि —

"अविचारिततरमणीयं कामं व्याख्याशतं भवतु वृत्तेः।
हृदयङ्गमा भविष्यति गुणगृह्याणामियं व्याख्या।।

x x x x x x

एवं प्रकटितोऽस्माभिर्भाष्ये परिचयः परः।
तस्य निःशेषतोमन्ये प्रतिपत्तापि दुर्लभः।। ....
प्रक्रियातर्क गहनप्रविष्टो हृष्टमानसः।
हरदत्तहरिः स्वैरं विहरन् केन वार्यते।।"

कहते हैं हरदत्त ने महापदमंजरी और लघुपदमंजरी नामक दो व्याख्याओं

की रचना की थी, जिनमें आज उपलब्ध पदमंजरी 'लघु' वाली है।

इनके सम्बन्ध में आज जो विचार निश्चित हुआ-सा देखा जाता है, उसके अनुसार मद्रास प्रान्तीय अइयर परिवार का इनका होना और "यश्चिराय हरदत्तसंज्ञया विश्रुतो दशसु दिक्षु दक्षिणः"[११०] पंक्ति से दाक्षिणात्य सिद्ध होना कहा है। पदमंजरी के अनुसार इनके पिता का नाम 'पद्मकुमार', माता का नाम 'श्री', ज्येष्ठभ्राता का नाम 'अग्निकुमार' तथा गुरु का नाम 'अपराजित' कहा जाता है। जैसा कि आप लिखते भी हैं —

"तातं पद्मकुमाराख्यं प्रणम्याम्बां श्रियं तथा।
ज्येष्ठं चाग्निकुमाराख्यं आचार्यमपराजितम्।।"

इसमें 'पद्मकुमाराख्यं' के स्थान में 'रुद्रकुमाराख्यं' तथा 'पद्मकुमारार्यम्' भी मिलते हैं। साथ ही 'अग्निकुमाराख्यं' के बदले 'अग्निकुमारार्यम्' भी पाठान्तर देखा जाता है। इस पाठान्तरगत 'आर्य' पद को ही सही मानकर कुछ विद्वान् इन्हें मद्रास प्रान्तीय 'अइयर' परिवार का मानते हैं। परन्तु श्रेष्ठार्थक 'आर्य' शब्द को 'अइयर' या 'ऐय्यर' के साथ जोड़ना कहाँ तक उचित है, यह विवेचनीय है। दूसरी ओर "दशसु दिक्षु दक्षिणः" के 'दक्षिण' शब्द से 'दक्षिणदेशवासी' आधार बनाना भी विवेच्य है। परन्तु कुछ लोगों ने इसका खण्डन कर मैथिल सिद्ध किया है। इन लोगों के मत में असंख्य स्थलों पर इनका 'हरदत्तमिश्र' नाम आना भी इन्हें दाक्षिणात्य मानने में कमजोड़ कड़ी को ही दरसाता है। इसीलिए प्रायः डॉ. श्रीनारायण मिश्र ने भी लिखा होगा — "द्रविड़ देश को हरदत्त की जन्मभूमि मानने में सन्देह का प्रसार अवश्य है"[१११]। हमने यहाँ इन्हें विवादास्पद होते हुए भी मैथिल पक्ष को देखकर ही उद्धृत किया है, विद्वान् अनुसन्धित्सु शोधकर एक सर्वमान्य मत स्थिर करें — यह हमारी प्रार्थना होगी। इन्हें मैथिल मानने वालों में भी कई मत रहे हैं। एक के कथनानुसार जहाँ आप न्यायसूत्र की हरदत्ती (तत्त्वसुधा लहरी) कार से भिन्न किन्तु १२ वीं श. में अवस्थित आपस्तम्ब धर्मसूत्र के 'उज्ज्वला'[११२] व्याख्याता हरदत्त मिश्र से भिन्न नहीं हैं, वहीं दूसरे के मत में आप देवादित्य के पुत्र तथा कृत्यचिन्तामणिकार चण्डेश्वर ठाकुर के पितृव्य स्थानान्तरिक आचार्य हरदत्त ठाकुर से अभिन्न हैं। इसी प्रकार

इनके काल को लेकर भी एक मत नहीं रहा है। जहाँ किसी ने अष्टम सदी के पूर्वार्द्ध के पश्चात् इनका समय कहा है अर्थात् ७५० ई. से पहले कतई नहीं, वहीं डॉ. जैकोबी ने ८७८ ई. में इनकी मृत्यु माना है। डॉ. विण्टरनित्स के अनुसार जहाँ इनका समय १३ वीं श. माना गया है, वहीं डॉ. श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती और वे. वरदाचारी ने ११ वीं श. को ही इनका काल स्वीकार किया है। व्युह्लर ने इनका काल १४५०-१५०० ई. से पहले बताया है, जब कि उमेशचन्द्र पाण्डेय, डॉ. काणे आदि के कथन के आधार पर ११००-१३०० ई. के बीच इनका समय स्वीकार किया जा सकता है।

१०. रामदेव मिश्र — (१२ वीं. श.)

'काशिका' वृत्ति की व्याख्याओं में 'वृत्तिप्रदीप'[११३] का नाम बड़ा ही आदरणीय है, जिसके रचयिता हरदत्त मिश्र के अनुवर्ती - अनुयायी आचार्य रामदेव मिश्र हैं। इनकी व्याख्या का उल्लेख आचार्य सायण भी (सं. १३७२-१४४४) करते हैं[११४], जिससे आप सायण के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। काफी दिनों तक आपको दाक्षिणात्य माना जाता रहा, परन्तु मैथिल प. प्रज्ञाकर मिश्र द्वारा "परमगुरुवः शाब्दिकाः रामदेवमिश्राः .... अस्मत्पूज्य गुरुवः रामदेव मिश्राः .... अस्मत्सकुल्याः मिश्राः" — पंक्तियों से यह प्रतीत होता है कि ये मैथिल प्रज्ञाकर के गुरु थे। कुछ लोगों के मत में रामदेव मिश्र मूलतः तांत्रिक थे, जिन्होंने 'तंत्रप्रदीप' की रचना की थी। यदि यह सही है तो इनके तांत्रिक होने से भी इनके मैथिलत्त्व को ही बल मिलता है।

११. गोवर्द्धनाचार्य — (१२ वीं श.)

आर्यासप्तशती के आधार पर इनके पिता नीलाम्बर[११५] भाई बलभद्र और शिष्य उदयन थे[११६]। ये उदयन दार्शनिक उदयनाचार्य से भिन्न, किन्तु वैयाकरण से अभिन्न थे। स्वयं गोवर्द्धन, जयदेव और उमापति (प्रथम) के साथ बंगाल नरेश राजा लक्ष्मणसेन के सभासद थे।[११७] ब्राह्मण सर्वस्वकार हलायुध भी इन्हीं लक्ष्मणसेन के सभ्य थे, जिनके वंशज पुरुषोत्तमदेव हुए हैं। प. भगवद्दत्तजी के मत में राजा

लक्ष्मणसेन का काल वि.सं. १२२७-१२५७ माना गया है[११८], जब कि कीथ ने इनका समय ११७५-१२०० ई. लिखा है।[११९] दोनों की संगति बैठने से इनका भी काल १२ वीं. श. ही निर्द्धारित होगा। मीमांसकजी भी स्थूलरूप से इनका समय ११६१-१२५७ वि.सं. ही मानते हैं।[१२०] पुरुषोत्तमदेव ने अपनी भाषावृत्ति में गोवर्द्धन को तात्कालिक वैयाकरणों में प्रमुख कहा है[१२१] तथा सर्वानन्द ने शक सं. १०८१ (वि.सं. १२१६) में पुरुषोत्तमदेव को नाम निर्देशपूर्वक स्मरण किया[१२२] है, जिसमें पुरुषोत्तमदेव और गोवर्द्धन के बीच बहुत अधिक समय का अन्तर नहीं दिखता। जब कि भाषावृत्ति के वाक्य से प्रतीत होता है कि पुरुषोत्तमदेव, गोवर्द्धन से भली भाँति परिचित थे। इससे यह भी सिद्ध होता है कि पुरुषोत्तदेव, यदि हलायुध के वंशज हैं तो दोनों में दो से अधिक पीढ़ी का अन्तर कदापि नहीं होगा।

ये गणरत्न महोदधि के टीकाकार जैन गोवर्द्धन से भिन्न, किन्तु उणादिसूत्र के वृत्तिकार से अभिन्न हैं; जिसका उल्लेख अमरकोश की अमरसर्वस्वटीका (सर्वानन्द), उणादिवृत्ति (उज्ज्वलदत्त), प्रौढ़ मनोरमा आदि ग्रन्थों में हुआ है। पंचपादी के प्राच्य पाठ पर भी इनकी एक वृत्ति का उल्लेख मिलता है। अमरकोश की ही सुभूतिचन्द्र की टीका में इन्हें 'पारायणपरायण' विशेषण से विभूषित किया गया है।[१२३]

१२. उदयनाचार्य — (१२ वीं. श.)

आचार्य उदयन के नामसे मिथिला में दो व्यक्तियों का परिचय प्राप्त होता है। जिनमें एक हैं 'करियन' ग्रामवासी दार्शनिक[१२४] और दूसरे हैं 'निकुती' ग्रामवासी महावैयाकरण। दार्शनिक उदयनाचार्य का समय दशम शताब्दी बनता है[१२५], जो नोनौतिवार मूलक काश्यप गोत्रीय मैथिल ब्राह्मण थे।[१२६] जब कि वैयाकरण उदयनाचार्य, गोवर्द्धनाचार्य के शिष्य होने से[१२७] बारहवीं श. के सिद्ध होते हैं। अष्टाध्यायी पर 'मितवृत्त्यर्थ संग्रह' नामक वृत्ति के रचयिता उदयन को यद्यपि कुछ लोग नैयायिक से भिन्न नहीं मानते, परन्तु अधिकतर आचार्य दोनों में काफी समय का अन्तर पाकर भिन्न मानने के ही पक्ष में दिखते हैं।[१२८] अभिन्न माननेवालों

के अनुसार मितवृत्त्यर्थसंग्रह की अन्तर्मीमांसा से यह सिद्ध होता है कि वृत्तिकार दार्शनिक है और वह गोवर्द्धन शिष्य उदयन नहीं है। परन्तु रघुनाथपुस्तकालय में स्थित पाण्डुलिपि[१२९] से ऐसा कुछ प्रतीत नहीं होता। इसके देखने से जहाँ यह विदित होता है कि मितवृत्त्यर्थसंग्रह काशिकावृत्ति का संक्षेपण मात्र है, वहीं उसके आदि में लिखा है कि —

"मुनित्रयमतं ज्ञात्वा वृत्तीरालोच्य यत्नतः।
करोत्युदयनः साधु मितवृत्त्यर्थ संग्रहम्॥"

१३. *वर्द्धमानोपाध्याय* — (१२ वीं. श.)

मिथिलाञ्चल एक-एक नामवाले अनेक आचार्यों को देता आया है। जहाँ 'वर्द्धमान' नामक कई विभूति हुए हैं, वहीं वर्द्धमानोपाध्याय नामके भी दो आचार्य देखे जाते हैं। इनमें एक हैं दार्शनिक मूर्द्धन्य गंगेश्वर (गंगेश) उपाध्याय के पुत्र; कुसुमाञ्जलि, किरणावली आदि ग्रन्थों के व्याख्याकार, जो छादनमूलक[१३०] (पूर्व का सोनकरियाम मूल एवं बाद का कर्म्महामूल) वत्सगोत्रीय विभूति थे। दूसरे हैं बेलौंचे मूलक[१३१] भारद्वाज गोत्रीय भवेशोपाध्याय के पुत्र; दार्शनिक वर्धमानोपाध्याय से प्राचीन, आसीग्राम के निकटवर्ती नारी-भदौन ग्राम के वासी।[१३२] आप नान्यवंशीय राजा गंगदेव (११२४ ई.) के आश्रित तथा दण्डविवेक, परिभाषाविवेक, स्मृतिविवेक, तडागामृतलता, शान्तिकपौष्टिक विवेक आदि ग्रन्थों के रचयिता थे। जलाशयादिवास्तुविधि नामक ग्रन्थ भी आपका ही है; जब कि तीसरे हैं व्याकरणशास्त्र में 'कातंत्रविस्तर' एवं 'शब्दानुशासन' के प्रणेता। इनके शिष्य त्रिविक्रमदत्त पंजिका के टीकाकार हैं, जिसमें वे लिखते हैं — "इतिश्रीवर्धमानशिष्य त्रिविक्रमदत्तकृते पंजिकोद्योतेऽनुषङ्गपादः[१३३].....". वर्धमान कृत कातंत्रविस्तर का उल्लेख बोपदेव द्वारा 'कविकामधेनु' में भी हुआ है, जब कि इस ग्रन्थ पर १२ वीं-१३ वीं. श. के मध्य स्थित रहे पृथ्वीधर आचार्य ने बड़ी विलक्षण व्याख्या लिखी है। गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान न जाने कौन हैं, जो गोविन्दसूरि के शिष्य थे; पर उपर्युक्त तीनों वर्धमान निश्चय ही मिथिला की विभूति रहे हैं। इनमें सबसे प्राचीन, वैयाकरण वर्धमान हैं, जो परिभाषा विवेक के कर्त्ता हैं। इन्होंने ही अपनी दूसरी रचना 'दण्डविवेक' में लिखा

है — "श्रीबिल्वपञ्चान्वयसम्भवेन श्रीमद्भवेशस्य तनूद्भवेन।
श्रीवर्धमानेन विदेहभर्तुः कृते कृतो दण्डविधौ विवेकः ।।"

१४. *धर्मकीर्त्ति* — (१२ वीं श.)

भागलपुर जिला में कहीं आपका निवास था। आपका समय १२ वीं. श. का मध्य माना जाता है। आप सुप्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्त्ति से भिन्न किन्तु बौद्ध धर्मावलम्बी थे। आपने वररुचि उपाध्याय कृत 'प्रयोगसंग्रह' पर 'प्रयोगमुख' नामकी बड़ी विलक्षण व्याख्या लिखी है। पाणिनीयव्याकरण में, कहते हैं आपही ने प्रक्रिया ग्रन्थ का आरम्भ किया था, जो रूपावतार के नाम से प्रसिद्ध है।

१५. *पद्मनाभ दत्त* — (१४ वीं. श.)

सुपद्मव्याकरणकार के सम्बन्ध में जैसा कि पहले कहा है कि इनके वंशज 'मिश्र' कहलाते हैं; अतः ये भी मूलतः 'मिश्र' ही रहे होंगे। भले ही कुछ ग्रन्थों में ये अपने को मात्र 'दत्त' ही क्यों न लिखें। आप न केवल पाणिनिव्याकरण को एक नया रूप देकर सौपद्म पंजिका-व्याख्या सहित 'सुपद्मव्याकरण' को जन्म दिया; वल्कि व्याकरणादर्श-परिभाषावृत्ति-उणादिवृत्ति-यङ्लुग्वृत्ति-भूरिप्रयोगकोश-धातुकौमुदी-प्रयोगदीपिका आदि के भी रचयिता आप ही हैं। आप न केवल लिंगानुशासन के रचयिता पद्मनाभ मिश्र से भिन्न हैं, अपितु गंगौलिवार मूलक शाण्डिल्य गोत्रीय गंगाधर उपाध्याय के वंशज तथा वै. सङ्कर्षण ठाकुर के वृद्धप्रपौत्र पद्मनाभ ठाकुर से भी अभिन्न नहीं हैं। आपने अपना समय 'यङ्लुग्वृत्ति' में 'शाके शैलनवादित्ये' (शैल = ७, नव = ९, आदित्य = १२ = १२९७ शाके) लिखा है, जिससे आपका समय १४ वीं श. ही सिद्ध होता हैं, क्यों कि यङ्लुग्वृत्ति की रचना १३७५ ई. में हुई थी। आप धर्मशास्त्री श्रीदत्तमिश्र के पौत्र एवं दामोदर दत्त मिश्र के पुत्र थे।

१६. *विश्वरूप उपाध्याय* — (१३वीं. श.)

तेरहवीं श. के मध्य में स्थित रहे विश्वरूप ने पुरुषोत्तम देव की

'भाषावृत्ति' पर पञ्जिका नामक टीका की है। ये गंगुलिवार एवं खण्डवलावंश के बीजी पुरुष गङ्गाधर उपाध्याय के पौत्र, वीर उपाध्याय के पुत्र थे। देवरूप आपही के आत्मज थे।

१७. *विद्याकर मिश्र —* (१३ वीं श.).

विद्याकर मिश्र यद्यपि मूलतः वैयाकरण ही थे, परन्तु व्याकरण से अधिक इन्होंने साहित्य में ही रचनाएँ की हैं। स्वाभाविक भी है, किसी ग्रन्थ की गुत्थियों को एक अच्छे वैयाकरण ही सुलझा सकता है, किसी ग्रन्थ पर अच्छी टीका की रचना व्याकरण ज्ञान के विना सम्भव भी नहीं है। इनकी रचनाओं में अमरुशतक व्याख्या[१३४] 'विद्याकरी', राधाविनोदकाव्य व्याख्या, राक्षसकाव्य व्याख्या, ऋतुवर्णन व्याख्या, विदग्धमुखमण्डन व्याख्या तो हैं हीं, वल्कि व्याकरण में भी लघुशब्देन्दुशेखर की 'प्रकाश' नाम्नि व्याख्या अभी भी अप्रकाशित है, जिसकी पाण्डुलिपि दरभंगा के बाबू व्रजनन्दनसिंह के यहाँ सुरक्षित है।[१३५] हाँ, इन्होंने १३० कवियों की कविताओं को 'विद्याकर साहस्रक' के नामसे संकलित किया था, जिसका प्रकाशन इलाहाबाद से म.म. डॉ. उमेश मिश्र के सम्पादन में हुआ है। आपका एक श्लोक बहुत प्रसिद्ध है —

"वरीवरामासभातमक्षरी तिलपा परा।
एकरोटी करमहीनग्रीवमगदारिका ।।"

अर्थात् — अगदारिका = पार्वती ने, भातम् = शङ्कररूपी तेज को, वरीवरामास = वरण किया, ए = हे मित्र ! (वे शिव कैसे हैं ?), अहीन ग्रीवम् = कण्ठ में साँप लपेटे हुए हैं, करोटिकरम् = हाथ में कपाल लिये हुए हैं। (पार्वती कैसी हैं ?) अक्षरी = क्षय रहिता तथा परा = उत्कृष्टा।

आप सरिसब ग्राम के सुकवि आनन्दकर मिश्र के पुत्र थे, जहाँ आपके पिता द्वारा उत्खनित पुष्करिणी 'आनन्दकरी' (अन्हकरी) आज भी आप लोगों का स्मरण करा रही है। आपके पिता के कई पद्य 'विद्याकरसाहस्रक' में पाये जाते हैं। आपके पुत्र प्रज्ञाकर मिश्र भी अच्छे साहित्यिक थे, जिन्होंने कालिदासकृत नलोदयकाव्य की 'सुबोधिनी'

व्याख्या की है। इनका समय विद्वानों ने १३ वीं श. बताया है।

१८. रुद्रधरोपाध्याय — (१४ वीं. श.)

१४ वीं श. के मध्य भाग में दरिहरावंशीय रुद्रधर ने कर्मकाण्ड और धर्मशास्त्र में कई ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें वर्षकृत्य, व्रतपद्धति, शुद्धिविवेक, श्राद्धविवेक आदि मुख्य हैं। इन्होंने व्याकरण में भी अष्टाध्यायी-वृत्ति और वार्तिक संग्रह की रचना की है, जो दोनों ही मातृका सरस्वतीभवन पुस्तकालय, वाराणसी में सुरक्षित है।

१९. नरपति मिश्र — (१४ वीं. श.)

अपने मित्र महाकवि विद्यापति की प्रेरणा से आचार्य नरपति मिश्र (१३५०-१४५०) ने 'न्यास' (विवरण पंजिका) के ऊपर 'प्रकाश' अथवा 'न्यासप्रकाश' नामक व्याख्या लिखी है[१३६], जिसमें इन्होंने स्पष्ट कहा है कि —

"विद्यापतेः प्रेरणकारणेन कृतो मया व्याकरणप्रकाशः।
यद्यत्र किञ्चित्स्खलनं भवेन्मे क्षन्तव्यमीषद्‌गुणिनां वरैस्तत्॥"

इसी व्याख्या के आदि में आप लिखते हैं —

"नरपति कृतिरेषा कामिनी नन्दिनीव
गुरुतमकृततोषा नाशिताशेषदोषा।
सुललितगतिबन्धा निर्जिता शेषतेजा
जयति जगदुपेता मालिनी जाह्नवीव॥"

आपको कुछ लोग महामिश्र से भिन्न प्रतिपादित करते हैं, पर आप महामिश्र या महीमिश्र से प्रसिद्ध थे[१३७], ऐसा स्वयं आपने लिखा भी है —

"शिवं प्रणम्य देवेशं तथा शिवपतिं शिवम्।
प्रकाशः क्रियते न्यासे महामिश्रेण धीमता॥"

परन्तु ये महाराज राघवसिंह के सभापण्डित महावैयाकरण नरपति से अवश्यमेव भिन्न हैं, जो तरौनी ग्रामवासी म.म. परशुराम झा के पौत्र, वै. शिरोमणि जगदीश झा के पुत्र एवं राघव कीर्त्तिशतक के रचयिता थे।

२०. *वासुदेव मिश्र* — (१५ वीं. श.)

सुप्रसिद्ध दार्शनिक पक्षधर मिश्र के भ्रातृज एवं नाथू मिश्र के पुत्र नैयायिक वासुदेव मिश्र ने व्याकरण में भी एक टीकाग्रन्थ की रचना की थी, जो आज तक प्रकाशित नहीं हो पाया है। काशिका की यह सारवृत्ति 'बालबोधिनी' सरस्वतीभवन पुस्तकालय वाराणसी में सुरक्षा पा रही है। अष्टाध्यायी-व्याख्या भी इनकी बतायी जाती है, पर न जाने वह कहाँ और कैसी है। इनका समय १५ वीं श. का उत्तरार्द्ध निश्चित होता है।

२१. *भवनाथ उपाध्याय* — (१५५० ई.)

१५५० ई. के आसपास स्थित रहे म.म. भवनाथ उपाध्याय, म.म. केशव मिश्र के साथ कोट-कांगड़ा नरेश धर्मचन्द्र के पुत्र राजा माणिक्यचन्द्र (१५६३ ई.) के सभासद थे। इन्होंने वहीं पर 'प्रयोगपल्लव' नामक ग्रन्थ एवं उस पर कल्पलता नाम की टीका लिखी साथ ही, इनका एक ग्रन्थ 'पदनिरूपण' भी है। ये पलिवार हाटी मूलक़ रामपति उपाध्याय के पुत्र थे। इनके प्रयोगपल्लव पर हरियम्बय मङरौना मूलक चीकूमिश्र के पुत्र एवं विरुदावलीकार रघुदेव मिश्र के पिता पं. विश्वेश्वर मिश्र (१५७५ ई.) ने भी व्याख्या लिखी है।[१३८]

२२. *वंशमणि झा* — (१६०० ई.)

बेलौंचय सुदैमूलक कविवर वंशमणि झा का यद्यपि कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, तथापि अचल उपाध्याय के वाक़्यवाद में इनका मत उद्धृत होने से ये वैयाकरण प्रतीत होते हैं।

२३. *पद्मनाभ मिश्र* — (१६ वीं श.)

भारतवर्ष में दशाधिक 'पद्मनाभ' नामधारी आचार्य एवं पचासों पद्मनाभ-विरचित रचना होने के कारण निश्चयतया कहना कठिन है कि कौन कहाँ के थे, उसने क्या लिखा अथवा उनका क्या समय था ? फिर भी इतना कह सकते हैं कि गोपाल चरितकाव्यकार पद्मनाभ भट्ट, ध्रुवतापस-गोवर्धनविलासकार पद्मनाभाचार्य, रुक्मांगदीयकाव्यकार पद्मनाभ, मदनलीलादर्पण-त्रिपुरविजयव्यायोगकार पद्मनाभ, रामखेटकाव्य-चन्द्रिका जनमेजय नाटककार पद्मनाभ मैथिल नहीं हैं। किन्तु शिशुपालवधटीकाकार,

वीरभद्रदेव चम्पूकार आदि तो मैथिल हैं ही।

बलभद्र मिश्र एवं विजयश्री के आत्मज, तर्कभाषा की प्रकाशिका व्याख्याकार गोवर्द्धन मिश्र[१३९] के अग्रज विश्वनाथ मिश्र के अनुज पद्मनाभ मिश्र का जहाँ तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के 'विवरण' का विवरण प्राप्त होता है[१४०], वहीं व्याकरण में 'लिंगानुशासन' का भी उल्लेख मिलता है[१४१]। व्याकरण में लिंगानुशासन के रचयिता पद्मनाभ मिश्र, व्याकरणादर्शकार पद्मनाभदत्त एवं वीरभद्रदेव चम्पूकार पद्मनाभ मिश्र से भिन्न हैं। किन्तु काव्यप्रकाश एवं शिशुपालवध के टीकाकार से अभिन्न। वहीं उपर्युक्त तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के विवरणकार को मैं इनसे भिन्न मानता हूँ। इस तरह चार मैथिल पद्मनाभ हुए हैं। दो १४ वीं. श. में, एक तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के विवरणकार और दूसरे व्याकरणादर्श-सुपद्मव्याकरण-यङ्लुग्वृत्ति आदि के कर्त्ता। जब कि शिशुपालवध-काव्यप्रकाश-आनन्दलहरीटीकाकार, छन्दोरत्न एवं लिंगानुशासन के रचयिता वैयाकरण एवं साहित्यिक पद्मनाभ (१२ वीं श.) तथा १६ वीं श. के वीरभद्रदेवचम्पूकार दार्शनिक। राजा रामचन्द्र देव के पुत्र वीरभद्रदेव के चरित्र पर उनके दरवार में रहते हुए आपने उनके ही आग्रह पर 'वीरभद्रदेवचम्पू' की रचना की थी। अन्यथा इनकी समस्त कृति (चन्द्रालोकटीका शरदागम को छोड़, शेष सभी दार्शनिक ही हैं। वीरभद्रदेव का समय १५७८ के आसपास होने से आपका भी समय १६ वीं श. ही बनता है। साथ ही वि. सं. १५००-१५५० में स्थित रहे परिभाषा वृत्ति के विजया व्याख्याकार श्रीमान्शर्मा इनके गुरु[१४२] थे, जिस कारण भी इनका वही काल स्थिर होता है। जब कि लिंगानुशासनकार पद्मनाभ गोवर्धन मिश्र के अग्रज थे। कुछ विद्वान् गोवर्द्धनाग्रज पद्मनाभ और चन्द्रालोक 'शरदागम' टीकाकार प्रद्योतन को एक ही राजा के आश्रित होने तथा 'बलभद्र मिश्र' के ही पुत्र होने के कारण अभिन्न मानते हैं।

२४. *चक्रपाणि दत्त* — (१६ वीं. श.)

प्रक्रियाकौमुदी पर 'प्रक्रियाप्रदीप' नाम्नि टीका यद्यपि उपलब्ध नहीं है, तथापि कई उद्धरणों से यह विदित होता है कि चक्रपाणि दत्त की यह रचना थी तो अवश्य ही। यथा इनकी दूसरी रचना 'प्रौढ़मनोरमा खण्डन'

में यह आया है कि — "तस्मादुत्तरत्रानु-वृत्त्यर्थतदित्यस्मत्कृत प्रदीपोक्त एव निष्कर्षो बोध्यः[१४३] अपि च — "अन्यत्तु प्रक्रियाप्रदीपादवधेयम्[१४४]। इनके प्रौढ़ मनोरमा खण्डन का उद्धार भट्टोजि दीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित ने 'शब्दरत्न' व्याख्या में किया है। चक्रपाणि अपने इस कृति का नाम 'परमतखण्डन' भी बतलाते हैं, यथा —

"दारितरिपुवक्षोजं सच्चक्रपाणिर्नरहरिं नत्वा।
विद्वन्मण्डलहृदयं तत्परमतखण्डनं तनुते।।"

ये वीरेश्वर नामक आचार्य के शिष्य थे, जैसा कि लिखते हैं —

"विरोधिनां तिरोभावभव्यो यद् भारतीभरः।
वीरेश्वरं गुरुं शेषवंशोत्तंसं भजामि तम्।।"[१४५]

कुछ हस्तलेखों में इसका पाठान्तर भी प्राप्त होता है, यथा — "..... वटेश्वरं गुरुं[१४६] ....", "वटेश्वरगुरुं नौमि"[१४७]। मेरी जानकारी में आप मुद्राराक्षस नाटक के व्याख्याकार वटेश्वर झा के ही शिष्य थे तथा स्वयं द्रौपदीपरिणय चम्पूकार से अभिन्न भी। इनका समय वि. सं. १४५०-१५५० के मध्य रहा है।

२५. *गंगादास झा* — (१७ वीं. श.)

कुजौलिवार भखरौली मूल में कात्यायन गोत्रीय श्रोत्रीय म.म. शुचिकर उपाध्याय हुए हैं, जो मिथिलेश महाराज महेशठाकुर के गुरु थे। इन्हीं के वंश में आते हैं आचार्य कृष्णदास झा, जिनका विवाह सरिसबे मूलक पं. जगन्नाथ झा की कन्या से हुई थी। कवि गोविन्ददास झा, कवि रामदास झा और कवि गंगादास झा इन्हीं कृष्णदास के पुत्र थे। गंगादास झा न्याय-व्याकरण और साहित्य तीनों में समान गति रखते थे, वल्कि ख्याति की दृष्टि से तो ये 'कविगंग' से ही प्रसिद्ध थे। व्याकरण में यद्यपि इन्होंने सम्पूर्ण वाक्यपदीय पर व्याख्या लिखी है, परन्तु आज जो व्याख्या उपलब्ध होती है, वह मात्र तृतीय काण्ड पर ही है। इसकी पुष्पिका में आपने लिखा है — "इति पण्डितगङ्गदास (गङ्गादास) विरचिते सम्बन्धोद्देशः, षष्ठस्तद्धितोद्देशः समाप्तः"।

२६. *अचल उपाध्याय* — (१८०० ई.)

मङ्गरौनी ग्राम निवासी म.म. अचल उपाध्याय बुधबालवंशीय राम झा के पुत्र थे। इन्होंने व्याकरण में वाक्यस्वरूप विचारक 'वाक्यवाद' की रचना की है, जो सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित है।

२७. *भैरव मिश्र* — (१८ वीं. श. का उत्तरार्द्ध)

कातंत्र परिभाषावृत्ति के रचयिता भवदेव मिश्र का उपनाम भाव मिश्र था, जिनके पुत्र भैरव मिश्र, आचार्य नागेशभट्ट के शिष्य माने गये हैं। इनका गोत्र अगस्त्य था और इनकी माता का नाम सीता देवी था, जो भारद्वाज गोत्रोत्पन्ना थी। परिभाषेन्दुशेखर की 'भैरवी' टीका में आप अपना परिचय यों देते हैं कि —

"नत्वा तातं गुरुं देवं भवदेवाभिधं विभुम्।
यद्यशोभिर्धवलिताः ककुभो जननीं पराम्॥
सीतां पतिव्रतां देवीं भारद्वाजकुलोद्भवाम्।
विवृतेः परिभाषाणां व्याख्यां कुर्वे यथामति॥"

इसी प्रकार वैयाकरणभूषणसार की 'परीक्षा' नाम्नि टीका के आदि में आप लिखते हैं —

"टीकाभूषणसारस्य परीक्षा नामिका शुभा।
भवदेवात्मजेनाथ भैरवेण वितन्यते॥"

व्याकरण के महनीय आचार्य भैरव मिश्र ने लघुशब्देन्दुशेखर की 'चन्द्रकला' व्याख्या के अन्त में जो पद्य दिया है, उससे इनके काल पर भी प्रकाश पड़ता है —

"शश्यष्टसिद्धि चन्द्राख्ये मन्मथे शुभवत्सरे।
माघेमास्यसिते पक्षे मूलेकामतिथौ शुभा॥
पूर्णावारे दिनमणेरियं चन्द्रकलाभिधा।
शब्देन्दुशेखरव्याख्या भैरवेण यथामति॥"

अर्थात् चन्द्रकला टीका की समाप्ति मन्मथ नामक संवत्सर के माघकृष्णपक्ष, मूलनक्षत्र कामतिथि (त्रयोदशी) रविवार के दिन १८८१ (शशि अष्ट सिद्धिचन्द्र) संवत् (= १८२४ ई.) में हुई। इससे इनका काल १८ वीं. श. का अन्त और १९ वीं. श. का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। दूसरी

ओर इनकी ही प्रेरणा से काशीनरेश महाराज उदितनारायण सिंह (१७९६-१८३५) ने 'काशीधर्मसभा' की स्थापना की थी। यह भी कहा जाता है कि १८७० ई. में काशी धर्मसभा की स्थापना के सम्बन्ध में इनसे काशीनरेश की मन्त्रणा हुई थी[१४८], जिससे सिद्ध होता है कि ये १८७० ई. तक अवश्य ही जीवित रहे होंगे। कहा जाता है कि आचार्य भैरव मिश्र ने ३० वर्ष की अवस्था में शब्देन्दुशेखर की व्याख्या लिखी थी, जिससे प्रतीत होता है कि इनका समय १७७० से १८७० ई. के बीच रहा होगा। इनकी लिंगानुशासन की 'विवरण' व्याख्या जहाँ प्रायः पठन-पाठन में व्यवहृत है; वहीं इनकी अन्य रचनायें वैयाकरणभूषणसार की 'परीक्षा' टीका, लघुशब्देन्दुशेखर की 'चन्द्रकला' व्याख्या एवं परिभाषेन्दुशेखर की टीका, सिद्धान्तकौमुदी टीका बड़ी ही उपयोगी और उत्तम है। इनकी गुरु-शिष्य परम्परा के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि नागेश भट्ट के साक्षात् शिष्य थे बैद्यनाथ पायगुण्डे और ये उन्हीं के शिष्य थे। भैरव मिश्र के पट्टशिष्य थे पं. केशवराम सारस्वत, जिनके शिष्य हुए परिव्राजकाचार्य श्रीगौड़स्वामी। इन्हीं गौड़स्वामी के शिष्य थे विश्वेश्वरानन्द, जिनके नाम पर होशियारपुर में एक शोध संस्थान भी है। जो भीं हो इनकी गुरु-शिष्य परम्परा अत्युच्च रही है।

इन्हें डॉ. उमारमण झा ने मैथिल सिद्ध किया है[१४९], जो अनुसन्धान सापेक्ष है।

२८. नन्दन मिश्र — (समय अज्ञात)

आचार्य नन्दन मिश्र अपने समय के प्रखर वैयाकरणों में अन्यतम थे, इनके पिता का नाम धनेश्वर और दादा का नाम वाणेश्वर मिश्र था, ये धनेश्वर सारस्वतप्रदीपकार धनेश्वर से भिन्न हैं। न्यासोद्दीपन[१५०] नामक व्याख्या में आप अपने पिता का उल्लेख अन्तिम पुष्पिका में करते हैं — "इतिधनेश्वरमिश्रतनय श्रीनन्दनमिश्र विरचिते न्यासोद्दीपने ......"; यह न्यासोद्दीपन 'न्यास' की उद्दीपन नाम्नि व्याख्या है। परन्तु कुछ लोगों के अनुसार 'उद्दीपन' मूल 'न्यास' (बौद्धाचार्य जिनेन्द्र बुद्धि) की व्याख्या न होकर उस पर मैत्रेयरक्षितकी की गयी व्याख्या 'तंत्र प्रदीप' की व्याख्या[१५१] है। जो भी हो 'न्यासोद्दीपन' व्याकरण की अनुपम रचना है। इसी प्रकार

इनके नामके सम्बन्ध में दो मत पाये जाते हैं; एक के अनुसार इनका नाम 'श्रीनन्दन' था तो अपर 'नन्दन' मात्र को इनंका नाम मानते हैं। मेरा अनुमान दूसरे मतको ही सबल पाता है।

२९. गोकुलनाथोपाध्याय — (१८ वीं श.)

वैयाकरण उमापति उपाध्याय के शिष्य मंगरौनी ग्राम के फन्नहवार वंशीय म.म. गोकुलनाथ उपाध्याय यद्यपि मूलतः दार्शनिक थे, परन्तु कई शास्त्रों में इनकी अनेक रचनायें पायी जाती हैं। इसी क्रम में इन्होंने व्याकरण में पदवाक्यरत्नाकर जैसे ग्रन्थरत्न की रचना की है। म.म. वागीश उपाध्याय के पुत्र पं. **गिरिधर उपाध्याय** आपके ग्रामीण, शिष्य तथा सवंश्य थे, जिन्होंने व्याकरण में विशाल ग्रन्थ विभक्त्यर्थ निर्णय का निर्माण किया है।

३०. रत्नपाणि झा — (१८५० ई.)

गंगुलिवार सकरी मूलक नवानी ग्रामवासी पं. रत्नपाणि झा के ही पौत्र थे सर्वतंत्रस्वतंत्र प. बच्चा झा उपनामक धर्मदत्त झा। ये महाराज छत्रसिंह एवं रुद्रसिंह के राजपण्डित थे, वहीं रहकर इन्होंने व्याकरण में 'कारकवाद' की रचना की थी।

३१. इन्द्रदत्त उपाध्याय — १८ वीं श. के इन्द्रदत्त उपाध्याय ने दार्शनिक व्याकरण में 'शब्दतत्त्वप्रकाश' की रचना की थी, जब कि सिद्धान्तकौमुदी पर 'फक्किकाप्रकाश' भी इनका प्रकाशित है।

३२. होरिल शर्मा — १९ वीं श. के मध्य में स्थित रहे म.म. होरिल उपाध्याय, जो 'होरिलशर्म्मा' से ही प्रसिद्ध थे— के दो ग्रन्थ व्याकरण में शास्त्रार्थशैली के बताये जाते हैं। इनमें एक पूर्वपक्षावली और दूसरा उत्तरपक्षावली है।

३३. चन्द्रदत्त झा — १७७५ ई. के आसपास विद्यमान रहे पलिवार परोही मूलक हरिनगर ग्राम निवासी प. कमलाकान्त झा के पौत्र एवं प. वेणीराम झा के पुत्र चन्द्रदत्त झा ने व्याकरण में परिभाषामणिमाला नामसे परिभाषेन्दुशेखर को पद्यबद्ध किया है। इसमें परिभाषेन्दुशेखर की एक-

एक परिभाषा को एक- एक पद्य में पिरोया गया है, जहाँ परिभाषा का अवतरण, स्वरूप, ज्ञापक, फल समाविष्ट हैं। इनकी इस रचना की मातृका दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय तथा पटना विश्वविद्यालय में सुरक्षित है। आपकी अन्य रचनाओं में 'भक्तमाल' आदि सुप्रसिद्ध हैं।

३४. पण्डित ऋद्धी झा — ऋद्धी झा नैयायिक थे अथवा वैयाकरण कहना बड़ा कठिन है, फिर भी हमने इन्हें यहीं स्थान दिया है। उन दिनों मिथिला में न्यायशास्त्र के तीन बड़े आचार्य जीवित थे प. विश्वनाथ झा, प. बवुजन झा और आप। सर्वतंत्रस्वतंत्र प. बच्चा झा इन्हीं तीनों मूर्द्धन्य दार्शनिकों के शिष्य रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि ऋद्धी झा नैयायिक.ही अधिक थे। परन्तु उन दिनों काशी में म.म. दामोदर शास्त्री की गणना अद्वितीय वैयाकरण के रूप में होती थी और हमारे ऋद्धी झा का उनसे भयङ्कर शास्त्रार्थ हुआ था, अतः इनका वैयाकरण मूर्द्धन्य होना प्रतीत होता ही है। १८८६ ई. में दरभंगा जिला के राघोपुर (कान्तीपुर) ग्राम में एक पुष्करिर्ण। का याग हो रहा था। बनारस के विद्वच्छिरोमणि म.म. शास्त्री जी भी आमन्त्रित थे, महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह स्वयं भी उपस्थित थे और उन्हीं के आग्रह पर दोनों में शास्त्रार्थ छिड़ा था। कहते हैं उस शास्त्रार्थ में आप विजयी हुए थे, परन्तु घोषणा के तुरंत बाद आपने यह कहते हुए अपनी पराजय मान ली कि शास्त्रीजी हमारे अतिथि हैं और अतिथि को अपमानित करना मिथिला की परम्परा नहीं है। दूसरी बात शास्त्रीजी अमुक स्थल पर असावधान थे, जो हमारी गलती को पकड़ नहीं पाये। फलतः विजयश्री शास्त्रीजी को ही मिलनी चाहिये। महाराजा ने अपने निर्णय को बदल कर शास्त्रीजी को ही विजयी घोषित किया। इस घटना से महापण्डित ऋद्धी झाजी का सम्मान और अधिक बढ़ गया। जो भी हो, म.म. दामोदर शास्त्री से शास्त्रार्थ करनेवाला और प. बच्चा झा सरीखे शिष्य को बनानेवाला कोई साधारण व्यक्ति हो ही नहीं सकता।

३५. हर्षनाथ झा — म.म. हर्षनाथ झा व्याकरण में मनोरमाभावार्थदीपक, शब्दरत्नार्थदीपक, परिभाषार्थदीपक,

लघुशब्देन्दुशेखरदीपक के रचयिता हैं। इनका समय १८५०—७५ के आसपास था, इनकी मृत्यु १८९९ ई. में हुई थी।

३६. म.म. परमेश्वर झा — दरभंगा जिले के सकरी रे.स्टे के पास तरौनी (तरुवनी) नामक ग्राम प्राचीन काल से ही विद्वद्‌ग्रामों में से एक रहा है, जहाँ एक से एक महाविभूति होते रहे हैं। हालके दिनों तक रहे हिन्दी भाषा के अखिल-भारतीय साहित्यकार 'बाबा नागार्जुन' भी इसी गाँव की विभूति थे। यहीं बलियासय सकुरीमूलक काश्यपगोत्रीय प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार में वैयाकरण केशरी महामहोपाध्याय प. परमेश्वर झा का जन्म पौषशुक्ल प्रतिपदा विक्रम संवत् १९१३, तदनुसार २७ दिसम्बर १८५६ (कही कहीं १८५३) ई. को हुआ था। आपके पिता प. पूर्णनाथ झा, समाज में बाबूनाथ झा से प्रसिद्ध थे और पितामह प. भोलानाथ झा मिथिलेश महाराज छत्रसिंह के सभापण्डित थे।

बचपन से ही बालक परमेश्वर कुशाग्रबुद्धि और प्रत्युत्पन्नमति था। जो कुछ पढ़ता या सुनता एक ही बार में कण्ठस्थ हो जाता था। इसने अपने ही गाँव के प. चिरंजीव मिश्र से व्याकरण का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त कर काशी के क्वीन्स कॉलेज में अपना नामाङ्कन करबाया। यहाँ इसने म.म. प. राजाराम शास्त्री, म.म. प. बालशास्त्री आदि से व्याकरण-वेदान्त-धर्मशास्त्र और मीमांसा का गहन अध्ययन किया और जब - जब इन गुरुओं से अवकाश मिलता तो अध्ययन काल में ही आप म.म. प. ताराचरण भट्टाचार्य तथा प. विश्वनाथ झा के श्रीचरणों में बैठकर न्यायशास्त्र का भी आलोडन करते थे। कुछ ही दिनों में आप प्रकाण्ड पण्डित ही नहीं; प्रत्युत् संस्कृत के दुर्द्धर्ष वक्ता भी हो गये। इसी बीच आपने दरभंगा महाराजा के द्वारा संचालित 'पण्डित-परीक्षा', जिसे उन दिनों धौत-परीक्षा से प्रसिद्धि थी — में बैठे और व्याकरण तथा कर्मकाण्ड दोनों में अव्वल रहे। इससे आपकी कीर्त्ति चारों ओर फैल गयी, फलतः १८७५ ई. में आपकी नियुक्ति गुजरात के झालरापाटन राज्य में संस्कृत शिक्षण के अध्यक्ष के रूप में हो गयी।

१८८० में आप इस पद को तब छोड़ दिये, जब आपको बनैली (बिहार) रियासत के अधिपति राजा पद्मानन्द सिंह ने अपने यहाँ बुला

लिया और उनके राजपण्डित पद पर आप आसीन हुए। कुछ दिनों बाद गन्धवारि ड्योढ़ी के द्वारा स्थापित और संचालित विद्यालय में जब प्रधानाचार्य का पद रिक्त हुआ तो आप यहाँ बुला लिये गये। यह विद्यालय आपके गाँव के पास था, अतः बनैली में अधिक वेतन और सम्मान मिलने पर भी, आपने इसे छोड़ नहीं पाया। बारह वर्षों तक आप यहाँ ससम्मान, पूर्ण निपुणता से इस पदको सम्हाले; किन्तु १ जुलाई १८९९ को आप दरभंगा आ गये। महाराज मिथिलेश रामेश्वर सिंह बहादुर के आग्रह पर उनके राजपण्डित के रूप में। जब म.म. प. चित्रधर मिश्र का देहान्त हुआ तो आपको दरभंगा स्थित रामेश्वरलता संस्कृत महाविद्यालय का प्रधानाचार्य भी बना दिया गया। आपने जीवन के अन्तिम समय पर्यन्त अर्थात् ३० जून १९२४ तक इन दोनों पदों व सफलता पूर्वक निर्वाह किया।

प. झा मूलतः वैयाकरण थे, किन्तु साहित्य में भी आपकी अव्याहत गति थी, कर्मकाण्ड में तो आप मजे हुए पण्डित थे ही। काव्य रचना करने में आप इतने प्रवीण थे कि सभी चकित रह जाया करते थे। "काव्यं विना व्याकरणं न राजते न काव्यमव्याकरणं विराजते" वाली सूक्ति को आप भलीभाँति जानते थे। संस्कृत के परम्परागत विद्वान् होने पर भी आप क्रान्तिकारी विचार के व्यक्ति थे। कहते हैं आप मिथिला और बंगाल के बीच पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्ध के भी पक्षधर थे। इन्होंनेअंग्रेजी का भी अध्ययन किया था और उसमें विद्यमान अच्छे विचारों को ग्रहण भी किया था।

आपकी रचनाओं की संख्या पर्याप्त है, जिनमें प्रयोगदर्पण, महिषासुरवधनाटक, परमेश्वरकोष, ऊष्मविवेकटीका, नक्षत्रनिर्णय, मिथिलेश प्रशस्ति, ऋतुवर्णन, सदाचार दर्पण, यक्षसमागम काव्य, दशकर्मपद्धति, श्राद्धरत्न, छन्दोगवृषोत्सर्ग, आह्निकपद्धति, सीमन्तिनी आख्यायिका, मिथिलातत्त्व विमर्श आदि मुख्य हैं।

आपके प्रधान शिष्यों में प. मार्कण्डेय मिश्र, प. त्रिलोकनाथ मिश्र, प. शिवनन्दन ठाकुर आदि परिगणनीय हैं। आपको भारत धर्म महामण्डल, काशी से 'वैयाकरण केशरी'; बिहार पण्डितसभा से 'विद्यानिधि' की

मानद उपाधि दी गयी थी तथा भारत सरकार ने १९१४ में महामहोपाध्याय के सर्वोच्च विरुद् से सम्मानित भी किया था। साथ ही आप अनेक वर्षो तक संस्कृत शिक्षा और परीक्षा से जुड़ी हुई संस्थाओं के मानित सदस्य भी थे, जिनमें मुख्य हैं — बिहारोत्कल संस्कृत शिक्षा समिति, पटना विश्वविद्यालय, कलकत्ता विश्वविद्यालय का संस्कृत काउन्सिल आदि।

३७. *प. खुद्दी झा* — (१८६६-१९२७ ई.)

वैसे तो आप कई ग्रन्थों के लेखक एवं व्याख्याकार हैं, परन्तु आपकी प्रसिद्धि हुई व्युत्पत्तिवाद की 'नौका' व्याख्या एवं लघुशब्देन्दुशेखर की 'नागेशोक्तिप्रकाश' व्याख्या से। आप खौआल नाहस मूलक कोइलख ग्राम निवासी प. उमादत्त झा के पुत्र थे तथा आपके पुत्रों में तारादत्त झा एवं बालादत्त झा दोनों का विवाह हुआ था उजान ग्रामवासी करमहे अनलपुर मूलक नरसिंह झा की पुत्रियों से। नागेशोक्तिप्रकाश में आप लिखते हैं —

"मैथिलभूसुरवर्यश्रीमदुमादत्तशर्मणस्तनुजः।
खुद्दीझाशर्मरचयति नागेशोक्तिप्रकाशमतियत्नात्॥
पुरातन्यष्टीका यदपि विलसन्त्येव शतशः
परं नैताः प्रत्येकमुचितसमस्तोक्तिकुशलाः।
निबन्धुं ताः श्रीमद्गुरुवचनसूत्रैरहमतः
प्रवृत्तः संयाचे बुधजनकृपादृष्टिमसकृत्॥"

आपकी एक तीसरी रचना और कही जाती है — तिङर्थवादसार। आप कलकत्ता विश्वविद्यालय में मैथिली के प्राध्यापक थे। यह कहा जाता है कि वहाँ मैथिली की पढ़ाई आपही ने प्रारम्भ करवायी थी।

३८. *म.म. कृष्णसिंह ठाकुर* — (१८४८ ई.)

खण्डबला भौर मूलक शाण्डिल्य गोत्रीय श्रोत्रिय म.म. कृष्णसिंह ठाकुर का जन्म १८४८ ई. में अपने ग्राम 'राजग्राम' से प्रसिद्ध 'भौर' में हुआ था। आपके पिता जगतसिंह ठाकुर महाराज महेश ठाकुर के वंशज गौरीनाथ सिंह ठाकुर के पौत्र एवं उग्रसिंह ठाकुर के पुत्र थे। आप व्याकरण के मूर्द्धन्य विद्वान् तथा म.म. लता संस्कृत विद्यापीठ, लोहना

के संस्थापक प्राचार्य थे। जैसा कि उन दिनों के लोग हुआ करते थे, आप भी प्रखर शास्त्रार्थी थे। कहते हैं आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती से भी आपका शास्त्रार्थ हुआ था तथा अन्य मूर्द्धन्य विद्वानों में पचाढ़ी के प. हरि मिश्र, राघवपुर-बलाट के प. भैया झा, हरिनगर के प. हल्ली झा आदि उल्लेखनीय हैं, जिनके साथ आपका शास्त्रार्थ हुआ।

आपके रचित ग्रन्थों में सब साहित्य के ही हैं, जब कि शिष्यों में सब व्याकरण के ही थे। कृतियों में जैसे — अमरनाथशतकम्, वैष्णवीनवकम्, कामाख्यास्तोत्रम्, त्र्यम्बकेश्वरपंचाशिका, तारकेश्वरस्तोत्रम्, गंगाश्रीलहरी, खण्डवलाकुलदीपिका, पदार्थनिर्णय आदि। इसी प्रकार शिष्यों में उल्लेखनीय हैं — म.म. शशिनाथ झा (चनौर), प. बटेकृष्ण झा (हैंठीवाली), प. महेश झा (हनुमाननगर-भौर), प. गौरीनाथ झा (महरैल), प. नेना मिश्र (सिलौत, इनके पौत्र डॉ. विधाता मिश्र थे), प. हीरालाल झा (परसौनी) आदि। इनकी कृति 'खण्डवलाकुलदीपिका' के व्याख्याकार प. अयोध्यानाथ मिश्र (गमैल ग्रामवासी प. मिलान मिश्र के पुत्र) भी इन्हीं के शिष्य थे, जो लिखते हैं —

"अभिजनवसतिर्ग्रामगमैले सम्प्रतिलसति स एव चनौरे।
गुरवस्तस्य वसन्ति च भौरे मित्रमिदानीं लसति ननौरे ॥"

३९. म.म. जयदेव मिश्र — मधुबनी जिलान्तर्गत 'गजहरा' नामक गाँव में वि.सं. १९११ अर्थात् १८४४ ई. को कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा के दिन प. चित्रनाथ मिश्र के यहाँ सोदरपुर वंश में एक बालक का जन्म हुआ। मुण्डन-ब्रतबन्ध (चूड़ाकर्म-उपनयन) आदि संस्कार होने के बाद इसे महावैयाकरण प. हलधर उपाख्य हल्ली झा के पास उनके गाँव हरिनगर अध्ययनार्थ भेज दिया गया। वहीं रहकर यह बालक व्याकरणशास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया। प्रारम्भिक ग्रन्थों में निपुण होकर आपको परीस्थितिवश गन्धवारि आना पड़ा, जहाँ आपकी शिक्षा म.म. प. रज्जे मिश्र के श्रीचरणों में मिली। प्रक्रियाग्रन्थ एवं टीकाग्रन्थों में निष्णात हो जाने के कारण पण्डित मण्डली में आपकी अच्छी खासी ख्याति मिलने लगी और वहीं आपको शास्त्रार्थ में रुचि जगी।

व्याकरण की आवश्यकतानुकूल योग्यता पाकर वह बालक विशेष

अध्ययन के लिए काशी आ गया, जहाँ पहले म.म. प. बालशास्त्री से, फिर म.म. प. शिवकुमार शास्त्री से अनेक विद्याएँ प्राप्त कीं। वह न केवल व्याकरण में अपितु न्याय और साहित्य में भी विद्वान् हो गया। जब कोई विद्वान्, पण्डितों में भी पण्डित होता है, तभी उसकी पण्डितों में गणना होती है — "केचित्पण्डित पण्डिताः", सो इस बालक की भी गणना पण्डितों में होने लग गयी। यह बालक और कोई नहीं, कालान्तर में दिग्‌दिगन्त ख्यातनामा म.म. वैयाकरण शिरोमणि प. जयदेव मिश्र ही थे।

पण्डित मिश्रजी पहले तो रुइया पाठशाला में अध्यापक बने, पर बाद में इनकी ख्याति और प्रतिभा से प्रभावित दरभंगा नरेश महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह ने इन्हें काशी स्थित अपने संस्कृत विद्यालय में १९३८ विक्रमाब्द को व्याकरणाध्यापक के पद पर नियुक्त कर लिया। स्मरणीय है कि यहाँ म.म. शिवकुमार शास्त्री, म.म. तात्याशास्त्री, म.म. सुधाकर द्विवेदी, साहित्यवाचस्पति प. दुःखभञ्जन कवि आदि विद्वान् पहले से ही सेवारत थे। यहाँ रहते हुए थोड़े ही समय में आपके सैकड़ों छात्र व्याकरण विद्या में प्रवीण हो गये। १९७४ विक्रमाब्द में जब महामना प. मदनमोहन मालवीय जी की दृष्टि आप पर पड़ी तो उन्होंने आपको सादर अपने हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राच्यविद्या विभागाध्यक्ष के पद पर नियुक्त कर लिया। म.म. डॉ. गंगानाथ झा इनकी योग्यता के प्रसंग कहते हैं — "पण्डितवर्याणां कीदृशं पाण्डित्यमासीदिति तेषां छात्रेण वर्णनमनुचितमेव प्रतिभाति। अस्त्वेतदेव पर्याप्तं यत्प्रायशो गणितशास्त्रवर्जं सर्वेष्वपि शास्त्रेषु तेषामधिकारः पूर्णतयाऽऽसीत्।" वस्तुतः जयदेव मिश्र न केवल व्याकरण के प्रकाण्ड पण्डित थे, अपितु शास्त्रान्तर में भी प्रगाढ़ पाण्डित्य रखते थे। शास्त्रार्थ करने की कला में तो आप अद्वितीय थे ही, वल्कि लेखन कला में भी आप निपुण थे। आपके बनाये ग्रन्थों से आपकी अगाध-विद्वत्ता का परिचय प्राप्त होता है। परिभाषेन्दुशेखर पर 'विजया' व्याख्या, व्युत्पत्तिवाद की 'जया' व्याख्या, शास्त्रार्थकला दिग्दर्शिका 'शास्त्रार्थरत्नावली', शब्देन्दुशेखर की व्याख्या, वास्तुपद्धति, कुलदेवता-स्थापन पद्धति, महाविनायक-स्थापन पद्धति, शतचण्डी पद्धति, तुलादान पद्धति, नीलवृषोत्सर्ग पद्धति आदि आपके उर्वर मस्तिष्क के प्रशस्य

सस्य हैं।

आपके पाण्डित्य और प्रसिद्धि से अभिभूत भारत सरकार ने सन् १९१९ ई. में आपको अपना सर्वोच्च पण्डित-सम्मान 'महामहोपाध्याय' से अलंकृत किया था।

आपको तीन पुत्ररत्न हुए और दो पुत्री। इनमें प्रथम पुत्र म.म. डॉ. उमेश मिश्र किसी परिचय के मोहताज नहीं हैं, जब कि कनिष्ठ पुत्र प्रो. श्रीकृष्ण मिश्र मिथिला विश्वविद्यालय में अंग्रेजी विभागाध्यक्ष थे। मध्यम श्रीरमेश मिश्र घर पर ही रहा करते थे। पण्डित प्रवर मधुसूदन मिश्र म.म. जी के अनुज और पण्डित प्रवर लक्ष्मीनाथ मिश्र जामाता थे। विजया व्याख्या में आप अपना परिचय देते हुए लिखते हैं —

"सीतासम्भवकीर्त्तिपूत मिथिलाभूमण्डलाखण्डल-,
श्रीमद्राजरमेश्वरामरतरोश्छायापनीत श्रमः।
शच्युद्भूर्जयदेवमिश्रगदितः श्रीचित्रनाथात्मज-
श्चक्रेऽमुं विजयाभिधं गजहडाग्रामोद्भवो मैथिलः॥
चन्द्राद्रिग्रहभूमि सम्मितसमापौषे सुपूर्णे विधौ,
सो श्रीमधुसूदनेन कृतिना तस्यानुजेनादरात्।........"

१९८२ वि.सं. के फाल्गुन शुक्ल सप्तमी को काशी में ही मणिकर्णिकाघाट पर सन्निपात ज्वर से आक्रान्त मिश्रजी अपने पांचभौतिक शरीर को छोड़ शिवसायुज्य को प्राप्त हो गये —

"उत्क्षिप्य बाहूत्वसकृद्ब्रवीमि
त्रयीमयेऽस्मिंस्त्रयमेव सारम्।
विश्वेशलिङ्गं मणिकर्णिकाम्बु
काशीपुरी सत्यमिदं त्रिसत्यम्॥"

म.म. नारायण शास्त्री ने सही ही लिखा है —

"नानाग्रन्थविधानजेन यशसा व्याप्याखिलं भारत-
मध्याप्यप्रचुरं विधाय बहुलान् विद्यार्थिनः पण्डितान्।
विद्वत्संसदि गीष्पतिप्रतिभतां सम्पाद्य लोकोत्तरां,
सायुज्यं जयदेवमिश्र विबुधा विश्वेश्वरेणाप्नुवन्॥"

अन्त में इनके शिष्य म.म. डॉ. गंगानाथ झा के शब्दों में —

"जयः कुले जयोऽभ्यासे जयः पण्डितमण्डले ।
जयो मृत्यौ जयो मोक्षे जयदेवे सदा जयः ।।"

४०. म.म. शशिनाथ झा — धर्मसमाज संस्कृत महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर के पूर्व प्रधानाचार्य आचार्य शशिनाथ झा अपने गाँव चनौर के पास स्थित सखवार ग्राम के प. जुडाओन झा एवं काशी के तत्कालीन अ.भा. स्तरीय विद्वान् तात्यांशास्त्री से प्रसिद्ध म.म. रामकृष्ण शास्त्री एवं म.म. बालशास्त्रा के शिष्य थे । इनके एक और गुरु थे, जिनसे इन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा पायी थी और जिनके मरते समय आप वहाँ उनका पाँव दवा रहे थे, और वे थे म.म. धर्मधुरीण श्रीकृष्णसिंह ठाकुर । संयोग की बात थी कि उनके श्राद्ध के बीच ही आपको विक्टोरिया के जन्मदिनोत्सव पर 'महामहोपाध्याय' की पदवी से अलंकृत किया गया था । प्रारम्भ में आप ३० वर्षों तक कानपुर स्थित संस्कृत पाटशाला में अध्यापन किया करते थे, ततःपर मुजफ्फरपुर के धर्मसमाज राजकीय संस्कृत महाविद्यालय आ गये, जहाँ १० वर्षों तक आपने अध्यापन किया । अध्यापन और पूजा-पाठ में ही आपका अधिक समय जाता था । महाभाष्य अनुशीलन में भी आप अद्वितीय माने जाते थे, शास्त्रार्थों में तो विपक्षियों के परिष्कारों का खण्डन आप भाष्य - विरोध को उपस्थापित करके ही किया करते थे । कबा तो यह भी जाता है कि आपने महाभाष्य पर भी टीका लिखी थी, जो आज उपलब्ध नहीं होती । आप व्याकरण के मूर्द्धन्य विद्वान् थे तथा परमलघुमञ्जूषा पर आपने सरला व्याख्या लिखी है। जब कि आपकी दूसरी रचना विभक्त्यर्थ प्रकाशिका भी प्रकाशित है। आप सरिसबय छाजनमूलक चनौर ग्रामवासी प. द्वारिकानाथ झा के पुत्र थे तथा आपका काल १८६०-१९३२ था। किशोरी झा-कालिका झा-द्रव्येश झा-नन्दन झा (द्वितीय)-गुनोर झा जहाँ आपके मित्र थे, वहीं शिवबालकशुक्ल आदि अन्तेवासी । आपके बारे में ही कहा गया है —

"विद्वत्संसदि वागधीशसदृशाः प्रौढ़ प्रतिष्ठाजुषोः
नानाशास्त्र विचारकर्मकुशला अध्यापकेषूत्तमाः ।
शास्त्रे व्याकरणे परिष्कृतियुते लोकोत्तरश्रीयुताः
श्रीमन्तः शशिनाथझाऽऽख्य विबुधा राजन्ति विद्वद्गणे ।।"

४१. म.म. मुकुन्द झा वक्शी — (१८६९-१९३८ ई.)

महामहोपाध्याय जी का जन्म उनके मामा के घर लोहार भवानीपुर (जिला मधुबनी) में करमहा अहपुर मूलक मुशली झा उपनामक प. नन्दलाल झा के पुत्र के रूप में १२७६ साल, तद्नुसार १८६९ ई. में हुआ था, और १९३८ ई. में काशी लाभ किये। आप व्याकरण-मीमांसा और कर्मकाण्ड के मूर्द्धन्य विद्वान् थे। मैथिली में आपका लघुव्याकरण तो है ही, वल्कि संस्कृत में आपने निरुक्त के १३ अध्यायों पर विवृति की रचना भी की है, जो प्रशंसित और प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त आपके रचित प्राकृतमंजरी टीका, धातुरूप संग्रह आदि भी प्रकाशित हैं।

४२. हरिशंकर झा — शब्देन्दुशेखर सुधा, महाभाष्यकुञ्जिका, मनोरमारत्नविवेक, भूषणसारचन्द्रिका, परिभाषेन्दुदीपिका, मञ्जूषारत्न, शिशुतोषिणी, बटुतोषिणी, परिभाषेन्दुशेखर-कामाख्याव्याख्या आदि के रचयिता पं. हरिशंकर झा, पं. शिवशंकर झा के भाई एवं ठाढ़ी ग्रामवासी थे।

४३. म.वै.प. दीनवन्धु झा — (१८७८-१९५५ ई.)

नेपाल नरेश से जागीर लेनेवाले और उनके ही राजपण्डित वैयाकरण दीनबन्धु झा से भिन्न, इन महावैयाकरण प. दीनबन्धु झा का जन्म मड़रय सिहौल मूलक काश्यपगोत्रीय श्रोत्रिय प. विद्यानाथ झा प्रसिद्ध फेकू झा के घर आश्विन शुक्ल चतुर्दशी वृहस्पति शाके १८०० तद्नुसार १८७८ ई. को इसहपुर नामक ग्राम में हुआ था। रघुवर झा इनके पितामह और पाहीटोल ग्रामवासी मुरली मिश्र मातामह थे। प्रारम्भिक शिक्षा इन्होंने अपने गाँव के पास सखवार ग्राम निवासी प. जुडाओन झा एवं प. धनुर्धर झा (टटुआर) से प्राप्त की थी और बाद में काशी जाकर म.म. प. शिवकुमार मिश्र से व्याकरण के समस्त ग्रन्थों को पढ़ा था। इनके सहपाठियों में म.म. बालबोध मिश्र, सर्वतंत्रस्वतंत्र प. मार्कण्डेय मिश्र, म.म. हाराणचन्द्र भट्टाचार्य आदि सुप्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार इनके शिष्यों में म.म. कृष्णमाधव झा, प. यदुपति मिश्र, प. महीश्वर झा, प. श्रीवल्लभ झा, प. चन्द्रमाधव झा, डा. मणिनाथ झा आदि के नाम

महद् उल्लेखनीय हैं।

१९१२ से १९२१ पर्यन्त आप लक्ष्मीपुर के लक्ष्मीश्वरी विद्यालय में कार्यरत थे, १९२२ में आपकी नियुक्ति सरिसबग्राम स्थित लक्ष्मीवती संस्कृत पाठशाला में प्रधानाचार्य के पद पर की गयी। जहाँ आप १९५३ तक अनेक छात्रों को सुयोग्य बनाये। १९५३ में जब दरभंगा में मिथिला शोध संस्थान की स्थापना हुई तो तत्कालीन महाराजा कामेश्वर सिंह के द्वारा आप अनुसन्धानकार्य के मार्गदर्शक रूप में 'प्राचीन पण्डित' के पद पर बुला लिये गये।

आपकी रचनाओं में कौमुदी मूलार्थ विद्योतिनी, समासशक्तिदीपिका, लिङ्गवचनविचार, भूषणसारदीपिका, उपसृष्टधात्वर्थसंग्रह, व्याकरणतत्त्वप्रदीप, बकार विवेक, रमेश्वर प्रतापोदयम्, रसिक मनोरञ्जिनी, मिथिलाभाषाविद्योतन आदि दो दर्जन पुस्तकें प्रकाशित हैं। प. कृष्णमाधव झा ने सही ही लिखा है कि – "पिता च धन्यो जननी सुधन्या सुदीनबन्धुं पुरतो विलोक्य"। २६ जनवरी १९५५ को इनकी इहलौकिक लीला समाप्त हो गयी।

४४. प. बालबोध मिश्र – मुजफ्फरपुर जिले के अन्दर 'कोकन' नामक ग्राम आदिकाल से ही विद्वानों का निवासस्थान रहा है। इसी गाँव में १८७७ ई. में प. मुकुन्द मिश्र के सुपुत्र के रूप में जिस बालक का जन्म हुआ, वही आगे चलकर 'महावैयाकरण प. बालबोध मिश्र' के नाम से जगत्प्रसिद्ध हुआ। परन्तु बालक को अभी दो ही वर्ष हुआ था, अपने नेत्रों से इस जगत् को देखने का, कि माँ की ममता छिन गयी। इतना ही नहीं, दश वर्ष बाद, १८८९ ई. में जब बालक बारह ही वर्ष का था तो पिता की छत्र-छाया भी उठ गयी। माँ की ममता और पिता के वात्सल्य से वंचित इस बालक का लालन-पालन किया पितृव्य प. ईश्वरीदत्त मिश्र ने। अपने गाँव की ही संस्कृत पाठशाला से प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर बालक बालबोध प. सिंहेश्वर झा से व्याकरण का अध्ययन करने लगा। प. झा उन दिनों एक निविष्ट वैयाकरण माने जाते थे, जिनसे शास्त्रार्थ करने का साहस देशान्तर के पण्डित में भी कम ही था। इन्हींसे कौमुदी-भाष्य-मनोरमा आदि ग्रन्थों का पाण्डित्य पाकर बालबोध मिश्र अग्रिम अध्ययन

के लिए काशी आ गये, जहाँ इन्होंने म.म. प. गंगाधर शास्त्री के श्रीचरणों में बैठकर व्याकरण के प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थों का सविधि अध्ययन किया। व्याकरणाचार्य हो जाने के बाद आपको लगा कि क्यों न अपनी विद्या को और भी किसी गुरु के पास जाकर चमकायी जाय। इसी दिशा में आप म.म. प. शिवकुमार शास्त्री एवं प. जीवनाथ मिश्र से पढ़ते रहे, शंका का समाधान करते रहे और गुरुओं के प्रश्नों का जबाब देते रहे। फिर आपने न्यायाचार्य की परीक्षा दी और प्रथम श्रेणी से उत्तीर्णता प्राप्त की।

न्यायाचार्य करने के साथ- साथ आपकी पढ़ाई भी समाप्त हो गयी; अब आपको सेवा की आवश्यकता पड़ी। गुरु प. जीवनाथ मिश्र ने व्यवस्था की और काशी में ही कुछ जैनियों को पढ़ाने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि पाटन स्थित जैनियों के प्रसिद्ध विद्यालय से आपको आमंत्रण मिला, और वहाँ आपकी नियुक्ति हो गयी। कुछ ही दिनों बाद आप अपने शिष्य प. रामचन्द्र झा, जो उन दिनों अलबर राज्य के शिक्षाधिकारी थे — के आग्रह पर अलबर (राजस्थान) आ गये। पर, यहाँ भी आप अधिक दिनों तक रह नहीं सके। इसी बीच हाँजीपुर (वैशाली) में प. ब्रजविहारी चतुर्वेदी ने रत्नाकर संस्कृत विद्यालय की स्थापना की, जिसमें आपको प्रधानाचार्य के पद पर सादर बुला लिया गया। यहाँ रहते हुए आपने कुछ काव्यों की भी रचना की, जिसमें 'ब्रजविहारीचरितम्' भी एक है, जो आप उनके निधन पर बनाये थे। इसका एक पद्य उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है —

"अयं तेजो व्यूहः किमधिकसमूहः सुयशसां
किमाधारः कान्तेः सहजनिजशान्तेरुत परः।
विचारस्यागारः किमुत भुविसारः सुतपसां
गुणानामाधारः किमु चिरमपारः सुखकरः॥"

१९१७ में सरकार के द्वारा मुजफ्फरपुर में धर्मसमाज संस्कृत (राजकीय) महाविद्यालय की जब स्थापना हुई तो वहाँ आपकी नियुक्ति सांख्य-योग विभाग में कर दी गयी, जहाँ १९१९ ई. तक आपने कार्य किया। इसी वर्ष आपको राजकीय संस्कृत महाविद्यालय (क्वीन्स कॉलेज)

वाराणसी से आमन्त्रण मिला और वहाँ मीमांसा-वेदान्त पढ़ाने के लिए आप आ गये। यहाँ आपकी सेवा में स्थिरता आ गयी और २६ वर्षो तक आपने बड़े निष्ठाभाव और लगन से अपनी सेवा दी। उन दिनों के नियमानुसार यद्यपि आपको पहले ही अवकाश ग्रहण कर लेना था, पर आपकी अध्यापन शैली और लोकप्रियता से अभिभूत होकर प्रशासन ने १९४६ में सेवा निवृत्त किया। इस अवधि में आपने असंख्य छात्रों को विद्यादान दिया, जिनमें समुल्लेखनीय हैं — अपरबाणभट्ट से प्रसिद्ध संस्कृतव्याख्यान वाचस्पति-व्याख्यान दिवाकर आदि विरुद विभूषित काशीस्थित श्यामा विद्यालय के अध्यापक पण्डित भूपनारायण झा (बेहटा), संस्कृत विश्वविद्यालय के प. मुरलीधर झा (द्वितीय), राजकीय संस्कृत उच्चविद्यालय, गया के प्रधानाध्यापक प. रामचन्द्र झा (अलबर वाले से भिन्न), धर्मसमाज संस्कृत महाविद्यालय के प. कृष्णेश्वर झा, काशी के पण्डित ढुण्ढिराज शास्त्री आदि।

आप न केवल निरे वैयाकरण और नैयायिक थे, वल्कि साहित्य-मीमांसा-वेदान्त-सांख्य-योग आदि में भी आपकी अबाध गति थी। आप जितने ओजस्वी और प्रखर वक्ता थे उतने ही अच्छे कवि भी। पर आपकी ख्याति एक वैयाकरण के रूप में ही थी, जिस शास्त्र में उन दिनों आपको 'महावैयाकरण' के विरुद् से सभाजित किया जाता था।

४५. *मार्कण्डेय मिश्र* — (१८७९-१९५२ ई.)

यद्यपि पण्डितजी दार्शनिक थे, महादार्शनिक, परन्तु इन्होंने व्याकरण का अध्ययन भी गुरुमुख से आद्योपान्त किया था। अपने समय के आप विशिष्ट शास्त्रार्थी माने जाते थे। कद से छोटे होते हुए भी पद से बहुत बड़े थे। मद से कोसों दूर, पर हद के शौकिन थे। व्याकरण में इन्होंने पाणिनिसूत्र परिष्कार, परिभाषेन्दुशेखर परिष्कार, व्युत्पत्तिवाद विवृत्ति, वर्णस्फोट विचार आदि की रचना की थी, जो अप्रकाशित हैं।

१८७९ में जन्मग्रहण करनेवाले प. मिश्र जी १९५२ में परमधाम को चले गये। इनके ही शिष्य न्यायरत्न प. **महेश झा** (पलिवार महिषीमूलक गंगौली ग्रामवासी) ने व्याकरण में स्फोट निरूपण (स्फोटवाद), धातुसार, शब्दतत्त्ववाद, लघुशब्देन्दुशेखर टीका और महाभाष्य 'विमला'

की रचना की है। सुलतानगंज में अध्यापन कर रहे पण्डित जी वहीं नवाह्निक पर टीका की थी, जो वहीं से प्रकाशित भी हुई। १९०१ ई. में जन्मे प. झा का देहान्त ८३ वर्ष की अवस्था में १९८३ में हो गयी। आपके पितृव्यपुत्र पं. **रमेश झा** (१९०७-१९५७ ई.), जो पातेपुर संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाध्यापक थे, ने 'व्याकरण प्रबन्धावली' बनायी, पर वह आजतक अप्रकाशित है।

४६. *पण्डित शुकदेव झा* — (१९५० ई.)

वाराणसी के नित्यानन्द संस्कृत महाविद्यालय में यावज्जीवन व्याकरणशास्त्र का अध्यापन करनेवाले भागलपुर के सिमरा ग्रामवासी सुप्रसिद्ध वैयाकरण प. शुकदेव झाजी रामयश त्रिपाठीजी के शिष्य थे, जिनके अन्य उल्लेखनीय शिष्य थे पुरी के पूर्व शङ्कराचार्य श्रीनिरञ्जनदेवतीर्थजी, काशी के रामानुजाचार्य श्री देवनायकाचार्यजी, दण्डीस्वामी श्रीरामानन्द सरस्वतीजी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व पुराणविभागाध्यथ डॉ. श्रीकृष्णमणि त्रिपाठीजी आदि। पण्डित झाजी को पूरा महाभाष्य और वाक्यपदीय कण्ठाग्र था। महाभाष्य का मर्मज्ञ होना प्रशंसा का विषय अवश्य है, पर उससे भी अधिक बड़ी बात है वाक्यपदीय के रहस्यों का ज्ञाता होना। और इन दोनों की सत्ता शुकदेव झाजी के व्याकरण पाण्डित्य का मेरुदण्ड रहा है। जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, पुरी के पूर्व कुलपति डॉ. सत्यव्रत शास्त्री एवं काशी के डॉ. भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी उपाख्य वागीश शास्त्री आपही के शिष्य हैं। महाभाष्य पर 'आदर्श' व्याख्या आपकी बतायी जाती है, पर वह मुझे देखने को नहीं मिली है। हाँ, आपके मनोरमारत्नप्रकाश, भूषणसारप्रकाश, लघुमञ्जूषाप्रकाश, परमलघुमंजूषाप्रकाश, लघुशब्देन्दुशेखर प्रकाश, परिभाषेन्दुशेखर प्रकाश आदि ग्रन्थ हमने देखे जरूर हैं।

४७. *रुद्रधर झा* — (१९२०-९० ई.)

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में व्याकरण के प्राध्यापक रहे पण्डित रुद्रधर झा न्याय-व्याकरण और वेदान्त तीनों ही विषयों के प्रकाण्ड पण्डित और आचार्य थे। आप सर्वतंत्रस्वतंत्र प. बच्चा झा के गुरु ठाढ़ी ग्रामनिवासी महानैयायिक प. विश्वनाथ झा के पौत्र एवं प. दामोदर झा के

पुत्र थे। व्याकरण महाभाष्य के नवाह्निक पर आपके रचित 'तत्त्वालोक', भाष्य-प्रदीप एवं उद्योत तीनों की टीका है। इसमें आप अपना परिचय देते हुए लिखते हैं —

"अस्ति प्रसिद्धमहिमाऽखिलभूतलेऽयं
देशः सुरैरपि सदा स्पृहया प्रतीष्टः।
शोभारतः प्रथितभारतनामधेय-
स्तस्यैकतो **जनकजाजनि**भूगरिष्ठा॥
तन्मध्यमन्ववसितो बुधवर्गपूर्णः
ठाढ़ीतिनामविदितोऽभिजनो यदीयः।
आसीत्स मैथिलधरासुरवंशदीपः
श्रीमद्गणेशदयितः किल **विश्वनाथः**॥
यस्तर्ककर्कशगिरोऽखिलमर्मवेत्ता
भेत्ता च वादिनिवहस्य समस्तवादे।
यज्ज्ञानगौरववशीकृतमानसोऽसौ
सर्वेष्टदाननिरतो मिथिलाधिपोऽभूत्॥
तस्यात्मजस्तदनुरूपगुणैरुपेतो
दामोदरो निजगृहे बहुशः सुशिष्यान्।
अन्नादिदानसहितं विधिनाऽतितुष्टः
प्राध्यापयन् किल निनाय समस्तमायुः॥
तत्पुत्रः शाब्दतर्काध्ययनविशदधीर्व्यासतन्त्रे प्रवीणः
काश्यामध्यापयंस्तानविकलविषयान् वाग्मितायां प्रसिद्धः।
खैकव्योमाक्षिवर्षे फणिपतिवचसां कैयटोद्योतभाजां
तत्त्वालोकं व्यतानीद् गुरुवरकृपया छात्रवर्गस्य तुष्ट्यै॥
नवीननीरदश्यामे श्रीरामचरणाम्बुजे।
कृतिं समर्पयत्येतां निजां **रुद्रधरः** शुभाम्॥"

४८. *विद्यावाचस्पति प. उपेन्द्र झा* — (१९०३ - १९८८ ई.)

बलियासय सकुरी मूलक काश्यप गोत्रीय प. उपेन्द्र झा तरौनी ग्रामवासी ज्योतिर्विद् प. बबुआ झा के पुत्र थे। न्याय, व्याकरण एवं साहित्य के विद्वान् प. झा म.म. प. शशिनाथ झा, म.म.प. परमेश्वर झा, प. मुक्तिनाथ मिश्र, प. राधाकृष्ण झा तथा प. निरसन मिश्र के शिष्य थे।

काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान् अपर बाणभट्ट पण्डित भूपनारायण झा आपके अभिन्न मित्रों में से रहे हैं। लक्ष्मीपुर ग्रामस्थित लक्ष्मीश्वरी विद्यालय में आपने म.वै.प. दीनबन्धु झा की देखरेख में कार्य प्रारम्भ किया था, अनन्तर १९३० में आप रामेश्वरलता संस्कृत विद्यालय में बुला लिये गये, जहाँ बाद में आपने प्राचार्य पद को भी सुशोभित किया। १९७४ में जब डॉ. रामकरण शर्मा दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय को नयारूप देने लगे तो वहाँ आप व्याकरण के प्रथम विभागाध्यक्ष बनाये गये।

डॉ. उपेन्द्र झा 'विमल', डॉ. गोविन्द झा, डॉ. सुरेश्वर झा आपके उल्लेखनीय शिष्यों में प्रमुख हैं। जब कि समास शक्तिविचार, उपग्रह व्यवस्था, पर्वनिर्णय, सुभाषितावली तथा ध्वन्यालोक-काव्यप्रकाश ग्रन्थों की मैथिली व्याख्यायें आपके पाण्डित्य प्रकर्ष हैं। व्याकरण विषयक अनेक निबन्ध, विश्वमनीषा में आपके प्रकाशित हैं। कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय के द्वारा 'विद्यावाचस्पति' की उपाधि एवं भारत गणराज्य के राष्ट्रपति द्वारा मानपत्र से आपको सम्मानित किया जा चुका है। लम्बी बीमारी के बाद १ सितम्बर १९८८ को आपका निधन हो गया।

४९. *रामचन्द्र झा* — (१९१५-१९९२ ई.)

तरौनी ग्रामनिवासी प. रामचन्द्र झा चौखम्बा प्रकाशन, काशी में संशोधक एवं सम्पादक के रूप में व्यवसायरत थे। इन्होंने व्याकरण के कई ग्रन्थों की संस्कृत-हिन्दी व्याख्या की है, जिनमें उल्लेखनीय हैं — लघुकौमुदी, मध्यकौमुदी एवं सिद्धान्तकौमुदी की इन्दुमती व्याख्याएँ। इन्दुमती इनकी पत्नी थी; जो इन्हें प्रौढ़ावस्था में ही छोड़ परलोक सिधार गयीं। इनकी अन्य रचनायें हैं — संस्कृतव्याकरणम्, समासचन्द्रिका, रूपचन्द्रिका आदि।

५०. *सुरेशझा शास्त्री* — नेपाल के महोत्तरी जिलान्तर्गत साँढ़ा ग्रामवासी प. सुरेशझा शास्त्री की संस्कृत बोधचन्द्रिका, संस्कृतशिक्षा सोपान, श्लोकलघुकौमुदी के साथ - साथ दो भागों में श्लोकबद्ध

सिद्धान्तकौमुदी ग्रन्थ भी बहुत प्रसिद्ध हैं। आपका समय २० वीं श. का उत्तरार्द्ध है।

५१. *मणिनाथ झा* — (१९२८-८८ ई.)

लालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली के व्याकरण विभागीय आचार्य डॉ. मणिनाथ झा जी का जन्म पलिवार महिषी मूलक सरिसब पाही स्थित वत्सगोत्रीय श्रोत्रिय परिवार में २४-०२-१९२८ को हुआ था तथा ३ जून १९८८ को इनकी दिल्ली में रहते हुए ही इहलौकिकलीला समाप्त हो गयी। आपके पिता पं. एकनाथ झा निविष्ट तान्त्रिक थे तथा पितामह खड्गनाथ उपाख्य अर्जुनझा उदारहृदय जमीन्दार। प्रारम्भ में आपने अपने घर के पास स्थित लक्ष्मीवती संस्कृत पाठशाला में १९३४ से ४३ पर्यन्त महावैयाकरण प. दीनबन्धु झा तथा साहित्यवाचस्पति प. मधुसूदन मिश्र के श्रीचरणों में रहकर विद्याध्ययन किया तथा व्याकरणाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण हुए। अनन्तर आप भागलपुर के सुलतानगंज विद्यालय में आकर प. रूपनाथ झा से नव्यन्याय की शिक्षा प्राप्त की। फिर यदा-कदा समय मिलने पर प. मार्कण्डेय मिश्र, कविशेखर प. बदरीनाथ झा एवं म.म. प. कृष्णमाधव झा से भी शास्त्राध्ययन करते रहे।

अध्ययन समाप्ति के बाद १९४९ में आप रैयाम के संस्कृत विद्यालय में प्रधानाध्यापक बनाये गये, पर १९५२ में देवघर स्थित संस्कृत महाविद्यालय में व्याकरणाध्यापक बनने के कारण उसे छोड़ दिया। १९५५ से १९६० तक आप इसी पद पर रहीमपुर संस्कृत महाविद्यालय में भी काम किये। जब कि १९६० में राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान में व्याकरण के उपाचार्य पद का विज्ञापन आने पर आपने भी उस पद के लिए आवेदन दिया, जिसमें आपका चयन हुआ और राजधानी दिल्ली में आपको नियुक्त कर दिया गया। यहीं तत्कालीन लालबहादुरशास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ में आप आचार्य भी बनाये गये और कुछ दिनों के लिए प्राचार्य भी।

विद्यावाचस्पति प. झा जी ने यद्यपि कई निबन्धों की रचना की है,

पर उनका 'ज्ञापकादर्श' ग्रन्थ अतीव लोकप्रिय माना जाता है। आपके शिष्यों में डॉ. कृष्णानन्द झा, डॉ. अर्कनाथ चौधरी, डॉ. शिवकान्त झा आदि मुख्य हैं।

इन सब प्रमुख व्याख्याताओं किंवा आचार्यों के अतिरिक्त मिथिला में अन्य मौलिक कृतिकारों का भी अभाव नहीं रहा है। मैथिल आचार्य न केवल अपने पूर्ववर्ती रचनाकारों की रचनाओं पर व्याख्यान किये हैं, वल्कि स्वतंत्र रूप से भी ग्रन्थ निर्माण के द्वारा अपनी प्रतिभा का परिचय देते रहे हैं। कुछ ऐसी भी रचनायें हैं, जो लिखी तो गयीं एक व्याख्याग्रन्थ के रूप में, परन्तु उसके वैशिष्ट्य-विषयवस्तु और महत्त्व को देखते हुए उसे मौलिक रचना ही मान ली गयी। बटुदास के पुत्र **श्रीधरदास** (१२ वीं श.) का 'सदुक्तिकर्णामृत', **वाचस्पति** का 'शब्दनिर्णय', **रुद्रधर उपाध्याय** (१६ वीं श.) का 'वार्तिकसंग्रह', **इन्द्रदत्त उपाध्याय** (१७ वीं श.) का 'शब्दतत्त्वप्रकाश', गोकुलनाथ के चचेरे भाई और म.म. वागीश के पुत्र **गिरिधर उपाध्याय** (१७ वीं श.) का 'विभक्त्यर्थ निर्णय', **होरिल शर्मा** (१७०० ई.) की 'पूर्वपक्षावल्ली', **गोकुलनाथोपाध्याय** (१६४५-१७३५) का 'पदवाक्यरत्नाकर', **रत्नपाणि** (१८००-१८६०) कृत 'कारकवाद' एवं 'षट्कारविचार', **अकंल उपाध्याय** (१८ वीं श.) कृत 'वाक्यबोध' एवं 'शब्दविचार', **कृष्णपति** (इन्द्रपति सुत) का 'तर्ककुतूहल' आदि व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ मिथिला की मौलिक रचनायें ही तो हैं। ज़ब कि इस शृंखला में और भी कई रचनायें होती रही हैं। प्रत्येक का नामोल्लेख सहित परिगणन कर पाना भी यहाँ सहज नहीं है; फिर भी कुछ उल्लेखनीय रचनाओं को हम यहाँ उद्धृत करना उचित ही समझते हैं। किन्तु उससे पहले यह भी जान लेना अनुचित न होगा कि म.म. महाराज महेश ठाकुर के पुत्र कुमार **अच्युत ठाकुर** (१६ वीं श. का उत्तरार्द्ध) भी व्याकरण के मूर्द्धन्य विद्वान् थे, जिन्होंने अमरकोश की 'व्याख्याप्रदीप' नामक टीका में लिखा है —

> "व्याकरणकिरणजालैरच्युतमध्याह्नमार्त्तण्ड।
> अपनीयकुमतितिमिरं जगदरविन्दं विनोदयतिं॥"

बुद्धिनाथ झा कृत 'शाब्दबोधविमर्श'-'फक्किकाविमर्श'-

'सूत्रार्थविमर्श', **पं. विधाता मिश्र** विरचित 'ध्वनिविज्ञान' व 'वर्ण समाम्नाय', **पं. गंगानाथ झा 'बुझनुक'** का 'शब्द विमर्श', **डॉ. कृष्णानन्द झा** (श्याम) कृत 'शाब्दिकसिद्धान्त', 'नागेश सम्मताशक्तिः', एवं 'वृत्तिविचार', **डॉ. सतीश चन्द्र झा** का 'कात्यायनवार्तिकानामनुशीलनम्', व्याकरणकौतुकम् के सम्पादक **डॉ. भवेन्द्र झा** (लखनौर) का वैयाकरण-सिद्धान्तमञ्जूषायाः विमर्शः तथा **डॉ. उदयनाथ झा 'अशोक'** (१९५९) निर्मित 'वृत्तिविचार'-'शक्तिविचार'-'स्फोटविचार' भी व्याकरण की मौलिक प्रबन्धों में प्रमुख व उपादेय हैं, जो तत्तद्विषयों की अच्छी-खासी जानकारी देती हैं। जब कि व्याख्याओं में भी परमलघुकला (**प. शोभाकान्त जयदेव झा**, खुटवारा), परिभाषेन्दुशेखर-दुर्घटवृत्ति एवं काशिका की व्याख्याएँ (**डॉ. श्रीनारायण मिश्र**, सुखसेना), स्वरवैदिकी व्याख्या (**विश्वेश्वर झा**), हिन्दी-प्रयोगदर्पण-समासशक्तिदीपिका 'हिन्दी' (**डॉ. सदानन्द झा**, लखनौर) महत्त्व की रचनायें हैं।

यहाँ हम कुछ ऐसे आधुनिक समीक्षकों की चर्चा करना चाहेंगे, जिन्होंने अपनी समीक्षा पद्धति के द्वारा श्रमपूर्णशोध करके व्याकरणशास्त्र की विभिन्न विधाओं पर कुछ न कुछ काम किया है। इनमें प्रमुख हैं — **डॉ. हर्षनाथ मिश्र, प. माधव झा, डा. सतीश चन्द्र झा, डॉ. सुरेश्वर झा, डॉ. उदयनाथ झा 'अशोक' डॉ. सदानन्द झा** (लखनौर) आदि; जिनकी क्रमशः 'चान्द्रव्याकरण वृत्ति समीक्षा', 'शेखरसमीक्षा', 'कात्यायन वार्तिक समीक्षा', 'प्रौढ़मनोरमा समीक्षा', 'ध्वनितत्त्व समीक्षा', एवं 'बालमनोरमातत्त्वबोधिन्योः समीक्षा' प्रकाशित हैं। जब कि प्रारम्भिक संस्कृत ज्ञान के लिए प्राथमिक सोपान के निर्माताओं में मुख्य हैं — **राजा नरेन्द्र सिंह** (शब्दरूपावली), म.म. **परमेश्वर झा** (१८५६-१९२४, संस्कृतपाठ), **हरिशंकर झा** (१८७७-१९४७, शिशुतोष्णी), **रमेश झा** (१९०२-१९५७, संस्कृत व्याकरण रचना सं.व्याकरण निबन्धावली), **लक्ष्मण झा** (१९०९-१९७७, पाणिनीय व्याकरण सार), **जीवनाथ झा** (१९१०-१९७७, व्याकरण कौतुकम्), **वि.वा. तेजनाथ झा** (संस्कृत व्याकरण विनोद), **पलटू झा** (१९२०-१९७०, संस्कृतबोध), **गोविन्द मिश्र** (१९३५-शब्दसोपान), **श्यामानन्द झा** (मासत्रयेण संस्कृतम्), प्रो. **हरिमोहन**

झा (संस्कृत अनुवाद चन्द्रिका), **योगेश्वर झा** (मध्यपाणिनीयम्), **रामचन्द्र झा** (संस्कृत व्याकरण), **तृप्तिनारायण झा** (अभिनव संस्कृत पाठ-अभिनव संस्कृत व्याकरण), **जयमन्त मिश्र** (संस्कृत व्याकरणोदय-संस्कृतव्याकरणसार), **मुनीश्वर झा** (संस्कृत व्याकरण), **मधुसूदन मिश्र** (अनुप्रयुक्त संस्कृत व्याकरण), **सुरेश झा शास्त्री** (बाल संस्कृत व्याकरण-संस्कृत शिक्षासोपान-संस्कृत बोधचन्द्रिका), **कलानाथ झा** (कारक प्रकरणम्), **बालगोविन्द झा** (समाससन्दर्शिका), प. **मतिनाथ मिश्र 'मतंग'** (जमुथरि, संस्कृत व्याकरण अनुवादचन्द्रिका), **कृष्णकान्त झा** (सन्धिप्रभा), **रमेश झा** (हैंठीबाली, व्याकरण निबन्धमञ्जूषा, व्याकरणशास्त्रीय पारिभाषिक-शब्दा:), **देवकान्त झा** (अभिनव संस्कृत व्याकरण, संस्कृत व्याकरण रत्नाकर), **शशिनाथ झा** (व्याकरण प्रबन्ध, बालशिक्षासोपान), **शङ्करजी झा** (व्याकरणतत्त्व मञ्जरी), हैंठीवाली (कोठिया) के **डॉ. रमेश झा** (व्याकरणशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दसंग्रह:), **विमल ठाकुर** (संस्कृतदर्पण) आदि।

यहाँ अब कुछ वैयाकरणों के सम्बन्ध में स्थानाभाव के कारण सूत्ररूप से बताना चहते हैं। महावैयाकरण **प. शिवशङ्कर झा** (ठाढ़ी) पहले अमृतसर के राममल्ल श्यामदास पाठशाला में व्याकरण के अध्यापक थे, फिर बाद में लोहना स्थित महेश्वरलता संस्कृत विद्यापीठ के प्राचार्य बने। ये म.म. शिवकुमार मिश्र के शिष्य और पिलखवार के **म.म. चुम्बे झा** के सहपाठी थे। चुम्बे झा अपने समय के निविष्ट वैयाकरणों में गिने जाते थे, जो म.म. दुःखमोचन झा के भाई एवं विश्वविश्रुत बच्चा झा के प्रतिस्पर्धी थे। म.म. जयदेव मिश्र एवं मधुसूदन ओझा के साथ इनकी खूब पटती थी। **बच्चा झा** यद्यपि थे तो नैयायिक, पर वे राघोपुर के मूर्द्धन्य वैयाकरण **प. ऋद्धी झा** से व्याकरण भी पढ़े थे और दोनों ही शास्त्रों में उनकी अबाध गति भी थी। बेतियाराज के पुरोहित, प्रकाण्ड वैयाकरण **प. गणेशदत्त झा** काशी के म.म. दामोदर शास्त्री से व्याकरण की आद्योपान्त शिक्षा ग्रहण की थी। जब कि सौराठ के म.म. **राजनाथ मिश्र 'रज्जे'** खुद्दी झा, जयदेव मिश्र आदि वैयाकरणों के गुरु तथा अपने समय के मूर्द्धन्य और अद्वितीय शाब्दिक थे, जिनका

उल्लेख किये बिना प्रबन्ध अधूरा ही रह जाता। इसी प्रकार म. वै. शिवशङ्कर झा, हरिशङ्कर झा, रविनाथ झा, जनार्दन झा आदि के गुरु ठाढ़ी ग्रामवासी शास्त्रार्थी प. **जयलाल झा** को भी कैसे भुला सकते हैं। म.म. **जासू मिश्र** (परसरमा-भागलपुर) जैसे लब्ध कीर्त्ति वैयाकरण यदा-कदा ही जन्म लिया करते हैं, जिनकी ख्याति उन दिनों न केवल मिथिला में थी, वरन् सम्पूर्ण भारतवर्ष में भी फैली हुई थी। ऊपर जिन शिवकुमार शास्त्री (मिश्र) का नामोल्लेख किया है, उनके गुरु **दुर्गादत्त झा** को हम कैसे भूल सकते हैं, जो सुलतानगञ्ज के वासी और क्विंस कॉलेज वाराणसी के व्याकरण विभागाध्यक्ष थे। उन्हीं दिनों चिकनौटा ग्रामवासी अद्वितीय शास्त्रार्थी म. वै. **लालजी झा** और प. **किशोरी झा** इतने प्रसिद्ध थे कि इनके मित्र म.म. हरिहर कृपालु द्विवेदी दोनों ही भाइयों से न केवल प्रतिस्पर्धा करते थे, वल्कि जलते भी थे। एक वार म.म. लालजी झा का द्विवेदी जी के साथ बड़ा रोचक शास्त्रार्थ हुआ था, जिसका विषय था — "शक्तिः समासे पृथग् अस्ति न वा।" सुनते हैं उसे समाप्ति से पहले ही रोक दिया गया। अपने समय के मूर्द्धन्य वैयाकरण **छोटा मिश्र** का स्फोटवाद पर हुआ शास्त्रार्थ सुप्रसिद्ध है, उन दिनों स्फोटवाद पर कोई भी इनसे शास्त्रार्थ करने का साहस नहीं कर पाता था। प्रत्येक विद्वत्सभा में इनकी यही उद्घोषणा हुआ करती थी कि — "अष्टौ स्फोटाश्छोटामिश्रेण निरूप्यंते"। कहते हैं अथरीग्रामवासी प. **मुक्तिनाथ ठाकुर** जहाँ निपट बधिर थे[१५२], वहीं म.म. **पदार्थ मिश्र** के शिष्य परमानन्दपुर (पूर्णियाँ) निवासी म. वै. **खड्गनाथ झा** अत्यन्त प्रखर वक्ता। विष्णुपुर (अरेर) के **सुरेश मिश्र** की व्याकरण सम्बन्धी व्युत्पत्ति जहाँ श्लाघनीय होती थी; वहीं १८८५ में उत्पन्न लालगञ्ज निवासी प. जयनाथ मिश्र के सुपुत्र **यदुनाथ मिश्र** न्याय, व्याकरण और साहित्य तीनों में समान व्युत्पन्न समझे जाते थे। परन्तु दुर्भाग्य है कि ये अल्पायु हुए। इन्होंने महाभाष्यविमर्शकार प. जुडाओन झा (सखवार) से व्याकरण और प. लोकनाथ झा से न्यायदर्शन की शिक्षा ग्रहण की थी।

लालगंज निवासी माण्डरकुलभूषण पं. **हेमपति झा**, जो अपने समय में '**विकल झा**' के उपनाम से प्रसिद्ध थे और जिनके पुत्र प.

श्यामानन्द झा कई ग्रन्थों के रचयिता हुए हैं — २० वीं शताब्दी के आदि में होनेवाले वैयाकरणों में प्रमुख थे। इन्होंने 'शब्दप्रदीप' की रचना की है, जिसकी व्याख्या इनके ही पुत्र प. **तुलानन्द झा** ने की थी। इसी समय माण्डर रजौरा मूलक ठाढ़ी ग्रामनिवासी प. **रविनाथ झा** भी निविष्ट वैयाकरण थे, जो १९२६ ई. में सरिसब स्थित लक्ष्मीवती संस्कृत विद्यालय को छोड़ किसी अन्य विद्यालय में चले गये थे। इनका 'भावकौतुक' नामसे व्याकरणसूत्र-परिष्कार ग्रन्थ, गणेश परिणय तथा देवताप्रत्ययार्थ निर्णय प्रकाशित है।

इनके कनिष्ठ समसामयिक रहे लोहना ग्राम के खण्डवला मूलक प. **रमाकान्त ठाकुर** (१९२५ के आसपास) का 'प्रबन्धामृत' व्याकरणशास्त्रीय पदार्थविवेचक ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध है। जब कि इसी समय के लक्ष्मीपुर (मधुबनी) निवासी **सदानन्द झा** बैद्यनाथधाम में अध्यापन करते थे। इन्होंने परमलघुमञ्जूषा की टीका की थी, जो प्रायः आज भी अप्रकाशित ही है। परन्तु इनके कनिष्ठ समसामयिक दरिहरय रतौली मूलक काश्यपगोत्रीय पूर्वी चम्पारन के देवापुर ग्राम निवासी प. गयादत्त झा के पुत्र पण्डित **लक्ष्मण झा** (१९०९-१९७७ ई.) का पाणिनीय व्याकरणसार प्रकाशित है। जब कि नरुआर के **गुलाब झा** अपने समय के प्रकाण्ड वैयाकरण और माड़वारी कॉलेज काशी के प्रिंसिपल हुआ करते थे। न्याय और साहित्य में भी इनकी अव्याहत गति थी। नेपाल के मूर्द्धन्य वैयाकरण प. पद्मप्रसाद भट्टराई के शिष्य **काशीनाथ झा** जनकपुर स्थित संस्कृत विद्यालय के प्रधान व्याकरणाध्यापक थे, जिनके वैयाकरण मित्रों में मुख्य थे काशिका व्याख्याकार बड़ोदरा विश्वविद्यालय के आचार्य पं. **शोभित मिश्र**, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के आचार्य प. **रुद्रधर झा** एवं काशीसुमेरुपीठाधीश्वर शङ्कराचार्य **स्वामी शङ्करानन्दजी सरस्वती** आदि। बीसवीं शताब्दी के वैयाकरणों में गोसपुर निवासी म.म. **पदार्थ मिश्र** के आत्मज प. **त्रिलोकनाथ मिश्र** को भी हम भूल नहीं सकते, जो लोहनास्थ महेश्वरलता संस्कृत विद्यापीठ के वर्षों प्राचार्य रहते हुए शताधिक छात्रों को निविष्ट वैयाकरण बनाये।

सलमपुर ग्रामनिवासी प. **अर्जुन मिश्र** अपने समय के मूर्द्धन्य वैयाकरण थे। इनके शिष्य प. श्रीकान्त मिश्र के अनुसार व्याकरण की

किसी कृति पर इन्होंने कोई टीका की थी, पर इनकी कोई भी रचना उपलब्ध नहीं होती। जब कि सहरसा के चयनपुरा निवासी प. **अर्जुन झा** कृत उणादिरत्नकौमुदी प्राप्त होती है। आप संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा में व्याकरण विभाग में सम्मानित अध्यापक थे।

मुद्गलपुर (मुंगेर) स्थित महमदा ग्रामनिवासी गणपति ठाकुर के पौत्र, एकनाथ ठाकुर के पुत्र व्याकरण-काव्यतीर्थ प. **कनकलाल ठाकुर** (१९३० ई.) का अध्ययन-अध्यापन काशी में ही हुआ। ये अनेक ग्रन्थों के सम्पादक एवं व्याख्याकार हैं, इनका मौलिक ग्रन्थ फक्किकारत्नमञ्जूषा सुप्रसिद्ध है।

राँटी (मधुबनी) निवासी पं. **चन्द्रधारी सिंह** (१९००-१९८३ ई.) वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर लिखी गयी सिद्धान्तकौमुदी की चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, अमरकोश हिन्दी व्याख्या, न्यायमुक्तावली की हिन्दी व्याख्या आदि के रचयिता हैं। आपही के नाम पर दरभंगा में चन्द्रधारी मिथिला महाविद्यालय (C.M. College) स्थापित है। जबकि नरोनय पूरेमूलक गंगौली ग्रामनिवासी पं. मतिनाथ झा के पुत्र **बुद्धिनाथ झा** (१९११-१९९८ ई.) लोहना पाठशाला में अध्यापक थे। इन्होंने व्याकरण में शब्दबोधविमर्श, फक्किकाविमर्श, सूत्रार्थविमर्श, परिभाषेन्दुप्रकाश, व्युत्पत्तिवादप्रकाश (हिन्दी में) की रचना की है। पर, ये सारी रचनायें अप्रकाशित हैं।

इनके अतिरिक्त मिथिला के अन्य प्रमुख वैयाकरणों के जीवन एवं ग्रन्थ के सम्बन्ध में प्रबन्ध विस्तरभिया स्वयं कुछ भी न कहते हुए अनुसन्धित्सु विद्वानों पर ही इस दिशा में निर्भर होना चाहते हैं। परन्तु यहाँ हम कुछ उल्लेखनीय वैयाकरणों को उद्धृत भी करना चाहते हैं; यथा — चिकना विद्यालय के अध्यापक अच्युतानन्द मिश्र (बड़साम), अर्कनाथ मिश्र (लालगंज), बेलमोहन विद्यालय के अध्यापक अवधनारायण चौधरी (लखनपट्टी), आद्याचरण झा (मङरौनी), इन्द्रकान्त मिश्र (तरौनी), ऋद्धिनाथ झा (शारदापुर), कुन्दनाथ मिश्र (लालगंज), केदारनाथ झा (अथरी), केशवनाथ झा (नरुआर), कृपाकान्त ठाकुर (लोहना), खगेन्द्र झा (लखनौर), गणेशदत्त झा (बेतियाराज के पुरोहित एवं म.म. दामोदर शास्त्री के शिष्य), गेनालाल मिश्र (रामनगर, पूर्णियाँ), गौरीनाथ झा

(महरैल), रोहतास निवासी परशुराम उपाध्याय के पिता से भिन्न चन्द्रधर उपाध्याय (घनश्याम मिश्र के सहपाठी, ये 'झा' के बदले 'उपाध्याय' ही लिखा करते थे), चेतनाथ झा (नरुआर), परमशास्त्रार्थी प. छेदी झा (हथुआ महाराज के सभापण्डित), जयलाल मिश्र (ठाढ़ी), जिष्णुनाथ मिश्र (लालगंज), जीवानन्द ठाकुर (सर्वसीमा), ठक्कन झा (पाही), ताराचरण झा (मङरौनी), तेजनाथ झा (दीप), तेजनारायण झा (अवाम), दामोदर मिश्र (गजहरा), दीनानाथ झा (लगमा एवं माँउबेहट के अलग - अलग), दीर्घनारायण झा (बलौर), दुःखमोचन झा (कोइलख), देवानन्द झा (लखनौर), धनुर्धर झा (टटुआर), धर्मनाथ झा (गंगौली), नन्दलाल झा (भदोन), नरसिंह झा (पोखरौनी), नरेशचन्द्र झा (चानपुरा), नेनन झा (पिलखवार), म.म. पदार्थ मिश्र (गोसपुर), परमेश्वर मिश्र (म.म. दामोदर शास्त्री के शिष्य, ग्राम-अज्ञात), फूदन चौधरी (महिषी), बदरीनाथ मिश्र (गोसपुर), बन्धु झा (उजान), बैद्यनाथ झा (हाटी), बौआनन्द झा (श्यामा विद्या. काशी के व्याकरणाध्यापक), भवनाथ मिश्र (जमुथरि), भुवनेश्वर मिश्र (चौगमा), भैया झा (भैयाशर्मा) (राघवपुर), मतिनाथ झा (गंगौली), मथुरानाथ झा (महरैल), मधुकान्त मिश्र (रघुनाथपुर), मधुसूदन मिश्र (गजहरा), महावीर झा (महरैल एवं नरुआर के अलग- अलग), महावीर मिश्र (पाही एवं भट्टपुरा के अलग - अलग), महीश्वर झा (पाही), महेश झा (लगमा), समौल विद्यालय के अध्यापक माधव चौधरी (गन्धवारि), मुकुन्द झा (गंगौली), रघुनन्दन झा (काठियावाड़), रघुवर कुमर (कन्है), म. वै. रमाकान्त झा (सनहा), रमाकान्त ठाकुर (लोहना), रमानन्द झा (गंगौली), राजेश्वर झा (डोकहर एवं शुंभा के अलग - अलग), राधाकृष्ण झा (बराही एवं तरौनी के अलग - अलग), राधानाथ झा (धनेरामपुर), रामभद्र मिश्र (बटुरी), रामेश्वर मिश्र (गलमा), ललितनाथ झा (रुपौली), लक्ष्मीनाथ झा (नरुआर एवं विचारी-भागलपुर के अलग - अलग), लूटन झा "लुट्टी" (कोइलख), विदेश्वर झा (पाही), विलट झा (नरही), विश्वनाथ झा (ठाढ़ी), विश्वनाथ मिश्र (गोसपुर), व्रजनन्दन झा (नवानी), शशिकान्त पाठक (करियन), शिवनाथ झा (सरिसब), शिवनारायण झा (हाटी), शिवशङ्कर झा (भट्टपुरा एवं शाहपुर के अलग - अलग), शिवानन्द झा (करमौली एवं गंगौली के अलग - अलग), शिवेश्वर झा (लालगंज), शुकदेव झा (विशौल), शोभानन्द झा (बिट्ठो), शोभित मिश्र (पद्मप्रसाद भट्टराई के शिष्य, भुसकौल ग्रामवासी, बड़ौदा में रहा करते थे), श्यामानन्द झा (लालगंज एवं हैंठीवाली के अलग - अलग),

सदानन्द झा (ठाढ़ी), सुधाकर झा (पोखराम), सुन्दर झा (पिपरौली), सूर्यनारायण चौधरी (सझुआर), हरिदेव झा (कलिगाँव), हरिनारायण झा (हाटी), हरि मिश्र (पचाढ़ी), हरिवंश झा (रामभद्रपुर) तथा ईश्वरनाथ झा, उग्रानन्द झा, किशोर ठाकुर, कुलानन्द मिश्र, चित्रधर मिश्र, जनार्दन झा,जयमाधव झा, नीरस झा, महानन्द ठाकुर (राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, कलकत्ता), माधव झा, मुरलीधर झा, मोहन मिश्र, रघुनाथ झा, रामदेव मिश्र संस्कृत पाठशालाओं के निरीक्षक प. रामचन्द्र झा, संस्कृत विद्यालय, बौंसी (भागलपुर) के प्रधानाचार्य प. विष्णुदेव झा, गनौली-पहटन के प.विष्णुकान्त झा (देवघर), उनके ही अनुज प्रो. शिवकान्त झा (जयपुर), डॉ.बोधकुमार झा (मुम्बई) आदि।

मिथिलातत्त्वविमर्श (पृ. १६८) में म.म. परमेश्वर झा लिखते हैं कि "…. पूर्वमे तरौनी-हरिनगरकँ अति घनिष्ठसम्बन्ध छल। अतएव एहि दुनू गामक व्याकरणशास्त्र एहि देश में प्रसिद्धतया परिगणित होइत छल।….." (पहले तरौनी और हरिनगर ग्रामों के बीच अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध था, अतः इन दोनों ही ग्रामों का व्याकरण शास्त्र इस देश यानि मिथिला में प्रसिद्धतया परिगणित हो रहा था।) वस्तुतः इन दोनों ग्रामों की व्याकरण परम्परा प्रशंसनीय रही है। उदाहरणार्थ, यथा तरौनी के वैयाकरणों में मुख्य हैं — **गोनन झा**, **चन्द्रमणि झा**, **नरपति झा**, **पूर्णनाथ झा**, **भोलानाथ झा**, **यदुपति मिश्र**, **राघव झा**, **राधाकृष्ण झा**, **राम झा**, **विष्णुदत्त झा**, **शम्भुनाथ झा** आदि; वैसे ही हरिनगर के प्रमुख वैयाकरण हैं — **आँखी झा**, **चन्द्रदत्त झा**, **निरसन मिश्र**, **मुसली झा**, **राघव झा**, **हलधर (हल्ली) झा** आदि।

यहाँ यह स्मर्त्तव्य है कि हमारी इस अज्ञ लेखनी के द्वारा जो कुछ भी सूचना दी गयी है, वह सन्दर्भ ग्रन्थों के कारण ही सुलभ हो सका है। परन्तु इस प्रबन्ध में जिन विद्वानों का नाम या उनकी रचना आ नहीं सकी, उसमें मात्र हमारी कूपमण्डूकता और अज्ञता ही हेतु है। अतः हम उन महान् विभूतियों से, उनके परिचितों व विद्वान् पाठकों से पौनः पुन्येन क्षमा चाहते हैं तथा अन्त में भर्तृहरि के शब्दों में इतना ही कहना चाहेंगे कि महान् व्याकरणशास्त्र की यत्नपूर्वक उपासना करनी चाहिए। क्यों कि सभी विद्याओं के प्रदीपरूप में यही एक अवस्थित है और इसी से सभी विद्याएँ प्रकाशित भी होती है अर्थात् व्याकरणशास्त्र ही सभी विद्याओं का

मूल है और वैयाकरण ही प्रथम विद्वान् होते हैं —

"उपासनीयं यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत्।
प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम्।।"



१. भारतवर्ष का वृहद् इतिहास - प. भगवद्दत्त–प्रथम संस्क. संवत्-२०१७, पृ.-१-२६ ।
२. वा. रामायण - किष्किन्धा काण्ड - ३/२९ ।
३. वायुपुराण - २/४४ । ४. महाभाष्य - १/१/१ ।
५. तैत्तिरीय संहिता - ६/४/७ ।
६. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास - युधिष्ठिर मीमांसक भाग - १, तृतीय संस्क.- २०३० संवत्, पृ. - ६२ ।
७. द्रष्टव्य - अष्टाध्यायी के विभिन्न सूत्र ।
८. शतपथ ब्राह्मण - ८/३/४/१; शांखायन ब्राह्मण - ३०/८, गोपथ ब्राह्मण - १/१/२९; मनुस्मृति - ३/२३२; महाभारत - नीलकण्ठी व्याख्या - शान्तिपर्व-३२३/१०; यथा – 'नास्ति खिलं शून्यं यस्मिंस्तद् अखिलम्' आदि ।
९. म. भा. - १/१/१; निरुक्त - १/१/, १३/९ ।
१०. नापि पञ्च षड्वा गतिकर्मप्रवचनीय भेदेनेति – निरुक्त की दुर्गवृत्ति – १/१, पृ.-१० (आनन्दाश्रम संस्करण) ।
११. अष्टा.-१/४/५६ के अनुसार ।
१२. निरुक्त दुर्गवृत्ति – १/१, पृ. - १० ।
१३. कल्याण, हिन्दूसंस्कृति अंक, पृ. - २८८ ।
१४. भामती - १/१/१ ।
१५. पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्य योजना । पूर्वपक्षसमाधानं व्याख्यानं पञ्चलक्षणम् ।। भाषावृत्ति की सृष्टिधरी विवृत्ति ।
१६. सं. व्या. शा. का इति.- II – युधिष्ठिर मीमांसक, पृ.-१३ ।
१७. पारिभाषिक की भूमिका में स्वामी दयानन्द सरस्वती ।
१८. म.भा. - १/१/४८ सूत्र की व्याख्या ।
१९. वि. सं. ३१०० वर्ष पूर्व रहे शान्तनु द्वारा प्रोक्त है ।
२०. सं. व्या. शा. इति – II, ३१८ ।
२१. सं. व्या. शा. इति – II, ३२७ ।
२२. पद प्रकृतिः संहिता, पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदनि–निरुक्त - १/१७ ।

२३. सं. व्या. शा, इति – II, ३३२ । २४. काव्यमीमांसा, पृ.-५ ।

२५. का पुनः वृत्तिः ? शास्त्र प्रवृत्तिः । म.भा. १/१; संशयवत्योवृत्तयो भवन्ति – निरुक्त-२/१; तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णाग्रहणम् अनणत्वात् - म.भा. १/१ (अइउण् सूत्र भाष्य) ।

२६. विष्णुधर्मोत्तर तृतीयखण्ड, अध्याय - ४ ।

२७. अष्टाध्यायी - ७/३/९९, ८/३/२०, ८/४/६७ ।

२८. निरुक्त – १/३, १/१२, १३/३१ ।

२९. महाभा. – ६/२/२६ । ३०. व्या. शा. इति. - I - ९१ ।

३१. पिंगलाचार्य (पाणिनि के अनुज) – छन्दःशास्त्र - ७/१३ ।

३२. वररुचिकृत लिंगानुशासन की अज्ञातकर्तृकटीका का ७वाँ श्लोक ।

३३. सं.व्या.शा.इति - I - १८० । ३४. सं.व्या.शा.इति - I - ५६७ ।

३५. परिभाषावृत्ति (पुरुषोत्तमदेव) - दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य की व्याख्या, पृ.-१६-१७ ।

३६. सिष्टम ऑफ संस्कृत ग्रामर,पृ-९१ ।

३७. परिभाषा वृत्ति की पाण्डु., इण्डिया ऑफिस लण्डन, सूचीपत्र भाग - १, खण्ड - २, ग्रन्थाङ्क - ८९० ।

३८. व्याकरणदर्शनेर इति. - हॉलदार, भाग - १, पृ.-४२८ ।

३९. आड्यार पुस्त. का सूचीपत्र भाग - १ ।

४०. सं.व्या.शा.इति. II - २५० ।

४१. इण्डिया ऑफिस पुस्त., लण्डन, सूचीपत्र भाग - १, खण्ड - २, ग्रन्थाङ्क - ८९१ ।

४२. "इति पन्दिलान्वयवायदुग्धपाथोनिधि शरत्प्रकाशनिधि शाब्दिकचक्रवर्ति पद्मनाभतनयेन धर्मसूरिणा विरचिता परिभाषार्थप्रकाशिका समाप्ता ।" – वही, ग्रन्थाङ्क - ४९१, (व्याकरणविभाग) । तथा आड्यार पुस्तकालय का हस्तलेख – व्याकरण विभाग, ग्रन्थाङ्क - ४८१ ।

४३. इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, लण्डन में सुरक्षित दोनों ग्रन्थ ।

४४. व्या.शा.इति II, १६१ ।

४५. व्याकरण दर्शनेर इति. - डॉ. हालदार, पृ.-३९४, ५७९ ।

४६. स्वर्गारोहणकाव्य एवं उपसर्गसूत्र की हरदत्तीयव्याख्या की पाण्डुलिपि, प्राच्यविद्याग्रन्थालय, तिरुअनन्तपुरम् ।

४७. "चञ्चलाप्यचला लक्ष्मीर्वाणी यस्यगृहे गृहे । विषुवन्तमहं वन्दे विक्रमो यत्र भूपतिः ।। कालिदासादयोऽप्यन्ये संख्यावन्तः सहस्रशः । तेषामेको वररुचिः सर्वशास्त्र विशारदः ।। .... तत्सुतो न्यासदत्तश्च फणिभाष्यार्थतत्त्ववित् । जयादित्यस्तत्सुतो मीमांसाशास्त्रपारगः ।। ... श्रीपतिस्तत्सुतश्च सांख्यशास्त्रविशारदः । ... दामोदरस्तत्सुतश्च काव्यालङ्कारकारकः । तत्सुतः पद्मनाभोऽहं मयैवैतन्निरूप्यते ।। ...." (व्याकरणादर्श)

४८. अ. टी. स. ३/१/५ ।

४९. ग.र.म. पृ.- ४९, १५२ आदि ।
५०. ४/१/३६, २/१/६६ आदि ।
५१. व्या.शा.इ. I ५११ ।
५२. अ. टी. स. भाग-४, पृ.-३ ।
५३. व्या.शा.इ. I ५६८ ।
५४. मिथिलांक पृ. - ५४ ।
५५. भाग - १, खण्ड - २, पृ. - ९० ।
५६. अत्र जयत्त्विति, अत्र यद्यपि जयतेरनभिधानादुत्वं न भवतीति रूपावतारे दृश्यते – निर्णयसागर संस्क. पृ.- १८ ।
५७. भाग - १, पृ.- २, अंक-सित. १९४० ।
५८. मि.त.वि. (परमेश्वर झा) पृ. - ६४-६५ ।
५९. सं. व्या. शा. इ. I ५००; काशी के सरस्वती भवन संग्रह में हस्तलेख सुरक्षित – संग्रह १९ वेष्टन सं. १३ (पुराना)
६०. प. मं. भाग - १, पृ.-४ ।
६१. व्या. दर्शनेर इ. - गुरुपद हालदार, पृ. - ४९९ ।
६२. मद्रास - आड्यार - मैसूर - त्रिवेन्द्रम् के पुस्त. में स्थित ।
६३. नेपाल राज पुस्त. सूचीपत्र भाग- II, पृ. २११; मद्रासराज. हस्त. संग्रह सूची भाग- IV, खण्ड- IA, पृ.-४३०२ ग्रन्थाङ्क - २९६६ एवं कलकत्ता सं. कॉ. पुस्त. सूचीपत्र भाग- 8, ग्रन्थांक - ७४ ।
६४. विश्वेश्वरानन्द वै. शो. संस्थान होशिआरपुर, सू.प. १ पृ.-६६; भण्डारकर प्रा.शो.सं. पूना, व्याकरण विभागीय सू.प. ५५/८४ A / १८७९-८० ।
६५. म. भा. ३/२/११८ ।
६६. पृ. २९७ ।४.
६७. क. स. सा./लं. १/तरं.२/श्लो.६६-७० ।
६८. व्या. शा. इ. I २१५ ।
६९. व्या. शा. इ. I पृ.-२११-१४ ।
७०. म. भा. पश्पशाह्निक ।
७१. व्या. शा. इ. I १८६ ।
७२. वृद्धस्य पूजायाम् - १/४/१६३ ।
७३. म. भा. १/१/७३ ।
७४. २/४/२ की व्याख्याओं में न्यासकार एवं जैन शाकटायन ।
७५. परिमाण ग्रहणञ्च - म. भा. १/३/१ ।
७६. Prof. V.N. Jha, A Glimpse of the History of Sanskrit Gramer, P.-178.

७७. मद्रास राज. हस्त. पुस्त. सूचीपत्र - १८८०, पृ.-३४२ ।

७८. वि.वै.शो.सं. होशिआरपुर पुस्त. सूचीपत्र भाग - 2, पृ.-४२१-२२, ग्रन्थांक - ५६०८ ।

७९. ७/१/१८ पृ.-६३१ ।

८०. MM II - 75 ।

८१. वररुचेरुपसर्ग सूत्रम् नि निश्चय निषेधयो: - मधुकोष व्या., निर्णयसागर, पृ.-५ ।

८२. इति श्रीमद्वररुचिमुनिकृतिरुभयसारिका नाम भाण: समाप्त: ।

८३. NCC Vol. I P-297 ।

८४. काव्यप्रकाश भूमिका, मोतीलाल १९८० ।

८५. न्यास की प्रस्तावना पृ.-१६-१७; सं.व्या.शा.इ. I, ४२८-२९ ।

८६. "तत्सुतो न्यासदत्तश्च फणिभाष्यार्थतत्त्ववित् । जयादित्यस्तत्सुतो मीमांसाशास्त्र पारग: ।।" – व्याकरणादर्श ।

८७. मिथिलांक - पृ.-२३ ।

८८. मि.त.वि. पृ.-५७ ।

८९. मैथिली अंश का अनुवाद - मि.त.वि. पृ.-५७-५८ ।

९०. मिथिलांक पृ.-२३ ।

९१. मि.भा.इ. पृ.-२७०; जै. शाबरभाष्य III, ८-१५ ।

९२. मिथिलांक, पृ.-६ (म.म. बालकृष्ण मिश्र का लेख) ।

९३. राजतरंगिणी ।

९४. माधवीय शंकर दिग्विजय ।

९५. व्या. शा. इ. I ३६२-६४, II ४११-४१२ ।

९६. "यदाब्दानां कलेर्जग्मु: सप्तत्रिंशच्छतानि वै । चत्वारिंशत् समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ।।" (शतपथ ब्रा., हरिस्वामीकृत भाष्य, प्रथम काण्ड) ।

९७. स. वा. का. वृ. इ - IX - 395 ।

९८. मिथिलांक पृ.- ९० ।

९९. सं. सा. इ. - ए. बी. कीथ - हिन्दी अनुवाद, पृ.- ४९० ।

१००. सं. व्या. शा. इ. II ७८, इसी पुस्तक के पृ.-४५१-५२ पर वि.सं. ९७५-१०५० माना गया है ।

१०१. सं. व्या. शा. इ. II ४५२ ।

१०२. १/१०, ४/१४ ।

१०३. मृ.सं. ७/३३ ।

१०४. मृ.सं. ७/३३ ।

१०५. मृ.सं. ६/१० ।

१०६. मृ.सं. ८/१४ ।

१०७. मृ.सं. ५/२४ ।

१०८. १९२७ में त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित ।

१०९. न्यास - १/१/५, पदमञ्जरी - १/१/६ ।

११०. पदमञ्जरी, श्लो. ४ ।

१११. काशिका की भूमिका, पृ.-९० ।

११२. "प्रणिपत्य महादेवं हरदत्तेन धीमता । धर्माख्यप्रश्नयोरेषा क्रियते वृत्तिरुज्ज्वला ।।"

११३. राज. हस्त. पुस्त. मद्रास, सरस्वतीमहल पुस्त, तंजावुर, लालचन्द पुस्त. लाहौर (वि.वै.शो.सं.होशिआरपुर) में स्थित ।

११४. हरदत्तानुवादी राममिश्रो – माधवीय धातुवृत्ति पृ.-५० ।

११५. "यं गणयन्ति गुरोरनु यस्यास्ते धर्मकर्म संकुचितम् ।
कविमहमुशनसमिव तं तातं नीलाम्बरं वन्दे ।। आ. श. ।

११६. "उदयन बलभद्राभ्यां सप्तशती शिष्यसोदराभ्यां मे ।
द्यौरिव रविचन्द्राभ्यां प्रकाशिता निर्मलीकृत्य ।। आ. श. ।विश्वेश्वरानन्द वै. शो. संस्थान होशिआरपुर, सू.प. १ पृ.-६६; भण्डारकर प्रा.शो.सं. पूना, व्याकरण विभागीय सू.प. ५५/८४ A /१८७९-८० ।

११७. "गोवर्द्धनश्च शरणो जयदेव उमापति ।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च ।। (शिलालेख)
वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः ।
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्य गोवर्द्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरः धोयीकविक्ष्मापतिः ।। (गीतगोविन्द)

११८. वैदिक वाङ्मय का इतिहास - पृ.-१०५ ।

११९. सं.सा.इ. - हिन्दी अनुवाद, पृ.-२३० ।

१२०. सं. व्या. शा. इ. II, २०५ ।

१२१. उपगोवर्द्धनं वैयाकरणाः - भा.वृ. - १/४/८७ ।

१२२. अमर सर्वस्वटीका - १/४/२१; व्या.शा.इ. II, २७७ ।

१२३. तत्रैव पारायण परायणैर्गोवर्द्धन दामोदर पुरुषोत्तमादिभिः विदिभुजिभ्यां विश्वे इति वृत्तिं पठित्वा विश्वं वेत्ति विश्वे वेदाः इति ...... । अमर टीका. हस्त. पृ.-१८ ।

१२४. कुसुमाञ्जलि, किरणावली, लक्षणावली आदि के प्रणेता ।

१२५. "तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकाब्दतः । वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम् ।।
(लक्षणावली, तर्क = ६, अम्बर = ०, अङ्क = ९ = ९०६, शा. = ९८४ ई. ।)

१२६.. मि.त.वि. पृ.-६४ ।

१२७. "उदयनबलभद्राभ्यां सप्तशती शिष्यसोदराभ्यां मे ।
द्यौरिव रविचन्द्राभ्यां प्रकाशिता निर्मलीकृत्य ।।" (आ. सप्तशती) ।

१२८. मि.त.वि. पृ.-६५-६६; व्या.शा.इ. I, ५०१ ।

१२९. जम्मूतवी, सूचीपत्र - ४५ ।

१३०. मि.त.वि. पृ.-९२; छादनसं तत्त्वचिन्तामणिकारक म.म. परमगुरु गंगेश्वर: - पंजीप्रबन्ध ।
१३१. "श्री बिल्वपञ्चान्वयसम्भवेन श्रीमद्भवेशस्य तनूद्भवेन् ।
श्रीवर्धमानेन विदेहभर्तु: कृतेकृतो दण्डविधौ विवेक: ।।" (दण्डविवेक का अन्तिम श्लोक)
जातो वंशे बिल्वपंचाभिधाने धर्माध्यक्षो वर्धमानो भवेशात् ।
देवस्याग्रे देवयष्टिध्वजाग्रा रूढ़ं कृत्वाऽस्थापयद्वैनतेयम् ।। (तडागामृतलता, शिलास्तम्भ)।
१३२. मि. त. वि. पृ.-६८-६९ ।
१३३. सरस्वतीमहल पुस्त. तंजावुर, पाण्डुलिपि - २/५/८३२ ।
१३४. पंक्ति लेखक के सम्पादन में प्रकाश्यमान ।
१३५. जॅर्नल ऑफ गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, १९८७ ।
१३६. परिभाषावृत्ति (पुरुषोत्तमदेव) - सम्पा. - दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य, भूमिका पृ.-१६; इसकी पाण्डुलिपि रघुनाथ पुस्तकालय, जम्मू में बतायी जाती है ।
१३७. वही, तथा सं. व्या. शा. इ. I, ५१० ।
१३८. श्री अमरअर्चना, दरभंगा, २००१ ई., पृ.-३२५ ।
१३९. मि. त. वि. पृ.-१३२ ।
१४०. आड्यार पुस्त. सूचीपत्र भाग - I ।
१४१. व्या. दर्शनेर इ. I, ४२८ ।
१४२. परिभाषा वृत्ति, सम्पा.-दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य, भूमिका पृ.-१६-१७, व्या.शा.इ. I, ५१२ ।
१४३. प्रौ. म. खण्डन - काशी संस्करण, पृ.-४७ ।
१४४. प्रौ. म. खण्डन - काशी संस्करण, पृ.-२० ।
१४५. प्रौ. म. खण्डन के आदि में ।
१४६. इण्डिया ऑफिस लण्डन, हस्तलेख, सूची - २/९२/७२८ ।
१४७. भ. प्रा. वि. प्रतिष्ठान, व्याकरण सूची सं. - १४९-१५० ।
१४८. पण्डित परिक्रमा, पृ.- १९१ ।
१४९. JGNJKV. Allahabad, Vol. XLiii, 1987 ।
१५०. राज. पुस्त. कलकत्ता; दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य सम्पादित पुरुषोत्तमदेव कृत परिभाषावृत्ति की भूमिका, पृ.-१८ ।
१५१. प. राजेन्द्रलाल सम्पादित हस्तलेख सूचीपत्र - ६/१५०/२०८३ ।
१५२. मिथिलांक पृ.- १२६ ।

चतुर्थ पीठिका

छन्दःशास्त्रीय मैथिल आचार्य

छन्दः शास्त्र के प्राचीन आचार्यों में **महर्षि कात्यायन** का नाम कदापि विस्मरणीय नहीं है, जिनका उल्लेख आचार्य अभिनवगुप्त ने यह कहकर किया है कि "यथोक्तं कात्यायनेन –

"वीरस्य भुजदण्डानां वर्णने स्रग्धरा भवेत्।
नायिकावर्णने कार्यं वसन्ततिलकादिकम्।।
शार्दूललीला प्राच्येषु मन्दाक्रान्ता च दक्षिणे।....."

महर्षि कात्यायन, शुक्लयजुः श्रौतसूत्रकार एवं प्रातिशाख्यकार कात्यायन से भिन्न नहीं हैं, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

नवम-दशम शताब्दी के मध्य स्थित रहे वैयाकरण **हलायुध शर्मा** छन्दःशास्त्र में भी नवीन नहीं हैं। इन्होंने आचार्य पिंगल कृत छन्दः शास्त्र किं वा छन्दःसूत्र की 'मृतसंजीवनी' नामक व्याख्या (वृत्ति) की रचना की है। इसके अन्त में आप लिखते हैं –

"पिङ्गलाचार्य रचते छन्दःशास्त्रे हलायुधः।
मृतसञ्जीवनीं नाम वृत्तिं निर्मितवानिमाम्।।"[१]

दीर्घघोष (दिघवय) मूलक म.म. **रविकर मिश्र** छन्दःशास्त्र के मूर्द्धन्य विद्वानों में गिने जाते थे। इन्होंने १३ वीं श. में वृत्तरत्नावली नामक एक मौलिक छन्दो ग्रन्थ की तथा प्राकृतपिङ्गलसूत्र पर पिङ्गलसारविकासिनी की रचना की है। अपनी व्याख्या में इन्होंने लिखा है – "दीर्घघोषकुलदेवदीर्घिका पङ्कजं रविकरो व्यराजत।
ईर्षयेव दुहितुः पयोनिधेर्यत्र वासमकरोत्सरस्वती।।"

इसी मूल के एक और आचार्य ने अपनी मौलिक कृति से १४ वीं श. में छन्दःशास्त्र को श्रीसम्पन्न किया है। म.म. रविकर मिश्र के वंशज प. अनिल मिश्र के पुत्र **दामोदर मिश्र** ने वाणीभूषण[२] नामक छन्दो ग्रन्थ बनाया। रचयिता मिथिलेश राजा कीर्त्तिसिंह (१४०२-१४१० ई.) का राजपण्डित था, जिसने अपने वाणीभूषण में कहा है – "कीर्त्तिसिंह

नृपजीव यावदमृतद्युतितरणी ......" ।[३] इन्होंने अपना परिचय यों दिया है कि – "दीर्घघोषकुलोद्भूत दामोदर इतिश्रुतः"[४] तथा ग्रन्थ की पुष्पिका में यथा – "इति मैथिलदीर्घघोषकुलोद्भूत-दामोदरमिश्रविरचितवाणीभूषणं समाप्तम्" । इन्होंने वाणीभूषण के अतिरिक्त किरातार्जुनीय की व्याख्या[५], कंसवधनाटक[६] तथा हनुमन्नाटक या महानाटक आदि की भी रचना की। इन्होंने महानाटक में लिखा है कि –

"रचितमनिलपुत्रेणाथ वाल्मीकिनाब्धौ,
निहितममृतबुद्ध्या प्राङ्महानाटकं तत्।
सुमतिनृपति भोजोनोद्धृतं तत्क्रमेण,
ग्रथितमवतु विश्वं मिश्रदामोदरेण ॥"

इन्हीं दामोदर मिश्र के पुत्र पद्मनाभ मिश्र ने छन्दःशास्त्र में छन्दोरत्न[७] नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की है, जिसकी चर्चा प. त्रिलोकनाथ झा ने की है।

१४ वीं अथवा १५ वीं श. में स्थित रहे, अभिज्ञानशाकुन्तलकार से भिन्न **कालिदास मिश्र** ने भी अनेकों ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें शृंगारसार[८], शृंगारतिलक[९], ऋतुसंहार, चण्डिकादण्डक स्तोत्र[१०], गङ्गाष्टक, मङ्गलाष्टक, लघुस्तोत्र किं वा लघुस्तव, भ्रमराष्टक[११], अम्बास्तव, कालीस्तोत्र आदि लघुकृतियाँ मुख्य हैं। छन्दःशास्त्र में भी इन्होंने श्रुतबोध एवं वृत्तरत्नावली की रचना की है। एम्. कृष्णमाचारियार[१२] ने 'मैथिल कालिदास मिश्र' कृत एक ही छन्दोग्रन्थ 'श्रुतबोध'[१३] का उल्लेख किया है, जिस पर गोविन्दसुत **माधव मिश्र**, **मनोहर मिश्र**, **लक्ष्मीनारायण मिश्र** एवं **हर्षकीर्त्ति उपाध्याय** जैसे कई मैथिलों ने व्याख्या की हैं। १८ वीं श. के कालिदास मिश्र इनसे भिन्न और अर्वाचीन हैं, जो म.म. मुरलीधर मिश्र के पितामह थे।

पाली (पलिवार) मूल की मङरौनाशाखा में नवकविशेखर यशोधर नामक आचार्य के पुत्र थे **रमापति उपाध्याय**, जिनका समय १५ वीं श. निर्धारित है। इन्होंने छन्दःशास्त्र में 'वृत्तसार'[१४] की रचना कर स्वयं ही उस पर एक टीका भी लिखी थी, जिसका नाम 'वृत्तसारालोक' है। राघवकीर्त्तिशतक काव्यकार रमापति मिश्र एवं काशीनाथ शास्त्री के

शिष्य मुम्बई के संस्कृत विद्यालय में प्रधानाचार्य रहे **रमापति मिश्र** ने भी छन्दःशास्त्र पर किसी ग्रन्थ की रचना की थी अथवा किसी छन्दोग्रन्थ की व्याख्या की थी, पर वह उपलब्ध नहीं है।

१५७४ ई. में **हरिदास मिश्र** नामक अज्ञात परिचय आचार्य ने वृत्तमुक्तावली[१५] की रचना की। जब कि इसी समय के आसपास कुछ आगे या पीछे, किन्तु १६ वीं श. में ताराचन्द्रोदय[१६] आदि महाकाव्यों के रचयिता **बैद्यनाथ उपाध्याय** ने छन्दश्शास्त्र में वृत्तवार्त्तिक की रचना की थी। इसी वृत्तवार्त्तिक के नामसे दो और रचना मिथिला में हुई, जिसके रचयिता हैं क्रमशः **उमापति** और **विद्यानाथ**। परन्तु ये दोनों भवदेव ठाकुर के शिष्य बैद्यनाथ उपाध्याय से अर्वाचीन थे। इसी प्रकार १६ वीं श. के पश्चात् हुए **दुर्गादत्त मिश्र** की 'वृत्तमुक्तावली'[१७] की मातृका दरभंगा स्थित मिथिला शोध संस्थान के पुस्तकालय में सुरक्षित है, जिसकी संख्या ४८१३ है। इन्होंने ही वृत्तरत्नावली नामसे एक दूसरी रचना भी की थी, जिसका उल्लेख आफ्रेक्ट ने किया है।[१८] परन्तु कुछ लोग वृत्तरत्नावलीकार को वृत्तमुक्तावलीकार से भिन्न मानते हुए लिखते हैं कि वृत्तरत्नावलीकार **दुर्गादत्त झा** सुलतानगंज के पास किसी गाँव के वासी और क्वीन्स कॉलेज वाराणसी में व्याकरण के मुख्याध्यापक थे। म.म. शिवकुमार शास्त्री (प. कमलापति त्रिपाठी के मातामह) आपही के शिष्य थे।

पिङ्गल छन्दःसूत्र पर 'पिङ्गलतंरगिणी'[१९] नामक व्याख्या के रचयिता **हरिहर उपाध्याय** का परिचय ज्ञात नहीं है, पर व्याख्या की रचना १५६० ई. में होने से उनका समय अवश्य निर्धारित हो जाता है। कुछ इसी समय में हुए नाटककार हरिहर को ही कुछ लोग पिङ्गलतरंगिणीकार मानते हैं, यदि यह सच है तो हरिहर, कर्माहावंशीय राघव उपाध्याय के पुत्र सिद्ध होंगे। यह सही है कि राघव के ज्येष्ठ पुत्र **वंशीधर झा** ने भी पिंगलछन्दःसूत्र पर किसी 'पिंगलप्रकाश' नामक टीका की रचना की थी, जिसका रचनाकाल १५९९ सं. रहा है। वंशीधर उपाध्याय की छन्दोमञ्जरी (गंगादास कृत) व्याख्या भी कही जाती है, जब कि इन्होंने काव्यशास्त्र में एक रसमञ्जरी की भी रचना की थी। इनके पिता **राघव उपाध्याय**

स्वयं एक छन्दःशास्त्री थे, जिनके 'छन्दःकल्पतरु' ग्रन्थ की चर्चा अनेक विद्वान् करते हैं।[२०] न जाने तरौनी ग्रामवासी म.म. प. परमेश्वर झा के पूर्वज **राघव झा** कृत छन्दःकल्पतरु[२१] से यह भिन्न है अथवा भ्रमवश उस रचना को इनके नाम से जोड़ दिया गया है।

१६ वीं श. के उत्तरार्द्ध में ही हुए कर्णकायस्थ-विभूषण आयुर्वेद के निष्णात वैद्य गोपालदास के पुत्र **गङ्गादास** ने छन्दःशास्त्र में एक मौलिक ग्रन्थ 'छन्दोमञ्जरी' की रचना की। वृत्तमुक्तावली नामसे एक और छन्दोग्रन्थ की इन्होंने रचना की थी, जो आज उपलब्ध नहीं है। इनके पिता का नाम वैद्य गोपाल दास तथा माता का नाम सन्तोषा देवी था। जैसा कि छन्दोमञ्जरी के मंगलाचरण में कहा गया है —

"देवं प्रणम्य गोपालं वैद्यगोपालदासजः।
सन्तोषातनयश्छन्दो गङ्गादासस्तनोत्यदः॥"

गङ्गादास धार्मिक दृष्ट्या श्रीकृष्ण के भक्त थे, वैष्णव थे। इन्होंने अच्युतचरित और गोपालचरित नामक दो महाकाव्य, कृष्णशतक और दो सूर्यशतक भी बनाया। अपनी छन्दोमञ्जरी की पुष्पिका में इन्होंने लिखा भी है कि उन्होंने (गङ्गादास ने) नवीन अर्थ एवं सुन्दरभावों से युक्त कवियों को आह्लादित करनेवाला १६ सर्गों में अच्युतचरित महाकाव्य, कृष्णशतक तथा दो सूर्यशतक (अथवा कृष्णशतक एवं सूर्यशतक नामक दो शतक) बनाया, उसी महाकवि की यह छन्दोमञ्जरी रचना विद्वानों के कर्णभूषण (कुण्डल) बनें —

"सर्गैः षोडशभिः समुज्ज्वलपदैर्नव्यार्थभव्याशयै-
र्येनाकारि तदच्युतस्य चरितं काव्यं कविप्रीतिदम्।
कंसारेः शतकं दिनेशशतकद्वन्द्वञ्च तस्यास्त्वसौ
गङ्गादासकवेः श्रुतौ कुतुकिनां सच्छन्दसां मञ्जरी॥"

१६८४ ई. में रचित वृत्तरत्नाकर की 'आदर्श व्याख्या'[२२] में छन्दोगोविन्द, छन्दोविच्छित्ति, छन्दोमञ्जरी, छन्दोमातङ्ग, छन्दोमार्त्तण्ड, छन्दोमाला, वृत्तकौमुदी तथा लक्ष्मीधर विरचित पिङ्गलाटीका के नाम निर्देश हुए हैं। लगता है ये सारी रचनाएँ विभिन्न समय में प्रणीत किसी

न किसी मैथिल की ही कृतियाँ हैं; पर इनमें अधिकांश के अनुपलब्ध होने के कारण निश्चित भाव से कुछ भी कहा नहीं जा सकता। परन्तु उपर्युक्त 'आदर्श' में व्याख्याकार '**दिवाकर**' स्वयं को 'मैथिलभूसुर' बताते हैं।[२३]

दिगम्बर ठाकुर प्रणीत वृत्तरहस्य यद्यपि उपलब्ध नहीं है, पर इन्होंने स्वयं उसका उल्लेख अपनी 'विरुदावली' नामक रचना में किया है। जब कि **रघुनाथ उपाध्याय** की 'वृत्तसिद्धान्तमञ्जरी' एवं केदारभट्टकृत 'वृत्तरत्नाकर' की व्याख्या का उल्लेख कई इतिहासकारों ने किया है। आचार्य **प्रीतिकर** का 'काव्यजीवनम्' हो या फिर **नरहरि** का छन्दःसुन्दरम्- इनका भी उल्लेख एवं उद्धरण बहुत्र प्राप्त होते हैं, पर मातृका उपलब्ध नहीं होती।

१८ वीं श. के म.म. **गोकुलनाथ उपाध्याय** मिथिला की ऐसी विभूति हैं, जिन्होंने संस्कृत वाङ्मय की प्रायः सभी विधाओं में अपनी लेखनी चलायी है। मूलतः दार्शनिक, मङ्गरौनी ग्रामवासी इस आचार्य नेछन्दःशास्त्र में भी 'वृत्ततरंगिणी' एवं 'एकावली' की रचना कर इस विधा और वेदाङ्ग को समृद्ध करने में बहुत बड़ा योगदान दिया है। इनके ये दोनों ही ग्रन्थ प्रकाशित व उपलब्ध हैं।

बलियासय नरसाम मूलक महोपाध्याय धीरमिश्र के पुत्र म.म. **भीष्म मिश्र** (१८ वीं श.) का 'वृत्तदर्पण'[२४], कवीन्द्र प. **जानकीनन्दन** का 'वृत्तदर्पण'[२५], म.म. **केशव उपाध्याय** का 'छन्दःसिद्धान्तभास्कर', **बदरीनाथ** का 'वृत्तप्रदीप', म.म. **मधुसूदन मिश्र** का 'मात्रावृत्त'[२६], म.म. **चिरञ्जीव शर्मा** की 'वृत्तरत्नावली', म.म. **गंगाधर** का 'वृत्तदर्पण', टभका ग्रामवासी (जि. समस्तीपुर) १९ वीं श. के पण्डित **वसन्त मिश्र** की 'छन्दोलता', इसी समय के खनाल-सुखेत मूलक म.म. दीनबन्धु झा उपाख्य नेनन झा के पुत्र म.म. प. **बबुजन झा** का 'छन्दःसुधाकर' तथा 'विलोमकाव्य'[२७] एवं 'चन्द्रशेखरचरित' के कर्ता अज्ञातकालिक **दुःखभञ्जन कवि** का 'वाग्वल्लभ' आदि जहाँ छन्दःशास्त्र की मौलिक रचनाएँ रही हैं, वहीं **चतुर्भुज मिश्र** की वृत्तरत्नावली व्याख्या, **गोवर्द्धन झा** की छन्दोमञ्जरी (गंगादास) व्याख्या तथा विद्यानन्द मिश्र की पिङ्गलछन्दःसूत्र

की विद्वन्मनोरमा व्याख्या[२८] मिथिला के छन्दःशास्त्रीय व्याख्याओं में प्रमुख मानी जाती हैं।



१. इनका परिचय व्याकरणवाले अंश में द्रष्टव्य है ।
२. काव्यमाला - ५३, निर्णयसागर, मुम्बई ।
३. वाणीभूषण, पृ.-१३, पद्य-८२ ।
४. मंगलाचरण, पृ.-१, श्लो-४ ।
५. L-2936 ।
६. CC I 77।
७. JASB 1915, पृ.- ३८८ ।
८. Opp. II - 6614 ।
९. CC I - 660 ।
१०. CC I - 99 ।
११. CAL II - 8 ।
१२. HCSL. Index, P.-946 ।
१३. MM II - 216 .
१४. MM II - 24 ।
१५. CC I - 142 ।
१६. CC I - 229 ।
१७. MM II - 19, IO II 3011 ।
१८. CC I - 191 ।
१९. बिहार रिसर्च सोसाइटी, ग्र. क्र. - ६ ।
२०. आनन्दमन्दाकिनी पृ.-२३, अलंकार समुद्ग की भूमिका पृ.- ३० ।
२१. CMSKS, P.-140 ।
२२. इण्डिया ऑफिस लण्डन के हस्तलेखागार में सुरक्षित ।
२३. स्टडीज इन इण्डयन लिटररी हिष्ट्री, ले- गोडे , भाग - १, पृ.-४६४ ।
२४. MM II-18, मिथिला विद्यापीठ दरभंगा में मातृका सं. ३७२१ ।
२५. MM II-18 मिथिला विद्यापीठ दरभंगा में मातृका सं. ५०३३ ।
२६. MM II-9 ।
२७. MM II-158 ।
२८. MM II-15 ।

पञ्चम पीठिका

ज्योतिष में मिथिला का अवदान

मिथिला में ज्योतिषशास्त्र का प्रचार-प्रसार वैदिक काल से ही होता रहा है, ग्रन्थ रचनाएँ भी यहाँ आदि काल से लेकर निरवच्छिन्न रूप से आज तक होती चली आ रही हैं। इसी क्रम में १२ वीं श. में स्थित रहे मिथिला के नान्यवंशीय महाराज नरसिंहदेव (११३९ ई.) के सभासद **चण्डेश्वराचार्य** ने सूर्यसिद्धान्त पर एक अत्युत्तम भाष्य की रचना की थी। इनका यह भाष्य नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है, जिसकी पुष्पिका में लिखा है — "इति मैथिलवाजपेयसोमयाजिश्रीचण्डेश्वराचार्यविरचिते सूर्यसिद्धान्तभाष्ये पञ्चमोध्यायः। ल.सं. ३९२ फाल्गुन शुदि ७ चन्द्रे रत्नपुरनगरे श्रीकान्हूशर्म्मणा लिखितैषा पुस्तीति"[१]। अर्थात् इनके भाष्य की प्रतिलिपि रत्नपुरग्राम निवासी श्रीकान्हू शर्मा ने ल.सं. ३९२ (१५०१ ई.) में की थी। कहा जाता है कि चण्डेश्वराचार्य धर्मशास्त्र में भी प्रमाणस्वरूप उद्धृत किये गये हैं, पर मुझे लगता है कि वे इनसे भिन्न और अर्वाचीन रहे होंगे।

चण्डेश्वराचार्य के कुछ ही दिनों बाद आते हैं **भीम शर्मा**, जो १२ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रामसिंहदेव (११९१ ई.) के सभासद थे और जिन्होंने अपने आश्रयदाता के आदेश पर 'भीमपराक्रम' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। लगभग इसी समय, किन्तु परवर्ती काल में आचार्य **जीवेश्वर** नामके एक उत्कृष्ट दैवज्ञ हुए हैं, जिनका 'रत्नशतक' नामक ग्रन्थ ज्योतिष के रत्नविषयक विधा की अपूर्व रचना मानी जाती है। १४ वीं शताब्दी के आदि में सुप्रसिद्ध धर्मशास्त्री महामहत्तक (महथा) आचार्य **चण्डेश्वर ठाकुर** की कीर्त्तिध्वजा न केवल धर्मशास्त्र में फैली, वरन् ज्योतिर्विज्ञान में भी उनकी कोई सानी न थी। ये महाराज हरिसिंहदेव (१२९५-१३२६ ई.) के मंत्री तथा महामहत्तक वीरेश्वर ठाकुर के पुत्र थे। ज्योतिष में इनका 'कृत्य चिन्तामणि' ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध रहा है। जब कि ४ वीं शताब्दी में स्थित रहे **मकरन्द उपाध्याय** ने पंचाङ्ग निर्माण कापद्धति को जन्म दिया, जो 'मकरन्दसारिणी' के नामसे आज भी

प्रचलित और महत्त्वपूर्ण है। इनके इसी ग्रन्थ के आधार पर आज तक मिथिला में पंचाङ्ग निर्माण होता आ रहा है।

१५ वीं शताब्दी के मैथिल दैवज्ञों में जहाँ भूमिभ्रमणकार **गणपति**, प्रश्नकौमुदीकार **विभाकर** (द्वैतविवेककार धर्मशास्त्री विभाकर से भिन्न) तथा मुकुन्दविजयकार **परमानन्द मिश्र** उपाख्य **परममिश्र** विशेष उल्लेखनीय हैं; वहीं १६ वीं शताब्दी के **रघुनाथ शर्मा**, **महेश ठाकुर**, **शुभंकर ठाकुर**, **सुधाकर उपाध्याय**, **मोहन मिश्र** आदि चर्चित रहे हैं। इनमें **रघुनाथ शर्मा** 'मणिप्रदीप' नामक करणग्रन्थ के निर्माता तथा मीमांसक सोमभट्ट के पुत्र थे और सोमभट्ट थे मीमांसक इन्द्रपति उपाध्याय के गुरु। जैसा कि मणिप्रदीप की मातृका में लिखा है, उसकी रचना शक सं. १४८७ (१५६५ ई.) में हुई थी। महाराज मिथिलेश म.म. **महेश ठाकुर**, यद्यपि थे तो मूलतः दार्शनिक एवं धर्मशास्त्री, पर उनकी साहित्य एवं ज्यौतिष में भी गहन रुचि थी। अतीचारादिनिर्णय में इन्होंने जो रविमण्डल-प्रमाणहेतु पर विचार किया है, वह इनके विलक्षण ज्योतिष ज्ञान का ही परिचायक है। इनके पुत्र एवं पलिवार हाटी मूलक रघुपतिसुत रत्नपति के दौहित्र म.म. **शुभंकर ठाकुर** भी इन्हींकी तरह एक अच्छे ज्यौतिषी थे। सन् १५८१ ई. में इनका राज्यारोहण और १६१७ ई. में स्वर्गारोहण हुआ था। ये जितने बड़े ज्यौतिषी और विद्वान् थे, उससे थोड़ा भी कम राजनीति कुशल और कूटनीतिज्ञ नहीं। दरभंगा में 'शुभंकरपुर' मुहल्ला एवं उजान ग्राम में शुभंकरी-पुष्परिणी इनके ही नाम पर हैं। इनकी रचनाओं में तिथि निर्णय, श्रीहस्त मुक्तावली आदि मुख्य हैं। इनकी प्रशंसा में किसी ने सही ही लिखा है कि —

"कलयति करकमले करवालमपैति विभूषणमरिमहिलायाः।
कवयति भवति भवति भवभूतिरभूतिरसौ वचसोऽपि कलायाः।।
वितरति वसु वसुधासुरसद्मनि लसति कला सकला कमलायाः।
त्वयि शुभमस्तु शुभङ्करठक्कुर, भवसि विभूषणमिह मिथिलायाः।।"[२]

म.म. **सुधाकर उपाध्याय**, न्याय, व्याकरण एवं ज्योतिष, तीनों ही विषयों के पारगामी विद्वान् थे। खौआड़य मूलक महामहोपाध्यायजी की

'रत्नावली'[३] आज अनुपलब्ध-सी हो गयी है। जब कि सिद्धान्त शिरोमणि (द्वितीय) के रचयिता **मोहन मिश्र**, राधानयनद्विशतीकार मोहन मिश्र से भिन्न एवं प्राचीन हैं। नाह्निदत्तकृत पञ्चविंशतिका के व्याख्याकार म.म. **लक्ष्मीकर उपाध्याय**, खौआलवंशीय काश्यपगोत्रीय पं. रत्नपाणि के पौत्र, जयादित्य के पुत्र तथा म.म. गयादत्त एवं देवादित्य के भातृज थे।

१६ वीं शताब्दी में विद्यमान रहे **बलभद्र मिश्र** ज्योतिष के एक अच्छे ज्ञाता एवं आचार्य थे, जिनकी कोई रचना तो प्राप्त नहीं होती, पर एक आचार्य के रूप में उनके मत का उल्लेख अवश्य मिलता है। आपके परिचय को लेकर निश्चय ही कुछ मतभेद पाया जाता है, क्यों कि आपही के नामके दो व्यक्ति मिथिला में, एक ही समय में हुए हैं। एक थे तर्कभाषाकार केशव मिश्र के शिष्य, तर्कभाषा के ही व्याख्याकार दार्शनिक गोवर्द्धन मिश्र के पिता तथा दूसरे थे केशव मिश्र के ही शिष्य शुभकर्मनिर्णयकार म.म. मुरारि मिश्र के अग्रज, सोदरपुर मूलक रतिपति मिश्र के पुत्र। परन्तु इनके कनिष्ठ समसामयिक रहे अद्भुतदर्पणकार **माधव उपाध्याय** बुधवाल वंशीय भवानीनाथ के पौत्र एवं म.म. रघुनाथ के पुत्र थे, परन्तु रत्नकलापकार **विष्णुदेव** का परिचय अज्ञात है।

ज्योतिष में प्रश्नभैरव के रचयिता **नारायण दास** का समय भी १७ वीं शताब्दी निर्धारित होता है, जिनके पिता ज्योतिर्विद् **ब्रह्मदास** साहित्य में ही अधिक प्रसिद्धि अर्जित किये हैं। जब कि १८ वीं श. में मंगरौनी ग्रामवासी **मचल उपाध्याय** बहुत बड़े ज्योतिषी हुए हैं। ये बुधवाल गंगौरा मूलक म.म. राम झा के पुत्र और वंशधर झा के दौहित्र थे। इनसे दो भाई बड़े थे, अचल उपाध्याय एवं सचल उपाध्याय। इन्हें कोई १६ वीं शताब्दी का[४] तो कोई १८ वीं शताब्दी का[५] मानते हैं, पर सचल उपाध्याय को १८ वीं शताब्दी में होने के कारण इनका भी काल यही निर्धारित करना होगा। कहा जाता है कि जब ये तीनों भाई किसी सभा, शास्त्रार्थ में जाते थे तो सब घबड़ा उठते थे। तीनों तीन शास्त्र के विद्वान् और वह भी दुर्द्धर्ष। इसलिए उन दिनों एक आभाणक-सा प्रसिद्ध था — "अचल सचल मचला पण्डित। बचल-खुचल मिथिला पण्डित ॥" मचल उपाध्याय की कोई ज्यौतिष शास्त्रीय रचना उपलब्ध तो नहीं होती,

पर क्रीड़ाशास्त्र में इनका एक ग्रन्थ 'शतरञ्ज प्रबन्ध'[६] के उपलब्ध होने से तथा उसमें ज्यौतिषीय गणना करके खेल की प्रक्रिया को बताये जाने से निश्चय ही लेखक दैवज्ञ सिद्ध होता है। कहते हैं इसी गाँव के मकल उपाध्याय (दार्शनिक) इनके मित्र थे, जो वैयाकरण अकल उपाध्याय के अनुज थे।

इसी शताब्दी में, पर इन 'अलान्त' आचार्यों से कुछ पीछे मंगरौनी में एक और ज्योतिर्विद् हुए, जो **लालकवि** से प्रसिद्ध थे। इनका वास्तविक नाम क्या था, पता नहीं, पर ये महाशय राजा नरेन्द्र सिंह के राजज्यौतिषी एवं राजकवि होने के कारण लालकवि से ही प्रसिद्ध थे। इनके नामके दो और स्वरूप पाये जाते हैं — 'कविलाल' और 'लालमहाकवि'। ज्यौतिष में इनका कोई भी ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता, परन्तु 'समरवर्णन' नामक काव्य में आपने कन्दर्पीघाट-संग्राम का जो वर्णन, जिस प्रकार से किया है, उससे आपके ज्योतिर्विद् होने में सन्देह नहीं रह जाता। कुछ लोग यह मानते हैं कि ज्योतिर्विद् लाल और समरवर्णनकार भाषाकवि लाल दोनों भिन्न हैं।[७] ज्योतिर्विद् लाल की रचना गौरी स्वयंवर नाटक है, जिसे किसीने समरवर्णनकार की ही रचना मानी है।[८] मेरी भी राय इन दोनों को अभिन्न मानने की ही है, और परिचय में यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि ये पलिवाड़ जमदौली मूल के थे।

राजा-महाराजाओं में भी जहाँ शूरसेन वंशीय बंगाल के **बल्लालसेन** एवं लक्ष्मणसेन कुछ दिनों तक मिथिला पर शासन किये थे (इसी कारण वाचस्पति गैरोला आदि कई इतिहासकारों ने इन लोगों के नाम में 'मिथिला-नरेश'[९] विशेषण दिया है), वहीं नेपाल के मल्लवंशीय अधिपति राजा **राममल्ल** भी मिथिला के शासक रहे हैं। इन दोनों का (बल्लालसेन व राममल्ल का) ज्योतिष में बहुत बड़ा योगदान देखा जाता है। महाराज **बल्लालसेन** ने जहाँ लगभग आठ सहस्रश्लोकों में प्रायशः सभी पूर्ववर्ती ज्योतिर्विदों के सिद्धान्तों को अपने 'अद्भुतसागर' नामक ग्रन्थ में संग्रहीत किया है, वहीं राजा **राममल्ल** ने अपने ज्योतिषग्रन्थ 'राममल्ली' में स्पष्टतः "विदेहजाजन्मभू-पति" कहा है। अस्तु।

अब हम यहाँ वर्णानुक्रम से कुछ मैथिल ज्योतिषाचार्यों का संक्षिप्त परिचय देना चाहते हैं, जिससे अनुसन्धित्सु विद्वानों को कुछ सहायता मिल सके।

१. अपूछ झा (२०वीं श.) — खौआरय नाहसमूलक प. उमादत्त झा के पुत्र, तार्किकप्रवर प. राजा झा के अनुज और सुप्रसिद्ध वैयाकरण प. खुद्दी झा के अग्रज थे, ज्योतिर्विद् अपूछ झा। इनका निवासस्थान मधुबनी जिलान्तर्गत कोकिलाक्ष या कोइलख ग्राम था। इसी नामके एक मूर्द्धन्य दार्शनिक भी थे, जो सिरसिया (पूर्णियाँ) ग्रामवासी थे। पर विडम्बना यह है कि दोनों का समय एक ही था — १९ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध। ज्योतिर्विद् श्री झा की रचनाओं में मुख्य हैं — निर्णयार्क और मकरन्द प्रकरण। मकरन्द प्रकरण में आप लिखते हैं —

"विवरण सारन्नीत्वा परिशिष्टं कर्म्म तत्र च क्षिप्त्वा।
निज परपद्यनिबन्धं विलिख्यतेऽपूछशर्मणा क्रमतः॥

- - - -   - - - -   - - - -   - - - -

वर्षे सम्बाहक मेघनाथ तोये शशस्याधिपतिश्चतुर्थः।
षष्ठोजनेस्त्ववकस्तृतीयो मेघो द्वितीयोग्रिमवर्षके स्यात्॥"

कहते हैं रत्न पहचान में भी आपके समान पारखी उन दिनों भी मिथिला में दो-चार ही थे।

२. कमलनयन मिश्र (१८ वीं श.) — कलकत्ता संस्कृत कॉलेज के प्राध्यापक प. बबुआजी मिश्र उपाख्य श्रीकृष्ण मिश्र के प्रपितामह और ज्योतिष के सुप्रसिद्ध विद्वान् प. कमलनयन मिश्र सोदरपुर कटका मूलक प. धरणीधर मिश्र के पुत्र थे। आप कोइलख ग्राम के वासी तथा जन्मपद्धति, भास्वतीटीका आदि के कर्त्ता थे। जन्मपद्धति के आदि में आपने लिखा है —

"शिवं हरिं गिरं गुरुं तथा पुनर्विनायकम्।
प्रणम्यजन्मपद्धति र्विरच्यते मुदे मया॥"

ग्रन्थ की पुष्पिका में दिये गये पद्यों से आपकी काव्यप्रतिभा का भी परिचय

प्राप्त होता है। साथ ही ग्रन्थ रचना कालके प्रसंग भी प्रकाश पड़ता है।
यथा — "कलेर्गतास्समादिकास्तदुद्भवास्तदा हि वै
जनेश्च मध्य साधितास्तथार्कमण्डलादिके।
युता दशा समादिका भवेत्तदा परा दशा
ततस्तु तत्परा द्रशान्तरा दशाप्ययं क्रमः ॥
द्विषट्कभूप (१६६२) सम्मिते गते तु शाकवत्सरे
नभस्य कृष्णवासरे तिथौ हि भूत सूर्यके।
तदा कृतन्तु पुस्तकं मयाब्जनेत्रशर्म्मणा
विहायमत्सरान्सुधीः सदा करोतु सम्मतिम् ॥"

इसके साथ ही भास्वतीटीका का मंगलाचरण भी अवलोकनीय है —
"श्रीसूर्यचरणौ नत्वा भास्वतीटिप्पणं कृतः।
बोधार्थमब्जनेत्रेण सोदाहरणपूर्वकम् ॥"

इनकी वंश-परम्परा और ग्रन्थों के पर्यालोचन से यह सिद्ध होता है कि इनका समय १७ वीं शताब्दी का अन्त था। हिन्दी में 'वारांगनाचरित' काव्य भी आपने रचा है, जो आज भी प्रकाशन - पथावलोकन कर रहा है।

३. कलाधर (१८ वीं श.) — 'शिशुबोध' नामसे यद्यपि अनेकों लोगों ने ज्योतिःशास्त्र में रचना की हैं, उनमें आप विशिष्ट हैं। आप अपने शिशुबोध के मंगलाचरण में लिखते हैं —
"भाष्करञ्च प्रणम्यादौ शङ्करञ्च गजाननम्।
क्रियते शिशुबोधो हि श्रीकलाधरशर्म्मणा ॥"

आपका परिचय और समय दोनों अज्ञात होने से आपके बारे में अधिक कुछ कहना कठिन है।

४. कालिदास — कविकुलगुरु कालिदास संस्कृत साहित्य में अपरिचित नहीं हैं। इनका परिचय देना सूरज को दीपक दिखाने के समान ही होगा। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि कालिदास मधुबनी मण्डलान्तर्गत उच्चैठ ग्राम निवासी थे अथवा उसके आसपास किसी ग्राम

के वासी थे, जो उच्चैठ भगवती की कृपा से रातों ही रात सर्वशास्त्र निष्णात हो गये। कहते हैं बेनीपट्टी थानान्तर्गत जरैल प्रगन्ना में उच्चैठ मौजे में जो कामदानाथ मन्दिर तथा दुर्गा मन्दिर है, उसी मन्दिर में आकर कालिदास सिद्धि प्राप्त किये थे। इनकी चौपाड़ि का अवशेष इस मन्दिर की पूर्व-दक्षिण दिशा में अवस्थित है।[१०] सरकारी गजेटियर के अनुसार वहाँ 'कालिदासडीह' के नामसे एक उच्च टिला भी है, जो कालिदास का निवासस्थान कहलाता है। अनेक साक्ष्य और कालिदासीय रचनाओं के अन्तः-बाह्य पर्यालोचन से इनका मैथिल होना जहाँ सिद्ध हुआ है[११], वहीं इनके साथ रहे वररुचि को भी विद्वानों ने मैथिल प्रमाणित किया है।

कालिदास ज्योतिष के भी महान् पण्डित थे, जिनका 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रन्थ सुप्रसिद्ध है। इसके अन्त में आप लिखते हैं — "इति श्रीकविकुलचूड़ामणि श्रीकालिदासोदिते ज्योतिर्विदाभरणे ग्रन्थाध्याय-निरूपणक्रम श्रीविक्रमार्कवर्णनं नाम द्वाविंशतितमोऽध्यायः। समाप्तोऽयं ग्रन्थः।" इस ग्रन्थ के आदि में कविकुलगुरु लिखते हैं —

"रैम्यात्रिहारितवशिष्ठपराशराद्यै, नत्वोदितं जनघनव्यवहारसिद्ध्यै।
ग्रथ्नाम्यहं ननु तदेव गिरं यदार्क, ज्योतिर्विदाभरणनाम्नि महश्चशैवम्॥
अन्यासदुक्ति विहितोद्यमपक्षराशीन्व्यर्थानहं विरचयामि वरोक्तियुक्तैः।
मत्वा वराहमिहिरादिमतेरनेकै ज्योतिर्विदाभरणमद्य न सन्मतार्हम्॥"

इसी ग्रन्थ के अन्तिम पद्यों से कवि के परिचय पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। यथा — "शंक्वादिपण्डितवराः कवयस्त्वनेकाः,
ज्योतिर्विदः समभवंश्च वराहपूर्वाः।
श्रीविक्रमार्कनृपसंसदि मान्यबुद्धि-
स्तैरप्यहं नृप सखा किल कालिदासः॥
काव्यत्रयं सुमतिकृद्रघुवंशपूर्वं,
पूर्वं ततो ननु कियच्छ्रुतिकर्मवादः।
ज्योतिर्विदाभरण-कालविधानशास्त्रं,
श्रीकालिदासकवितो हि ततो बभूव॥"

और भी यथा —

"वर्षैः सिन्धुरदर्शनाम्बर गुणैर्जाते कलौ सम्मिते,
मासे माधवसंज्ञिके च विहितो ग्रन्थक्रियोपक्रमः।
नानाकालविधानशास्त्रगदित ज्ञानं विलोक्यादरा-
दूर्जे ग्रन्थ समाप्तिरत्रविहिता ज्योतिर्विदां प्रीतये।।"

यहाँ स्मर्त्तव्य है कि "धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकु, वेतालभट्ट घटखर्प्पर कालिदासाः ......" आदि सुप्रसिद्ध श्लोक भी इसी ज्योतिर्विदाभरण का है, जो यह सिद्ध करता है कि वे लोग सम्राट् विक्रमादित्य के नवरत्नों में अलंकृत थे — "ख्यातो वराहमिहिरनृपतेस्सभायां, रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य"।।

५. ***काशीनाथ उपाध्याय*** — अज्ञात परिचय ज्योतिर्विद् काशीनाथ उपाध्याय, वैयाकरण काशीनाथ उपाध्याय से निश्चय ही भिन्न थे, पर साहित्यिक काशीनाथ से भिन्न थे या नहीं कहा नहीं जा सकता। इन्होंने ज्योतिष में — प्रश्नप्रदीप, शीघ्रबोध, लग्नचन्द्रिका आदि पाँच कृतियाँ की हैं, जिनमें ये ही तीन उपलब्ध होती हैं। प्रश्नप्रदीप और शीघ्रबोध में आपने लिखा है —

"मिहिरेस्तमुपायातो तमसा च धरातले।
प्रश्नगेहे प्रदीपोऽयं काशिनाथकृतो बुभौ।।" तथा —

"भासयन्तं जगद्भासा नत्वा भास्वन्तमव्ययम्।
क्रियते काशिनाथेन शीघ्रबोधाय संग्रहः।।"

इसी प्रकार इनकी लग्नचन्द्रिका के ये पद्य भी द्रष्टव्य हैं —

"तमिस्राजगद्ग्रस्तं यो जीवयति भूतलम्।
तम्बन्दे परमात्मानं सर्वसाक्षिणमीश्वरम्।।
- - - -   - - - -   - - - -
तनुर्द्धनञ्च भ्राता च सुहृत्पुत्ररिपुस्त्रियः।
मृत्युश्च धर्मकर्माय व्ययभावाः प्रकीर्त्तिताः।।
विषमोथ समः पुंस्त्री क्रूराक्रूरश्च नामतः।
चरास्थिरौ द्विस्वभावौ मेषाद्याराशयः स्मृताः।।"

६. *कृष्णदत्त उपाध्याय (१९ वीं श.)* — इस नामके मिथिला में कई आचार्य हुए हैं, जिनमें बिल्वपंचक (बेलौंचय) सुदै मूलक बानू छपरा (बेतिया) निवासी, कर्महा बेहटमूलक बिट्ठो निवासी, सोदरपुर मूलक उजानवासी, बुधवाल डुमरामूलक तथा पलिवार महिषी मूलक मुख्य हैं। परन्तु इन सभी से भिन्न आप दरभंगा जिले के भखराइन ग्रामवासी निविष्ट दैवज्ञ और चापप्रपञ्च तथा 'जातकझोड' के रचयिता हैं। आप क्वीन्स कॉलेज वाराणसी में वर्षों ज्योतिषविभागाध्यक्ष थे और वहीं आपका निधन भी हुआ। इस तरह आप अपने गाँव में कम, काशी में अधिक रहे। आप ज्योतिष के साथ - साथ व्याकरण के भी निविष्ट विद्वान् थे। प. चन्द्रशेखर झा सरीखे वैयाकरण कहते हैं एकमात्र आप ही के शिष्य थे। चापप्रपञ्च से आपके काव्यकौशल का भी पता चलता है —

"स्वभक्त दुःखभञ्जनं खलाभिमानगञ्जनम्।
व्रजाङ्गनाङ्गरञ्जनं नमामि नन्दनन्दनम्॥
वच्म्यहं प्रस्फुटाम्वासनोल्लासिकां
स्वोक्तशास्त्रोद्भवां सद्विदुल्लासिकाम्।
शिष्यधीवृद्धिदां ज्योतिषोल्लासिकां
कृष्णदत्ताभिधो नूतनोल्लासिकाम्॥"

७. *गोकुलनाथ उपाध्याय* — आप न्याय, व्याकरण, साहित्यादि शास्त्रों के साथ - साथ ज्योतिष के भी मर्मज्ञ पण्डित थे। परन्तु कुछ लोगों ने आपको प्रसिद्ध गोकुलनाथ से भिन्न भी माना है, जब कि मेरे विचार में आप दोनों अभिन्न थे। फन्नावार-खनाम मूलक प. पीताम्बर विद्यानिधि के पुत्र एवं मङ्गरौनी ग्रामवासी तथा गढ़वाल नरेश फतेशाह के आश्रित थे।[१२] आपके समय, मिथिला में महाराज राघव सिंह राज्य कर रहे थे।[१३] आपकी 'मकरन्द वासना' मकरन्दकृत तिथिपत्र की व्याख्या है, जो अपने आप में किसी भी मौलिक ग्रन्थ से कम नहीं है, जिसमें आपने लिखा है —

"स्फुटस्वल्पमनल्पार्थं रंगनाथगुरोर्वचः।
निपीय सकृदप्येष वाण सारोभवन्मम॥
श्रीमल्लक्ष्मी ग्प्सादस्य कवितावनिता नवा।

मद्दर्शितोपपत्तिर्वा कस्य चेते न तोषयेत् ।।"

आपही की मृत्यु पर आपके शिष्य रामेश्वर उपाध्याय ने लिखा था —

"मातर्गोकुलनाथनामकगुरोर्वाग्देवि तुभ्यं नमः
पृच्छामो भवतीं महीतलमिदं त्यक्त्वैव यद्गच्छसि ।
भूलोके वसतिः कृता मम गुरौ स्वर्गे तथा गीष्पतौ
पाताले फणिनायके च नितरां प्रौढ़ि क्व लब्धाधिका ।।"

इनकी ज्योतिषशास्त्र में दूसरी रचना है — 'दिक्कालनिरूपण'[१४]।

८. महर्षि गौतम — गौतम, भले ही न्यायदर्शन के जनक रहे हों, पर वे ज्योतिष के भी मूर्द्धन्य आचार्य और ग्रन्थकार हैं, जो किसीसे अज्ञात नहीं है। इनके ज्योतिषशास्त्र में दो ग्रन्थ पाये जाते हैं — पाशा केरलीयम् एवं शकुनाध्याय। परन्तु कुछ लोग दोनों ग्रन्थों के रचयिता को भिन्न-भिन्न मानते हैं, जिसमें मुझे कोई युक्ति नहीं दिखती। ये दोनों ही ग्रन्थ प्रश्नादि के शुभाशुभ फल को निरूपित करते हैं। 'पाशा केरलीयम्' में भगवान् गौतम ने कहा है — "श्रीगौतमोवाच। कथ्यते सर्वलोकानां हितार्थं शकुनं महत्। येन सर्वं विजानाति शुभाशुभविनिर्णयम्।। ..... वृषभाश्च यो नित्यं पतितासु विचक्षणः। यत्त्वं चिन्तयसे नित्यं भविष्यति न संशयः ।।" इसी प्रकार इन्होंने 'शकुनाध्याय' में लिखा है — "अकारेमानमैश्वर्यमर्थलाभश्च सम्पदः। सर्वं प्राप्नोति सम्पूर्णमकारेण विनिर्दिशेत्।। अकारे बहुसन्तापो भवकाले क्रमेण च। सर्वस्व जनितं कष्टं आकारेण विनिर्दिशेत्।। ...... अपिच ..... हकारे गुह्यनाशश्च दृष्टिनाशश्च जायते। अध्वानुसुखमवाप्नोति हकारेण विनिर्दिशेत्। क्षकारे क्षेममारोग्यं धनलाभश्च निश्चितम्। कल्याणं विजयश्चैव क्षकारेण विनिर्दिशेत् ।।"

महर्षि गौतम के प्रसंग में बस इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वे मिथिला के ब्रह्मपुर (ब्रह्मपुरी) नामक ग्राम के वासी थे, जहाँ गौतम के नाम पर 'गौतमकुण्ड' और अहल्या के नाम पर 'अहल्यास्थान' आज भी दरभंगा जिले में सुप्रसिद्ध है। यह अहल्यास्थान भड़वारा प्रगन्ना के अन्तर्गत खिरोई (विरजा) नदी के तट पर ब्रह्मपुर ग्राम के पास दक्षिण में स्थित है।[१५] इनके पुत्र शतानन्द मिथिलेश राजर्षि जनक के पुरोहित एवं

कुलपूज्य थे।[१६]

९. चक्रपाणि — कहते हैं द्रौपदी परिणयकार चक्रपाणि दत्त ही ज्योतिर्विद् चक्रपाणि हैं, परन्तु कुछ लोग सन्देह भी व्यक्त करते हैं। इसमें दो मत नहीं कि दैवज्ञ चक्रपाणि किसी शक्तिधर के पुत्र और वैष्णव थे। जैसा कि आपने लिखा है — "चक्रपाणिरिति शक्तिधरस्य ख्यात आत्मज इहाच्युत भक्तः"। आपने प्रश्नतत्त्व नामक एक छोटी-सी किन्तु सुन्दर पुस्तक की रचना की थी, जिससे आपकी काव्य प्रतिभा की भी झलक मिल जाती है —

"भारतिमञ्जुल चञ्चल देहे भूषितभूरि विभूषणसारे।
तत्त्वसरोरुहवासिनि सत्त्वे दर्शयकुन्दनिभे प्रणतिर्मे॥"

१०. चतुर्भुज मिश्र — २० वीं. शताब्दी में चतुर्भुज मिश्र नामक एक ज्योतिषाचार्य दरभंगा शहर के लालबाग मुहल्ले में बड़े ही आत्माभिमानी थे। ये अपने ही घर पर रहकर छात्रों को विद्यादान देते थे और कभी भी अपने जीवन में नौकरी नहीं की। किसी भी छात्र से, अर्थ से लेकर वस्तु तक — किसी की कोई सहायता नहीं ली। सभी को निःस्वार्थ, बिना कुछ लिये पढ़ाते थे। यहाँ तक कि मिथिलेश के दरवार में भी कभी नहीं गये। आपकी प्रतिज्ञा थी कि बिना बुलाये कभी नहीं जाएँगे और महाराजा ने आपको कभी बुलाया नहीं।[१७] जब आपको एकबार किसीके कहने से बुलाये, तो आपको उसकी खबर लग गयी। फिर क्या था आपने सम्बादवाहक से ही कह दिया — "पता लगाकर आओ कि सरकार को मुझसे काम क्या है। अभी मैं एक ग्रन्थ रच रहा हूँ, जाने से सोची हुई बातें ध्यान से उतर जायेंगी।" ऐसा था आत्माभिमान और ऐसी थी स्पष्टवादिता एवं निर्भयता। वही ग्रन्थ आगे चलकर 'अद्भुतसागर' नामसे प्रसिद्ध हुआ, जिसमें आपने अपने को 'महापण्डित' कहा है — "इति महापण्डित चतुर्भुजविरचित त्रिविधाद्भुतसागरसारः समाप्तः"। इसी ग्रन्थ में आप लिखते हैं —

"अवत्सानां गवादीनां क्षीरप्रश्नवणं तथा।
आत्मनः स्तनपानञ्च पशूनां सह नर्त्तनम्॥

महिषी गुर्विणी वत्सं प्रसूते चन्द्रमस्तकम् ।
अन्यदेतादृशं सर्वमादित्याद्भुत दर्शनम् ।।"

११. चिरञ्जीव मिश्र — अपने समय के आप महान् ज्योतिषी थे और दरभंगा मण्डल के प. पूर्णानन्द मिश्र के पुत्र थे । शरच्चन्द्रोदय नामक अपने ग्रन्थ में आपने अपना परिचय यों दिया है —

"आसीत्सूर्यसुतोपकण्ठनगरे विद्वद्वरैः पूरितो
शोभाढ्येर्गलसंज्ञके हरिपुरः कृष्णाभिधानो द्विजः ।
तर्कालंकृतशब्दशास्त्र चतुरो ज्योतिर्विदामग्रणीः
पूर्णानन्द इति प्रथामधिगतस्तत्सूनुरासीद्भुवि ।।
चिरञ्जीवकस्तत्सुतो माथुरोभूत्कवीन्द्रो बुधो ज्योतिषां वाक् प्रवीणः ।
शरच्चन्द्रपूर्वोदयस्तेन तेनमुदे कैरवाणां बुधानां भवाय ।।"

इसी पुस्तक में दिया गया यह पद्य भी नितान्त मनोहर और भावपूर्ण है, जिसे अवलोकनार्थ यहाँ प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ —

"विश्वं निर्मातिपाति द्युतिविधिमुखरान्प्रेरयन्ती स्वकार्ये
सूर्यादीन्नासयन्ती जगति विजयते यस्य या कापि माया ।
तं वन्दे नन्दसूनुं विहसितवदनं हस्त हैयङ्गवीनं
पित्रोरानन्दमन्तर्निभृतमविरतं बालभावैर्दधानम् ।।"

१२. जयकृष्ण झा (१७ वीं श.) — कर्माहा बेहट मूलक वत्सगोत्रीय १७ वीं श. के म.म. जयकृष्ण उपाध्याय (झा) ज्योतिष के निविष्ट विद्वानों में परिगणित किये जाते हैं । यद्यपि आपकी अन्यान्य शास्त्रों में भी गहन गति थी, साहित्य में भी आप पारंगत थे, तथापि 'बालबोधिनी' की उपलब्धि से आपका ज्योतिष शास्त्रीय पाण्डित्य प्रमुखता से प्रखर दिखता है । यद्यपि मैथिली में आपके स्फुट गीत भी प्राप्त होते हैं, पर अन्य शास्त्रों में आपकी कोई रचना प्राप्त नहीं होती । म.म. राघव के पुत्र वंशीधर, जो बनाई झा से प्रसिद्ध थे — आपके पिता थे —

"वाग्देवतां नमस्कृत्य क्रियते बालबोधिनी ।

वंशीधरात्मजेनेयं जयकृष्णेन धीमता ।।"

इसी ग्रन्थ के अन्त में आपने लिखा है —

"आदित्यचन्द्रौ रविचन्द्रभौमा। बुधार्कजौचन्द्रजभास्करौ च ।।
रवेर्वैरी शनिशुक्रौ न कोऽपि रजनीपतेः।
मङ्गलस्यबुधो वैरि बुधस्य रजनीपतिः।।
सितासितौ चन्द्रमसौ न कश्चिद्बुधः।
शशि सौम्यसितौ वैरि रविन्दुभौमावरिस्त्वमित्राः ।।....."

१३. जीवनाथ झा — इस नामके विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न समयों में विभिन्न व्यक्ति और आचार्य हुए हैं। जिनमें चन्द्रदत्त झा के भ्रातृज एवं आँखी झा से प्रसिद्ध म.म. जीवनाथ, दरिहराकुलसम्भूत जीवनाथ, ज्योतिर्विद् नीलाम्बर झा के अनुज जीवनाथ आदि मुख्य हैं। इनमें बाद के दोनों दैवज्ञ थे, ज्योतिष के प्रकाण्ड पण्डित।

दरिहराकुलसम्भूत जीवनाथ 'शुद्ध्यशुद्धिविचार' के प्रणेता हैं। जिन्होंने अपना परिचय यों दिया है कि —

"विघ्नेशं गुरुपादपद्मयुगलं नत्वाखिलं पद्धतिं
सम्बीक्ष्यामलमानसश्च गणकस्तोमैकलक्ष्यः सदा।
श्रीदत्तस्यकवेस्तथा दरिहरावंशोद्भवस्यात्मजः
शुद्धाशुद्धविनिर्णयं वितनुते श्रीजीवनाथस्सुधीः।।
प्रोद्यद्दुर्धरवैरिदर्पदलनः श्रीछत्रसिंहो नृपः
विख्यातः सुयशो हिमांशुकिरणैः स्वच्छीकृतक्ष्मातलः।
तस्याजस्य महीपमौलिमधुप व्यालोलपादाम्बुजः
या ज्ञातो मिथिलाधिपस्य विवुधैर्ज्ञेयो ममैषश्रमः।।"

साथ ही ग्रन्थान्त में यथा —

"पालीवंश प[illegible]परोदधिभवो ज्योतिर्विदां विश्रुतः
प्रोद्यच्छ्रीवचनूधरासुरवरसर्वोपकारक्षमः।
तस्याऽहं भगिनीसुतः प्रमुदितः श्रीजीवनाथस्सुधीः
शुद्धाशुद्धविवेचनञ्च कृतवान् मोदाय विद्यावताम्।।"

१४. जीवनाथ झा (१९ वीं श.) — पटना मण्डल के जीवनाथ झा, प. शम्भुनाथ झा के पुत्र और सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद् प. नीलाम्बर झा के अनुज थे। इनके पिता शम्भुनाथ झा स्वयं एक अच्छे ज्योतिषी थे, इसका परिचय हमें इनकी तत्त्वदीपिका की पुष्पिका से चलता है। भावप्रकाश, भावकुतूहल, दीक्षातत्त्वप्रकाश, प्रश्नभूषण, वनमाला, बीजगणित सुबोधिनी, जन्मपत्री विधान, तत्त्वदीपिका, वास्तुरत्नावली आदि दशाधिक ग्रन्थों के निर्माता जीवनाथ झा अपने मकरन्दोदाहरण अर्थात् मकरन्दकृत तिथिपत्र की व्याख्या में लिखते हैं —

"मकरन्दोक्ततिथ्यादेः साधनार्थमुदाहृतिः।
दैवज्ञानां विनोदाय जीवनाथेन दर्शते॥
श्रीसूर्यसिद्धान्तमतेन सम्यग् विश्वोपकाराय गुरुप्रसादात्।
तिथ्यादिपत्रं वितनोतिकाश्यामानन्दकन्दो मकरन्दनामा॥"

वनमाला नामक ग्रन्थ से इनकी काव्यशैली का भी हमें परिचय मिलता है — "स जयति वनमाली राधिकानन्दशाली
रिपुकुलवलहन्ता वीशगन्ता समन्तात्।
हिमकरवदनाभिर्गोपिकाभिर्श्रिताङ्गः
करकलितरथाङ्गो नीरदश्यामलाङ्गः॥
हिमाचलकुमारिका हरमनः समुल्लासिका
सुवीरकुलपालिका कविविनोदसञ्चारिका।
अशेषसुखदायिका प्रवलदैत्यसंहारिका
महाभयनिवारिका दिशतु नः शुभंकालिका॥"

तत्त्वदीपिका का सौन्दर्य भी कम मनोहारी नहीं है —

"त्रैलोक्यानन्दकर्त्ता सकलसुरशिरोभूषणं शेविलासी
काशीवासी विकासीनिगमवरविधेः कारकोमुक्तसङ्गः।
अब्दा शुद्धान्तरात्मा मुरहरहृदयं व्यालमाली कपाली
काली प्राणैकनाथः स जयति सततं मस्तविन्यस्तगङ्गः॥"

बस, इतना ही नहीं है कि जीवनाथ झा केवल अपनी काव्यशैली और काव्यसौन्दर्य में ही खोये रहे, उन्हें अपना परिचय देने की सुध नहीं थी।

वल्कि उन्होंने तो वास्तुरत्नावली और भावकुतूहल में इस ओर भी संकेत किया है --

"शाके तर्करसागचन्द्रमिलिते पक्षेवलक्षेतरे
चैत्रे मासि भृगोर्दिने स्मरतिथावेषा गता पूर्णताम्।
नानाचार्यमतं विलोक्यरचिता श्रीवास्तुरत्नावली
श्रीमन्मैथिलजीवनाथकृतिना दैवज्ञमोदप्रदा ॥" तथा —

"आसीच्छ्रीकरुणाकरोबुधवरो वेदाङ्गविद्याकरः
तत्सुनुः क्षितिपालवन्दितपदः श्रीशम्भुनाथः कृती।
विज्ञव्रातकृतादरो गणितवित्तजो विदां प्रीतये
चक्रे भावकुतूहलं लघुतरं श्रीजीवनाथः सुधीः ॥"

१५. *दुल्लह झा* — ज्योतिषमार्त्तण्ड दुल्लह झा मधुबनी जिले के कोइलख (कोकिलाक्ष) ग्राम निवासी थे, जिसका उल्लेख उन्होंने अपनी 'श्रीपतिपद्धति' की व्याख्या में किया भी है —

"शाकेवस्वङ्कभूते गतवति भभेद चाश्विने शुक्लपक्षे
पञ्चम्यां जीववारे शुभदमितिमया श्रीशिवानुज्ञया।
बालेबोध्याविहिते पठति सति तदा रच्यते दुल्लहेन
श्रैपत्यं वै समन्ताद्विवरणमखिलं क्वैलखग्राममध्ये ॥"

इससे न केवल इनके निवासस्थान और काल पर प्रकाश पड़ता है, प्रत्युत् इनका शैवधर्मावलम्बी, वल्कि स्मार्त्त होना भी सिद्ध होता है। इन्होंने 'ताजिक नीलकण्ठी' की भी व्याख्या की थी, जिसमें आपने लिखा है—

"श्रीकृष्णचरणाम्भोजं नत्वा श्रीदुल्लहो मुदा।
अथ श्लोकान्वयं चक्रे नीलकण्ठ्यां क्वचित्क्वचित् ॥"

१६. *धर्मेश्वर उपाध्याय* — १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्थित रहे ज्योतिर्विद् धर्मेश्वर उपाध्याय केशव कृत 'जन्मपद्धति' के व्याख्याता हैं। वासनाभाष्य नामक इस व्याख्या के आदि में आपने लिखा है —

"स्फुर्जद्भानुसहस्रसालिनिधनध्वान्तेकण्ठीरवे
यत्तत्वातमिदं जगत्समुदिते दिव्यन्ति देवा दिवि।
यज्ञादि प्रभवः प्रभुः प्रणमतां प्रीतिप्रतीति प्रदः

सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यदीपो रविः ।।"

क्या विलक्षण शब्द विन्यास है, कैसी कल्पना और कैसी अलंकार योजना है ! लगता है धर्मेश्वर निरे ज्योतिषी ही नहीं थे, वल्कि साहित्य और व्याकरण में भी उनकी अच्छी और निर्वाध गति रही होंगी। इनके पिता का नाम रामचन्द्र और गोत्र वत्स था, जैसा कि वासनाभाष्य में आपने लिखा भी है — "योऽभूद्वत्सकुले प्रभाकर समाख्यातो द्विजस्तत्सुतः

श्रीरामोगणकाग्रगण्यगणितस्तत्सूनु धर्मेश्वरः।
श्रीमद्मातरसाहिराज मुकुटालंकार हारेणचा-
ज्ञप्तः केशवपद्धतेर्व्यरचयत्सोत्पत्ति टीकामिमाम् ।।"

एवं व्याख्यान्त में — "इतिश्रीकेशवज्ञ रामचन्द्रात्मजधर्मेश्वरविरचिते केशवपद्धति वासनाभाष्ये सोदाहरणे दशाविचाराध्यायः समाप्तः। शाके १७७५ पौ. कृ. दशम्यां रवौ।"

१७. धीरेश्वर उपाध्याय (१३ वीं श.) — गढ़विसफी मूलक महावार्तिक नैबन्धिक धीरेश्वर ठाकुर से भिन्न ज्योतिर्विद् धीरेश्वर 'बुद्धिप्रदीप' नामक ग्रन्थ के प्रणेता हैं। आपका उपनाम 'धीरेश' था, परन्तु आपका अन्य परिचय ज्ञात नहीं है। बुद्धिप्रदीप में आपने लिखा है —

"नत्वा हरिं भास्करं भारतीञ्च गणेशं शिवं इष्टदेवं गुरुञ्च।
प्रणीतं कृतं सर्वशास्त्राद्विलोक्य बुद्धिप्रदीपं लिखितं धिरेशः ।।"

१८. नरपति उपाध्याय — स्वरोदय किं वा नरपति जयचर्य्या नामक ज्योतिष ग्रन्थ के कर्त्ता नरपति उपाध्याय, तरौनी ग्रामवासी साहित्यिक नरपत्युपाध्याय से भिन्न, राजा अजयपाल के दरवारी थे —

"श्रीमत्यलहिलनगरे ख्याते श्रीअजयपालनृपराज्ये।
श्रीमन्नरपतिकविना रचितमिदं तत्र संस्थेन ।।"

नरपतिजयचर्य्या नामक ग्रन्थ में आप लिखते हैं —

"अव्यक्तमव्ययं शान्तं नितान्तं योगितां प्रियम्।
सर्वानन्दस्वरूपं यत्तद्वन्द्वे ब्रह्म शाश्वतम् ।।
विविधविवुधवन्द्यां भारतीं वन्द्यमानः।

प्रवरचतुरभावं दातुकामो जनेभ्यः ॥
नरपतिरितिलोके ख्यातनामाभिधास्ये।
नरपतिजयचर्य्या नामकं शास्त्रमेतत्॥"

१९. नरसिंहदत्त मिश्र — आप वैयाकरण हरदत्त से भिन्न किसी दूसरे हरदत्त मिश्र नामक अज्ञात मैथिल विद्वान् के पुत्र थे। आपने मकरन्द सारिणी की 'उपपत्ति' नामक व्याख्या रची है, जिसमें आप लिखते हैं —

"रचितेयं पादुपपत्तिर्श्रीनृसिंहदत्तेन।
मकरन्दस्य शकाब्दे गतेऽङ्कवाणाद्रिभू (१७५९) तुल्ये॥

इति श्रीमिश्रहरिदत्तसुत श्रीनृसिंहदत्तविरचिता मकरन्दसारण्युपपत्तिर्समाप्ता।" इसके आधार पर आपका समय १८ वीं शताब्दी बनता है। जब कि बालकों को ज्योतिष की शीघ्र शिक्षा देने के लिए आपने 'ज्योतिषशिक्षा' बनायी थी। इसमें आप लिखते हैं — "इति मैथिल हरदत्तात्मजनरसिंहदत्तविरचिता ज्योतिषशिक्षा समाप्ता।"

२०. नरहरि मिश्र (१५ वीं श. ?) — इस नामसे यद्यपि अनेकों विद्वान् हो गये हैं, जिनमें आप महाराज भैरवसिंह एवं उनके पुत्र महाराज कुमार रामभद्रसिंह के आश्रित थे —

"श्रीभैरवेन्द्र पदपङ्कजसेवनोत्थ
कीर्त्तिः समस्त विबुधानसकृत्प्रणम्य।
याचे यदीहभवति स्खलनं कदाचित्
तत्पावनं कुरुत वंशमहाशयत्वात्॥" (स्वरोदय)

आप धर्मशास्त्री वाचस्पति मिश्र के पुत्र और पलिवार समौल मूलक वत्सगोत्रीय विभूति थे। इन्होंने 'स्वरोदय' नामक ग्रन्थ की व्याख्या लिखी है, जो नरपति उपाध्याय के स्वरोदय से भिन्न और बृहद् है। किसीने इन्हें 'अहिबलचक्रम्' के रचयिता नरहरि से भिन्न तो किसीने अभिन्न माना है। भिन्न माननेवालों के मत में अहिबलचक्रकार थे हरियम्बय बलिराजपुर मूलक वत्सगोत्रीय श्रोत्रिय, जिनके पुत्र लवनाथ प्रसिद्ध लवे मिश्र की सन्तति आज भी मधुबनी जिले में बसती हैं। स्वरोदयकार की कवित्वशक्ति सुतरां प्रशंसनीय है —

"तातं गुरुञ्च विवुधं नरसिंहमीशं
नत्वा तदीय दययाऽवगतार्थ सार्थः।
एतत्स्वरोदय समुद्रगति प्रसिद्ध्यै
व्याख्याप्लवं नरहरिः प्रकरोतिरम्यम् ।।"[१८]

२१. नाह्निदत्त (१६ वीं श.) — इनका पूरा नाम या परिचय ज्ञात नहीं है, किन्तु इनकी दो रचनायें अवश्य मिलती हैं — बालबोधिनी और पंचविंशतिका अर्थात् नाह्निपञ्चीशी। बालबोधिनी के इस पुष्पिका-लेख — "इतिमैथिलश्रीनाह्निदत्तगणक विरचिता बालबोधिनी समाप्ता" से आपका मात्र मैथिल होना ही सिद्ध होता है। अन्य परिचय प्राप्त नहीं है। पंचविंशतिका का यह पद्य नितान्त मनोहर लगता है कि —

"रेवत्युत्तररोहिणीमृगमघामूलानुराधाकरः
स्वातिषुप्रमदातुलामिथुनके लग्ने विवाहः शुभः।
मासाः फाल्गुनमाघमार्गशुचयो ज्येष्ठस्तथा माघवः
सस्ता सौम्यदिनं तथैव तिथयो रिक्ताकुहूवर्जिताः ।।"

जबकि — "बालानां शुभकर्मशस्तसमयज्ञानं किलैकैकतः
श्लोकादस्त्विवति संकलय्य नियमे लोकश्चतुर्विंशतिम्।
पूर्वाचार्यकृतान् विलोक्यबहुशो ज्योतिर्निबन्धाबहुः
नत्वा श्रीपतिपादपद्मयुगलं श्रीनाह्निदत्तो द्विजः ।।"

— यह श्लोक इनकी दोनों रचनाओं में पाया जाता है।

२२. निधिनाथ उपाध्याय — आचार्य जनसीदनजी ने जिन निधिनाथ (झा) उपाध्याय को मुजफ्फरपुर मण्डलान्तर्गत गोरौल ग्रामवासी और धर्मसमाज संस्कृत महाविद्यालय का अध्यापक माना है[१९], उन वैयाकरणाचार्य से हमारे निधिनाथ उपाध्याय न केवल भिन्न हैं, अपितु प्राचीन भी हैं। प्रश्नविबोधिनी नामक प्रबन्ध इन्होंने रचा है, जिसमें लिखते हैं —

"गजाननं नमस्कृत्य दिनेशं गिरिजापतिम्।
क्रियते निधिनाथेन मनः प्रश्नविबोधिनी ।।
श्रीकृष्णचरणन्नत्वा गुर्वीशपदपङ्कजम्।
ताम्बक्ति श्रीनिधिश्चैव केरलाद्यनुसम्मताम् ।।"

२३. नीलकण्ठ उपाध्याय (१७ वीं श.) — ताजिक नीलकण्ठीकार से भिन्न आप 'श्रीकण्ठ' उपनाम से प्रसिद्ध थे, जिस ओर आपके अग्रज हरिहर ने अपने प्रभावती परिणय नाटक में इशारा भी किया है —

"....... एषातयोः प्रथमजेन निजानुजात-
श्रीनीलकण्ठ कविकण्ठ विभूषणाय।"

जब कि कुछ लोगों ने 'कविकण्ठ' को उपनाम न मानकर 'उपाधि' या 'विशेषण' माना है। 'श्रीकण्ठ' उपनामक नीलकण्ठ एक और थे, अप्पय दीक्षित के अनुज अच्चा दीक्षित के पौत्र एवं नारायण दीक्षित के पुत्र। परन्तु ज्योतिर्विद् नीलकण्ठ उपाध्याय इनसे भिन्न करमाहा बेहटवंशीय वत्सगोत्रीय बिट्ठो निवासी म.म. हृषीकेश के पौत्र एवं म.म. राघव-लक्ष्मीदेवी के पुत्र थे। ज्योतिर्विद् रुचिपति और म.म. इन्द्रपति क्रमशः आपके पुत्र व पौत्र थे। कुछ लोगों के मत में कल्याणसौगन्धिक के रचयिता भी आप ही हैं, पर कुछ लोगों ने इसे सर्वथा अस्वीकारा भी है। जो भी हो, पर मध्यमग्रहसिद्धि, ज्योतिः सौख्य, जातकपद्धति आदि ग्रन्थों के रचयिता तो आप थे ही थे। जातकपद्धति में आप अपना परिचय देते हुए लिखते हैं — "हरिचरणपरासदाविलक्ष्या द्विजकुलभूषण राघवात्सुतो यः। हरिहरकविपण्डिताधिराजाऽवरज इमां स चकार नीलकण्ठः॥"

भाषाकवि बादरि प्रसिद्ध नन्दीपति और कविवर लोचन दोनों आपके परनाती थे। इनमें क्रमशः एक थे आपके दौहित्री पुत्र और दूसरे थे बहन के दौहित्री पुत्र। आचार्य गैरोलाजी के मत में[२०] आपने शकाब्द १४८० (१६१५ ई.) में मध्यग्रहसिद्धि की रचना की थी और सुधाकर द्विवेदी के अनुसार आप अपने समय के मूर्द्धन्य दैवज्ञों में से एक थे।

२४. नीलाम्बर झा — नैयायिक नीलाम्बर झा से भिन्न ज्योतिर्विद् नीलाम्बर झा (१८२३ ई. में जन्म) की प्रतिभा ज्योतिष के सिद्धान्त पक्ष में सर्वाधिक और विलक्षण थी। अपने समय में आप पौरस्त्य और पाश्चात्य गणित के महामनीषी माने जाते थे, जब कि तंत्रविद्या में भी आपका तलस्पर्शी ज्ञान बताया जाता है। दृक्कर्म नामक ग्रन्थ के अन्त में आपने अपना परिचय इस तरह दिया है —

"श्रीशम्भुनाथः सुकृतैकनाथः कृपैकनाथः पतिरीशनाथः।
अभूद्द्विजेन्द्रः सुचकोरचन्द्रः क्षितावुपेन्द्रः स्मरगोवतन्द्रः॥
नैपुण्य पुण्याद्युतिरस्य सूनुः सौजन्यजन्य प्रभया समेतः।
लावण्यवन्यः कृतविन्दमध्ये मूर्धन्यधन्यः स विराजते यः॥
श्रीजीवनाथः प्रथितः पृथिव्यां तस्यानुजन्मा तदवाप्त विद्यः।
नीलाम्बरो भास्करगीतनाना दृक्कर्मसन्धान सवासनां हि॥
ये सन्ति रेखागणित-प्रवीणा बीजैकवीना गणका नवीना।
व्यक्ते च गोले नितरां प्रगल्भास्तेषां मुदे तां कृतवान्सुरम्याम्॥"

अलवर के महाराजा शिवदानसिंह के द्वारपण्डित नीलाम्बर झा के ही शिष्य थे म.म. सुधाकर द्विवेदी, जो अपने समय के सर्वश्रेष्ठ ज्योतिषी समझे जाते थे। पण्डितजी एक अच्छे अनुवादक भी थे, जिसका परिचय हमें 'गोलप्रकाश' और 'क्षेत्रपरिभाषा' से प्राप्त हो जाता है। काशी के सुप्रसिद्ध ज्योतिषी प. बापूदेव शास्त्रीजी के आप शिष्य थे और उन्हींकी प्रेरणा से १८७१ ई. में आपने यूरोपीयपद्धति पर 'गोलप्रकाश' नामक एक विलक्षण ग्रन्थ की रचना की थी, जिसे स्वयं शास्त्रीजी ने प्रकाशित करवाया था। बाद में इसीका एक भाग 'चापीय त्रिकोणमिति' के नामसे विद्वज्जनों के सामने आया। यूरोपीय पद्धति पर रचित इस ग्रन्थ के अनवद्य पद्य को देखकर ही किसी ने इनकी विलक्षण साहित्यिक व्युत्पत्ति की प्रशंसा भी की है।[२१]

इन्होंने 'गोलीय रेखागणित' जैसे अनेक सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की थी।[२२] जब कि आपकी अन्य रचनाओं में मुख्य हैं — चापीय त्रिकोणगणित, जन्मपत्रोदाहरण, लल्लाचार्य के 'दृक्कर्म' और 'बलन' की व्याख्यायें, भास्कराचार्य के प्रश्नाध्याय की व्याख्या 'ज्योत्पत्ति', कमलाकर कृत प्रश्नाध्याय की 'तत्त्वविवेक' व्याख्या, मकरन्द पर 'मकरन्दवासना', लीलावती की 'उपपत्ति' व्याख्या आदि। इनकी ज्योतिष शास्त्रीय रचनाओं के द्वारा ही इनकी काव्यप्रतिभा का भी पता चलता है। जैसे कि चापीय त्रिकोणगणित के प्रारम्भ में ग्रन्थ प्रयोजन प्रतिपादित करते हुए आप लिखते हैं —

"रचितं निचितं सकलं शकलं ललितं चलितं गणितं भणितम्।

बिवुधैरथचापभवे त्रिभुजे प्रवदामिसुसज्जनरञ्जनकम् ।।"

तथा — "भक्तहृन्मन्दिरं गोकुलेचन्दिरं सेन्दिरं सुन्दरं नन्दरं कुन्दरम् ।
कामदानां वरं युक्त नीलाम्बरं नौति पीताम्बरं विज्ञनीलाम्बरम् ।।

तत्त्वविवेक आदि ग्रन्थों में भी यथा —

"श्रीशङ्करं नौमि करोमि टीकां सिद्धान्तसम्भ्रान्त निरस्तशङ्काम् ।
प्रश्नाधिकारे कमलाकरीये नीलाम्बरोऽहं सुमनीषितुष्ट्यै ।।" (तत्त्वविवेक)

"शारदाब्जधवला सुराबला सेविता सुकविता विशारदा ।
शारदा दिशतु शं सदा मुदा नारदादि वरदादि वरदाकसारदा ।।"

"धीरधीरञ्जनं चासतां बालनम्बालनन्दाम्बिधायाधुना ।
वक्तिमन्देहसन्देह सन्दोहदां दृष्टिकर्मोपपत्तिञ्च नीलाम्बरः ।।"
(दृक्कर्म व्याख्या)

"सकलकलाधरधारी खलबलदारी गिरीशसञ्चारी ।
रक्षतु सदा सदासी विषहारी मां विषाहारी ।।" (मकरन्दवासना)

साथ ही — "उमेशं रमेशं गणेशं दिनेशं
प्रणम्यातिरम्या अगम्या च टीका ।
मया तन्यते बालने भाष्करीये
बुधानां विनोदाय नीलाम्बरेण ।।" (बलन व्याख्या)

२५. पद्मनाभ — ध्रुवभ्रमणयन्त्रकार पद्मनाभ, दत्तोपाधिधारी थे अथवा मिश्रोपाधिधारी किं वा उपाध्यायपदाभिध, निश्चय नहीं कहा जा सकता। परन्तु ये थे नर्मदा देवी के पुत्र इसमें संशय नहीं, क्यों कि ये स्वयं लिखते हैं — "इतिश्रीनर्मदात्मज मैथिलश्रीपद्मनाभ विरचितयन्त्ररत्नावल्यां स्ववृत्तौ ध्रुवभ्रमणाधिकारो द्वितीयः ।" तथा — "श्रीनर्मदानुग्रह लब्धजन्मनः पादारविन्दे जनकस्य सद्गुरोः । नत्वा त्रियामासमयादिबोधकं ध्रुवभ्रमं यन्त्रमिदं ब्रवीम्यथ ।।"

यहाँ स्मरणीय है कि इस नामके मिथिला में अनेक आचार्य हुए हैं, जिनमें दिघवयमूलक, सोदरपुरमूलक और उचितवार मूलक पद्मनाभ मुख्य हैं। वैसे एक दत्तास्पद पद्मनाभ और भी हुए हैं। न जाने वे इन्हीं में से कोई एक थे अथवा सबसे भिन्न, अनुसन्धान सापेक्ष है।

२६. पद्मनारायण राय — पद्मनारायण राय, पूर्णियाँ जिले के सौरिया रियासत के जमीन्दार थे, इसीलिए कहीं- कहीं इन्हें 'राजा राय पद्मनारायण' भी कहा गया है। इन्होंने अपने 'शिशुबोध' नामक ग्रन्थ में किसी राजा रामसिंह की चर्चा की है —

"शिशुबोधः सुबोधाय जायतां विदुषामपि।
श्रीरामसिंहभूपालैर्निर्मितो बुधसत्तमः ॥"

इससे यह भ्रम होना भी स्वाभाविक ही है कि पद्मनारायण राय इन्हीं रामसिंह के सभासद थे। जैसा कि कुछ लोगों ने कहा है। परन्तु आप स्वयं भी नृपति थे, जिसमें सन्देह नहीं —

"प्रणम्यशशिशेखरं दुरितशान्तये धर्म वि-
त्तनोति शिशुबोधकं नृपतिपद्मनारायणः।....."

२७. परमानन्द ठाकुर (१६ वीं श.) — मिथिला राज्योपार्जक म.म. महेश ठाकुर के पुत्र और पलिवार महिषी (महिषीपाली) मूलक शिवसुत दामू उपाध्याय के दौहित्र थे 'सिद्धान्तसुधा'कार परमानन्द ठाकुर। "मिथिलालंकार खण्डवलासं श्रीपरमानन्दठक्कुरविरचिता सिद्धान्तसुधा समाप्ता।" — इस वचन से इनका खण्डवलावंशीय होना नितरां सिद्ध होता है। जब कि मिथिला के इतिहासकारों के अनुसार राजऋषि परमानन्द ठाकुर महान् विरक्त और राज्यलिप्सा से कोसों दूर थे।[२३] यह सत्य है कि आप अपने समय के अद्वितीय सिद्धयोगी और विभिन्न शास्त्रों के निष्णात पण्डित थे। ज्योतिष में आपका सिद्धान्तसुधारत्न (अथवा सिद्धान्तसुधा) निश्चय ही अद्वितीय कृति है, जिसमें आप लिखते हैं — "प्रणतिकृतिसमस्तशस्तहेतु र्व्यसनमहार्णवतारणैक सेतुः।
जगदवन समाप्तिसर्गशाली घटयतु मङ्गलराशिमंशुमाली ॥
नवजलदहुताशै (३१७९) रुज्झितो झर्झरोसौ
विगतविषयविश्व (१३५) साहसाङ्कः शकः स्यात्।
च्युतनिजदशमांशो लक्ष्मणः सेन्दुगोदि (१०९१)-
ग्विषयविधुशरा (५१५) ढ्यो ग्रीष्मगर्भे तुरुष्कः ॥
शकात्तदन्ये विपरीतरीत्या श्रीलक्ष्मणाब्दे तु विशेष एषः।
कुगोदि (१०९१) गूनः स्वनवांशयुक्तः शेषेतु शून्ये शशिनापि शून्यः ॥"

इससे आपके काव्यकौशल की भी झलक मिल जाती है।

२८. ***पक्षधर उपाध्याय*** — यद्यपि मिथिला में कम से कम पाँच 'पक्षधर' तो अवश्य ही हुए हैं। जैसे —

क. माण्डर सिहौल मूलक दर्पणकार वटेश्वर उपाध्याय के पुत्र तिथिचन्द्रिका-तिथिनिर्णयकार धर्मशास्त्री पक्षधर, जो अयाची - भवनाथ के मामा थे और जिनका समय प्रायः चतुर्दश शताब्दी था।

ख. स्मृतितत्त्वनामक धर्मशास्त्र निबन्धकार पक्षधर उपाध्याय, जो आलोककार पक्षधर मिश्र के पूर्ववर्ती हैं और जिनका समय १३ वीं - १४ वीं श. के मध्य माना जाता है।

ग. सोदरपुर भौआल मूलक 'जमसम' ग्राम (?) वासी शाण्डिल्यगोत्रीय महादेव प्रसिद्ध गुणे मिश्र के पुत्र पक्षधर मिश्र, जयदेव नामधारी, पाखू उपनामक, मण्यालोककार, जिनका समय १५ वीं श. माना गया है।

घ. काश्यपगोत्रीय श्रोत्रिय पक्षधर उपाध्याय, रतिमंजरी एवं काव्यप्रकाश व्याख्याकार। प्रायः ये ही पक्षधर ज्योतिर्विद् भी रहे होंगे। इनका भी समय १५ वीं श. के आस-पास ही बनता है।

ङ. विष्णुपुराणके प्रतिलिपिकार पक्षधर जिनके बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं, सिबाय इसके कि उनका निवासस्थान मिथिला की अमरावती नगरी था।

कलाधर, पद्मनारायण की भाँति पक्षधर (१५ वीं.) ने भी 'शिशुबोध' नामक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसका मंगलाचरण है —

"गौरीपयोधर स्पर्शद्विगुणीकृत वेपथुः।
हरो गौरीमुखामोद-सतृष्णः पातु नः सदा॥"

शिशुबोध की अन्तिम पुष्पिका में आपने लिखा है —

"सुबोधः शिशुबुद्धीनां श्रीपक्षधरनिर्मितः।
उपकाराय सर्वत्र कल्पिता सर्वसम्मतः॥
अस्ति हेतुरुदयेऽपि हि पूर्वा गर्वभाजनमियन्तु परैव।
सर्व दिग्विहरणेन विरक्तो यत्र भानुरनुरज्य निमग्नः॥"

२९. ***प्राणधर मिश्र*** — आपने ज्योतिष में 'जातकचन्द्रिका' नामक ग्रन्थ

रचा है, जिसमें आप लिखते हैं —

"जयति किरणमाली पद्मिनीप्रीतिकारी
निशिचरसुखहारी खण्डितादुःखकारी।
तिमिरचयनिहन्ता सर्वरोगापहन्ता
मुनिजनसुखकर्त्ता सर्वपापप्रहर्त्ता॥
व्यासहारीतगर्गाणां मतमालोक्य विस्तरम्।
श्रीप्राणधरमिश्रेण कृता जातकचन्द्रिका॥"

इसके अतिरिक्त जातकचन्द्रिका के पद्यों से आपकी काव्यकुशलता एवं साहित्यिक प्रतिभा का भी परिचय प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ यथा —

"यस्यासन्मदमूर्त्तयः प्रतिनिशं सौधाश्रमं चारिणा-
स्तुण्डं ताण्डवयन्ति तण्डुलधिया तारासुपाररता।
इन्दौ कोमलकुन्दकन्दुकधिया धुन्वन्ति हस्तोत्पलं
किञ्चिन्क्रोडमृगं स्पृशन्ति शिशवः क्रीडा कुरङ्गाशया॥"

३०. बलदेव मिश्र — राजपण्डित बलदेव मिश्र से भिन्न आप ज्योतिष के त्रिकोणमिति, भास्करीय बीजगणित आदि के रचयिता तथा सहरसा के 'वनगाँव' ग्राम निवासी थे। आपका जन्म १८७१ ई. में ०१ नवम्बर को हुआ था तथा प्रारम्भिक शिक्षा अपने ही गाँव में पाने के बाद आप बंगाल के मालदोआर रियासत के राजा टङ्कनाथ चौधरी की आर्थिक सहायता से आगे की पढ़ाई के लिए काशी आ गये। यहीं गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज में आपका नामाङ्कन हुआ तथा आप म.म. प. सुधाकर द्विवेदी से ज्योतिष का सम्यक् अध्ययन करने लगे। १८९० ई. में आप सम्पूर्ण मध्यमा की परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किये, जो स्थान आपका आगे की परीक्षाओं में भी बना रहा। १८९५ ई. में कलकत्ता की ज्योतिषतीर्थ परीक्षा और १९०० ई. में बनारस क्वीन्स कॉलेज से आचार्य की उपाधि प्राप्त की। कहते हैं जब आप काशी में अध्ययन कर रहे थे तो आपके ही छात्रावास-प्रकोष्ठ में (म.म. डॉ.) गोपीनाथ कविराज भी रहा करते थे।

आचार्य करने के बाद आप कुछ दिनों तक काशी के किसी संस्कृत विद्यालय में अध्यापन किये, फिर बाद में काशी विद्यापीठ आ

गये, जहाँ आप १९३० पर्यन्त गणित विभाग में सेवारत थे। जब गया में खुरसुरा संस्कृत विद्यालय में प्राचार्य का पद रिक्त हुआ तो आप यहाँ विशेष बुलावे पर १९३० में आ गये, फिर बाद में आप पटना के काशीप्रसाद जायसवाल शोध संस्थान में भी हस्तलेख विभाग में काम किये, परन्तु यहाँ आप कुछ भी वेतन नहीं लेते थे।

१९३३ ई. में हुए ज्योतिष सम्मेलन में आप जहाँ सिद्धान्त पक्ष के प्रतिनिधि थे, वहीं १९५० में हुए प्राच्यविद्या महाधिवेशन में ज्योतिष विभागीय अध्यक्ष भी बनाये गये थे। १९४८ एवं १९५१ में जब क्रमशः विजयवाड़ा एवं पुरी में अ.भा. पंचाङ्गकार सम्मेलन हुआ तो आपकी भी उसमें सक्रिय सहभागिता थी। १९५५ ई. में आयोजित उज्जैन के त्रिदिवसीय कालिदास समारोह में एक दिन का सभापतित्व आपही ने किया था।

आपकी रचनाओं में त्रिकोणमिति तथा भास्करीय बीजगणित की टिप्पणी तो हैं हीं, वल्कि आपने अपने गुरु सुधाकर द्विवेदी-कृत दीर्घवृत्ति, चलन-कलन तथा चलन राशिकलन का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन भी किया है। साथ ही आर्यभट्टीयम् की संस्कृत-हिन्दी व्याख्या करने के बाद 'सरल त्रिकोणमिति' के नामसे एक पृथक् ग्रन्थ की भी रचना की थी।

३१. भरत उपाध्याय — माण्डर वंशीय काश्यपगोत्रीय प. यशोधर उपाध्याय के पुत्र और प. श्रीराम उपाध्याय के अनुज थे समरसारव्याख्याकार आचार्य भरत, जिनका मातृकुल था घोसौत मूलक वत्सगोत्रीय काव्यप्रदीपकार म.म. गोविन्द ठाकुर के परिवार में। जैसा कि इन्होंने अपना परिचय दिया है — "आसीद्वत्सकुले कृतीरविकरो घोसौतवंशे मणिः

तद्वंशे किलदेवमूर्त्तिरभवद् गोविन्दनामाकृती।
तस्याष्टात्मजके द्वितीय इति यो दामोदरोऽभूत्सुतः
तत्सूनो सुतपुत्रिकां नतशिरां वन्देम्बिकां मालतीम्॥
आसीत्काश्यपकेनृसिंह इति यो दुर्योधनान्माण्डरैः
तद्वंशे हि वटेश्वरोऽस्य च कुले श्रीयज्ञदत्तः सुधीः।
तत्सूनुर्मिथिलामणिर्नरहरिः सिद्धान्तिकोभूत्कृती

तत्पौत्रस्यसुतं यशोधरमहं तातं हि वन्दे नतः ।।"

इन्होंने न केवल रामचन्द्र कृत समरसार की व्याख्या की थी, वल्कि 'रसाला' नामक एक स्वतंत्र कृति की भी रचना की थी।

३२. भवेश उपाध्याय — बेलौंचय मूलक भारद्वाज गोत्रीय भवेश उपाध्याय नारी-भदौन ग्रामवासी थे। ये थे तो मूलतः वैयाकरण, पर ज्योतिष में भी इनकी अवाध गति थी। इसी कारण आपने श्रीपति कृत 'जन्मपद्धति' एवं भास्कराचार्य कृत 'लीलावती' पर अलग- अलग व्याख्यानों की रचना की है। ये दोनों ही व्याख्यान उपलब्ध हैं। यहाँ दो वस्तु विशेष उल्लेखनीय हैं, जिनमें प्रथम यह कि इनके पुत्र थे धर्मशास्त्री वर्द्धमान उपाध्याय, जो म.म. शङ्कर मिश्र एवं अभिनव वाचस्पति मिश्र के शिष्य थे और जिन्होंने दण्डविवेक आदि की रचना की है। और द्वितीय यह कि ये सोदरपुर मूलक उजान ग्रामवासी बालकवि कृष्णदत्त के पिता भवेश उपाध्याय से भिन्न एवं प्राचीन हैं।

३३. भानुनाथ दैवज्ञ — ज्योतिर्विद् भानुनाथ उपाख्य भाना झा खौआल वंशीय पिलखवार ग्रामवासी म.म. दीनबन्धु प्रसिद्ध नेनन उपाध्याय के पुत्र थे। काश्यपकुल प्रशस्ति के आधार पर यह कह सकते हैं कि आप दयाराम के पौत्र और महिपति के प्रपौत्र थे। म.म. दार्शनिक शिरोमणि बबुजन झा इन्हीं भानुनाथ के अनुज[२४] थे। कुछ लोग इन्हें सरिसब ग्रामवासी भी मानते हैं[२५], जो भ्रामक मात्र है। १९ वीं शताब्दी में मिथिलेश महेश्वर सिंह के दरवार में रहते हुए उनके मनोविनोदार्थ इन्होंने 'प्रभावतीहरण' नामक नाटक की रचना की थी। इसके साथ ही, आपने 'शृंगारमंजरी' की भी रचना की है। आप अपने समय में 'अपर गोनू झा' के नामसे जाने जाते थे, क्यों कि उन दिनों मिथिला भर में आपके जैसा धूर्त्त और परिहासप्रिय दूसरा कोई नहीं था।[२६] ज्योतिष में आपका बनाया हुआ 'व्यवहाररत्न' प्रसिद्ध है, जिसमें आपने लिखा है —

"नत्वा मुकुन्दस्य पदारविन्दं स्वर्गापवर्गद्रुमराजकन्दम्।
श्रीभानुनाथः कृतचारुयत्नं करोम्यहं सद्व्यवहाररत्नम्।।
स्वकृतपरकृताभ्यां संग्रहोऽयं मदीयः

सुललितपदरम्यः सर्वलोकाभिगम्यः।
निखिलवरकुलानां मैथिलानामिदानीं
जनयति परितोषं त्यक्तनिःशेषदोषम्॥
काव्यं श्रीभानुनाथस्य प्राचीनगणकस्य च।
माधुर्यमनयोर्ज्ञेयं शर्करा क्षीरयोरिव॥
दुर्जनैरपि क्षन्तव्यमपराधद्वयं मम।
सज्जनानां विनोदाय यतो ग्रन्थं करोम्यहम्॥
विदोपदेशं खलु बालकानां चेतो विशुद्धिर्न विधानपूर्वा।
यतस्ततः प्रागुपदेशमेव क्रमेण वक्ष्यामि हितञ्च तेषाम्॥"

इसी ग्रन्थ से आपकी प्रतिभा, योग्यता, सरलता और सज्जनता पर भी प्रकाश पड़ता है —

"नाधीतं शब्दशास्त्रं नवरसरुचिरं काव्यवर्गादिकं वा
कोषोबालं कृतिर्वा स्मृतिरपि सकला तन्त्रविद्यापि नैव।
वाणीमात्रप्रसादादविकलमनसा शास्त्रसारं निरुक्तं
प्रध्वंसस्तत्र यद्यत्खलजनकुधिया सज्जनैः क्षम्यतां तत्॥"

३४. मधुसूदन झा (१९ वीं श.) — विद्यावाचस्पति मधुसूदन झा (या ओझा) किसी परिचय के मोहताज नहीं हैं, जो रहते तो थे जयपुर में, पर निवासी थे सीतामढ़ी मण्डल के। मूलतः वैदिक और वैयाकरण झा जी ज्योतिष के भी अच्छे जानकार थे, वल्कि 'कादम्बिनी' नामक ज्योतिषशास्त्रीय ग्रन्थ के रचयिता भी थे। इस ग्रन्थ के कुछ पद्य अवलोकनीय हैं —

"यस्याक्षरस्य वचः सत्यं नियति प्रसमीक्षितुः।
तद्दिष्टेन यथा गच्छन्नभीष्टी सिद्धिमश्नुते॥

- - - - - - - - - - - -

एभिरेव यथावेद तपसा भावितात्मभिः।
यदुक्तं वृष्टि विज्ञानं यदिहानुब्रवीम्यहम्॥
तदुक्तौ लेखदोषेण कालदोषेण वा क्वचित्।
अन्यथात्वञ्च सञ्जातं तद्विशोध्यं परीक्षया॥"

और भी जैसे —

"एकमिद्र धनुस्तर्हि वायुरत्युग्रमुद्वहेत् ।
सूर्यांशु मरुद्भ्राणां संघातो दण्डवत्स्थितः ।।
सदण्डकोणगो राज्ञां द्विजानां दिक्षु दुःखदः ।
प्राङ्मध्यसन्धिदृष्टोऽयं युद्धसम्भावनाकरः ।।"

३५. *मधुसूदन मिश्र* — ज्योतिष प्रदीपांकुर ग्रन्थ के रचयिता मधुसूदन मिश्र न केवल ज्योतिषी थे, वल्कि धर्मशास्त्री भी उद्भट्ट थे। धर्मशास्त्र में सुनते हैं आपने किसी ग्रन्थ की रचना की थी, परन्तु कुछ लोग 'मुहूर्त्तसिन्धु' को ही वह कृति स्वीकार करते हैं। किन्तु मेरे मत में यह ग्रन्थ धर्मशास्त्र का न होकर ज्योतिष का ही लगता है। फिर भी ग्रन्थावलोकन के अभाव में कुछ कह पाना कठिन है। इसी प्रकार इनका 'भावप्रकाश' न जाने किस विषय (आयुर्वेद ?) से सम्बन्ध रखता है। जिसमें आप लिखते हैं —

"विभूतिमानो विगदेहवासी सुखीविलासी धनसंग्रही च ।
सदानरोजीवति मानयुक्तः तपीव्ययेशे व्ययगे नरश्च ।।"

३६. *मुकुन्द झा* — 'मुकुन्द झा ज्योतिषी' से प्रसिद्ध आप मधुबनी जिले के राँटी ग्रामवासी थे, इनका परिचय संक्षेप में ही सही, किन्तु इनकी ही 'जन्मचिन्तामणि' से प्राप्त हो जाता है। जिसमें आप लिखते हैं —

"लसन्मेघकृष्णं मुदाराघया विद्युतेव प्रणम्यात्र सन्मैथिलोऽहम् ।
प्रवक्ष्ये सुराँटीपुरस्थाल्पबुद्धिर्मुकुन्दाभिधो जन्मचिन्तामणिम्बै ।।
महज्जातकं जातकाल्पञ्च दृष्ट्वा भुजङ्गप्रयातैः शिवा जातकञ्च ।
प्रबन्धं करोम्यत्र गोपालनामा स्वशिष्याय पत्री सुलेखस्य रीतिम् ।।"

साथ ही सुनते हैं आपकी काव्यप्रतिभा भी प्रशंसनीय थी। आपने कोई काव्य भी बनाया था, पर आज वह उपलब्ध नहीं है। फिर भी जन्मचिन्ताम[illegible] से आपकी काव्यप्रतिभा का परिचय चल ही जाता है। उदाहरणार्थ जैसे —

"महद्भिर्मदीयं कृतं कुत्सितं मत् तदीयं सुशुद्धं वरकृत्य लोके ।
प्रवाच्यं सुबोधं मम प्रार्थना स्यान्निबद्धाञ्जलिः सन्कृपादृष्टिभिस्तैः ।।"

३७. *मुरलीधर झा* — 'वेदाङ्गज्योतिष' ज्योतिषशास्त्र का एक ऐसा

ग्रन्थ है, जो एक होते हुए भी दो वाचनाओं में उपलब्ध होता है। एक ऋग्वेदीय और दूसरा यजुर्वेदीय। म.म. सुधाकर द्विवेदी ने यजुर्वेदीय वाचना 'याजुष ज्योतिष' पर एक विलक्षण भाष्य की रचना की थी। ये द्विवेदीजी थे क्वीन्स कॉलेज के ज्योतिष विभागाध्यक्ष पण्डित देवकृष्ण झा के छात्र, जिनकी कोई रचना तो उपलब्ध नहीं होती, पर उनके वैदुष्य का परिचायक इनके शिष्य धन ही है, जो किसी रचना से कम नहीं। उन दिनों काशी में छोटेलाल बार्हस्पत्य नाम के एक बहुत बड़े ज्योतिर्विद् रहा करते थे, जो द्विवेदीजी के उस भाष्य पर अनेकों आक्षेप किये और अपने उन आक्षेपों को, आपत्तिजनक स्थलों को एक निबन्ध के माध्यम से प्रकाशित भी करवाये। भला, किसी छात्र को यह कैसे सह्य हो कि उनके पूज्य गुरुदेव के मत का इस तरह सार्वजनिक खण्डन किया जाय। म.म. मुरलीधर झा से रहा न गया, इन्होंने अपने गुरु सुधाकर द्विवेदी के भाष्य पर 'लघुविवरण' नामक व्याख्या की रचना की, जिसमें बार्हस्पत्यजी के पक्षों का खण्डन और अपने गुरु के मतों का मण्डन सतर्क और प्रमाणों सहित किया था। एक वर्ष बाद प. झा की इस टीका का अंग्रेजी अनुवाद १९०८ ई. में काशी के मेडिकलहॉल प्रेस से जब प्रकाशित हुआ तो विद्वत्समाज में तहलका मच गया। इन्होंने अपने लघुविवरण में लिखा है — "श्रीमद्द्विवेदि-गुरुवर्य-पदारविन्द सच्चिन्तन-स्फुरितबोधलवः करोति। झोपाख्य चाननसुतो मुरलीधरोऽस्य भाष्यस्य तद्विवरणं लघु संशयघ्नम्॥"

हमारे इस महान् ज्योतिर्विद् गुरुभक्त मुरलीधर झा का जन्म वर्त्तमान मधुबनी जिले के भराम नामक ग्राम में प. चानन झा के घर १८६९ ई. में हुआ था। पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, तो आपके मातामह, चपाही रियासत के राजा रसिक नारायण सिंह के दामाद फकिरन झा ने अपने गाँव 'श्यामसिद्धव' में कुछ जमीन देकर बसा दिया। तब से आप भराम छोड़कर ननिहाल में ही रहने लगे। बालक मुरलीधर के नाना और मामा दोनों ज्योतिषी थे, साथ ही चानन झा के अनुज अर्थात् आपके चाचा **विद्यानाथ झा** भी अपने समय के मूर्द्धन्य ज्योतिर्विद् माने जाते थे। फलतः आपकी भी अभिरुचि ज्योतिषविद्या के प्रति जगी। प्रारम्भिक शिक्षा पहले मामा के घर, फिर चाचा के घर,

पाने के बाद १८८५ ई. में आगे की पढ़ाई के लिए आप वाराणसी आ गये। यहीं सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद् म.म. प. सुधाकर द्विवेदीजी के श्रीचरणों में बैठकर ज्योतिष का अध्ययन किया तथा क्वीन्स कॉलेज से ज्योतिषाचार्य की परीक्षा में अव्वल आया। यह आपकी शिक्षा के प्रति गहरी अभिरुचि और लगनशीलता ही थी कि द्विवेदीजी से पढ़ने के बाद जो भी समय मिलता, उसमें आप प. मधुसूदन झा से मुग्धबोध व्याकरण, न्याय और साहित्य की शिक्षा प्राप्त करते रहे।

आपकी योग्यता और प्रतिभा से प्रभावित होकर क्वीन्स कॉलेज के तत्कालीन प्रधानाचार्य डॉ. थीबो साहब ने आपको अपने कॉलेज के ज्योतिष विभाग में सादर आमंत्रित कर लिया। १९०६ में यह पद मैथिल विद्वान् प. **दीनानाथ मिश्र** के अवकाश। ग्रहण करने से रिक्त हुआ था। यहाँ रहकर आपने अनेकों योग्य छात्रों को तैयार किया, जिनमें मैथिल दैवज्ञों में परिगणनीय है -- कलकत्ता विश्वविद्यालय के मैथिली साहित्य विभागाध्यक्ष प. **बबुआजी मिश्र** (कोइलख), राजेन्द्रवंशवृत्तम् काव्य के रचयिता पद्मश्री प. **विष्णुकान्त झा**, हिन्दू विश्वविद्यालय के ज्योतिषाध्यापक प. **चन्द्रशेखर झा**, बैद्यनाथधाम संस्कृत विद्यालय के ज्योतिर्विद् प. **गंगाधर मिश्र**, सुप्रसिद्ध गणितज्ञ प. **मुरलीधर ठाकुर**, सन्यासी संस्कृत कॉलेज के प. **सीताराम झा**, रानी चन्द्रावती श्यामा विद्यालय के प. **मधुकान्त झा**, मटिहानी संस्कृत विद्यालय के प्रधानाचार्य प. **अजब लाल ठाकुर**, क्वीन्स कॉलेज के प. **अनूप मिश्र**, प. **उमाकान्त झा**, प. **सुधाकर झा**, प. **सरयूरमण झा** आदि।

१७ वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध ज्योतिषी मुरलीधर झा (कालिदास झा के पौत्र) से भिन्न म.म. प. झा अपने गुरु द्विवेदीजी के ग्रन्थों पर तो टीका-टिप्पणी किये ही हैं, वल्कि सिद्धान्त ज्योतिष के अन्य ग्रन्थों पर भी आपकी विलक्षण टीकाएँ हैं। अबतक अप्रकाशित बराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' को किसी ने छूने का साहस नहीं किया था। कारण यह पाण्डुलिपि जीर्ण-शीर्ण थी, कीट दंशों से कई शब्द नष्ट हो गये थे। इसे

आपने अपने वैदुष्य से न केवल सुसंशोधित किया वल्कि विद्वत्तापूर्ण सम्पादन भी किया। इस ग्रन्थ के सम्पादन से आपको न केवल प्रचुर ख्याति मिली, वल्कि सर्वत्र आपकी योग्यता की भूरि - भूरि प्रशंसा भी होने लगी। इसके अतिरिक्त शिवस्वरोदय की हिन्दी व्याख्या, लीलावती 'उपपत्ति', बीजगणित टिप्पणी, सिद्धान्ततत्त्वविवेक, बाबूदेव शास्त्री कृत त्रिकोणमिति का सावतरण सम्पादन, अर्जुनतपस्या (मैथिली उपन्यास), हितोपदेश, मैथिली व्याकरण, मिथिलामोद (मैथिली पत्रिका का सम्पादन) आदि आपकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। अध्ययन-अध्यापन से यदि इन्हें समय मिला होता तो निश्चय ही इनकी मौलिक प्रतिभा का प्रसाद भी हमें प्रचुर परिमाण में प्राप्त हुआ होता। अन्त में बस इतना ही कि —

"विद्यया भास्करः साक्षात्क्षमया करुणाकरः।
कलाधरः समुन्नत्या संज्ञया मुरलीधरः॥"

३८. राघव झा — सुप्रसिद्ध धर्मशास्त्री राघव झा से भिन्न ज्योतिषी राघव झा का पूरानाम 'राघवानन्द' और निवासस्थान तरौनी था, परन्तु ये सबसे अधिक 'राघव' से ही प्रसिद्ध थे। ज्योतिष में इन्होंने एक 'जातकपद्धति' की रचना की थी, जिसमें आपने लिखा है —

"नत्वा सरस्वतीं देवीं राघवानन्दशर्मणा।
चक्रे विदग्धतोषाय स्पष्टा जातकपद्धतिः॥"

इसी ग्रन्थ के अन्त में आपने कहा है —

"इति विदग्धदर्शनोज्ञेयो विस्तारो जातकोदितः।
राघवीयामिमान्तुष्टि प्रदां जातकपद्धतिम्॥
विज्ञायराजमान्यः स्याद्धीरः कीर्त्तिञ्च विन्दति।....."

३९. रामचन्द्र उपाध्याय — 'समरसार' कार आचार्य रामचन्द्र उपाध्याय का अन्य कुछ भी परिचय ज्ञात नहीं, सिबाय इसके कि —

"वंशे वत्समुनीश्वरस्य शिवदासाख्यादुरुख्यातितः
सम्राडग्नि चिदाय यस्य जनकः श्रीसूर्यदासोजनिम्।

यन्मातुर्यशसा दिशो दश विशालाक्ष्यावलक्षा व्यधात्
स प्राज्यं स्वरशास्त्रसाररचितं रामोवसन्नैमिषे ।।"

कुछ लोग आपको पलिवार समौलमूलक 'रामचन्द्र मिश्र' से अभिन्न बताते हैं, पर यह अनुसन्धान सापेक्ष है।

४०. लक्ष्मीदास मिश्र (१५ वीं श.) — अभिनव वाचस्पति मिश्र (धर्मशास्त्री) के ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीदास मिश्र, स्वरोदयकार नरहरि के अग्रज हैं। आपका मूल पलिवार समौल और गोत्र वत्स था। इन्होंने भास्कराचार्य कृत सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थ की 'गणिततत्त्वचिन्तामणि' नामसे एक व्याख्या की रचना की है। जिसमें आप लिखते हैं — "इति श्रीभास्कराचार्य कृत सिद्धान्तशिरोमणि गणिताध्यायव्याख्यानोदाहरणे श्रीवाचस्पतिमिश्रात्मज श्रीलक्ष्मीदासमिश्रविरचिते गणिततत्त्वचिन्तामणौ .....।" व्याख्या के आदि में दिये गये कुछ पद्यों से आपके साहित्यिक पाण्डित्य का भी आभास मिल जाता है। उदाहरणार्थ जैसे —

"अस्मादासीदसीमप्रवरगुणगरिष्ठस्तत्ववादेवरिष्ठः
प्रेमोल्लासि प्रमेयग्रथितविविधवद्यो वीततन्द्रः कवीन्द्रः।
ख्यातो वाचस्पतिः सुप्रचुररुचिरकीर्त्त्या कार्तिकेन्द्वच्छकान्त्या
शुभ्रांशुज्ञोशनोकरि गुरुरविजकज्ञायोवलक्षाश्चकारे ।।

- - - - - - - - - - - -

योऽसौ संतुलितो जगद्गुरुतया धात्रा धरित्रीमितः
स्थानेन्यस्त्रिदिवं गतोत्रगुरुतामात्रेण वाचस्पतिः।
माक्रामेत्कलिकलिकालकल्मषकला स्वर्लोकमित्याकुलै-
राहूतः पुरु हूतमुख्य विवुधैर्यः स्वर्गमध्याध्वगात् ।।"

इसी प्रकार आपके समय को दरसानेवाले इस पद्य को भी कैसे भुलाया जा सकता है ?—

"कृशानुना सत्यसमुद्र चन्द्रमा (१४२३) मिते गते शाकपतेरनेहसि।
विशुद्धसिद्धान्तशिरोमणेः सतां विवोधबृद्ध्यै विवृतिर्मयोदिता ।।"

४१. वररुचि — वररुचि विक्रमादित्य के नवरत्नों में अन्यतम हैं, पर

ज्योतिर्विद् वररुचि विवादास्पद हैं। कुछ लोग जहाँ उन्हें विक्रमसभ्य वररुचि से भिन्न नहीं मानते, वहीं कुछ विद्वान् इन्हें उनसे अर्वाचीन, शक सं. १४१३ में विद्यमान मानते हैं। साथ ही कुछ विद्वानों के मत में मुहूर्त्तभार्गवकार वररुचि तथा वाक्यकरणकार वररुचि भी एक नहीं हैं। जो भी हो, पर मेरी धारणा दोनों को दो नहीं मानती, कुछ हेतु भी हैं और कुछ भाषा साम्य भी। मुहूर्त्तभार्गवकार ने अपने ग्रन्थ में लिखा है —

"नमस्कृत्य प्रवक्ष्यामि देवदेव जनार्दनम्।
अहं वररुचिर्नाम तत्त्वं भार्गवभाषितम्॥
यानि वाक्यानि शुक्रेण पृच्छते वृत्रवैरिणे।
उक्तानि तानि लिख्यन्तं ग्रन्थादाहृत्य भार्गवात्॥"

जब कि 'वाक्यकरण' के ग्रन्थावलोकन से यह अवश्य ही लगता है कि ज्योतिर्विद् वररुचि विक्रमसभ्य नहीं होंगे। भले ही ये १४१३ श.सं. (१४९१ ई.) वाले वररुचि रहे हों या १०. वीं - ११ वीं शताब्दी के वररुचि, पर ई.पू. प्रथम शताब्दी के नहीं होंगे — ऐसा वाक्यकरण से प्रतीत होता है। फिर भी निश्चय रूप से कुछ कहना कठिन है।

४२. *वसन्त मिश्र* — दैवज्ञ शिरोमणि वसन्त मिश्र जातकचन्द्रिकाकार आचार्य प्राणधर मिश्र के पौत्र एवं शूलपाणि मिश्र के पुत्र थे। इनकी माता का नाम सची देवी और मातामह का नाम गंगाधर था। जैसा कि इन्होंने लिखा है —

"श्रीशूलपाणितनयः पौत्रः प्राणधरस्य यः।
गंगाधरस्य दौहित्रः श्रीसचीमातृसम्भवः॥
क्रियते श्रीवसन्तेन तेन जातकदर्पणम्।
अष्टाक्षरपदश्लोक समूहैर्जनरञ्जनः॥"

इस 'जातकदर्पण' की रचना आपने काशी में ही की थी, वहीं श्रीकाशीराज संस्कृत कॉलेज में आप ज्योतिष के विभागाध्यक्ष भी थे। यह कहा जाता है कि १९ वीं शताब्दी में विद्यमान रहे आपका निवासस्थान 'टभका' ग्राम[२७] था और आपने काशीनरेश के आश्रय में रहकर 'छन्दोलता' नामक ग्रन्थ की रचना भी की है; जिसके दो पद्य उद्धृत करना चाहता

हूँ — "सर्वेभ्योऽप्यधिकं प्राप्तुमेकत्रैवार्थमुत्तमम्।
क्रियते गद्यपद्याभ्यां वसन्तेनैष संग्रहः॥
तान्नौमि पिंगलहलायुधसूरिवर्गान्
यत्सूत्रवृत्तिसुमनः परिकल्पयन्ती।
छन्दोलताद्य निजमूललताच्छदान्मे
संसर्गतः स्फुटति सूरि मनोऽलिरत्यै॥"[२८]

४३. *विद्याकर मिश्र* — विद्याकर साहस्रक के रचयिता श्री विद्याकर मिश्र, मूलतः साहित्यिक थे, जिन्होंने अनेक ग्रन्थों पर टीका लिखी है। ज्योतिष में भी आपकी गहन पैठ थी, स्वाध्याय था तथा भास्कराचार्य के 'ऋतुवर्णन' पर आपने एक विलक्षण व्याख्या लिखी है, जिसके ये पद्य अवलोकनीय हैं —

"गोपीपीनपयोधर पङ्कज-वरषट्पद श्रीकृष्णः।
कल्मषतरुवरकाननदाहे दावानलः पायातः॥
सारदी सारदी भेदे शुभां नत्वा करोन्मुहुः।
ऋतुवर्णन सद्व्याख्यां श्रीविद्याकरमैथिलः॥"

४४. *श्रीदत्त उपाध्याय* — धर्मशास्त्री श्रीदत्त मिश्र से भिन्न इनके बारे में कहा जाता है कि श्रीदत्त उपाध्याय दरिहरामूलक विभूति थे। परन्तु कुछ लोगों ने इस मत का खण्डन कर इन्हें खौआल वंशीय बताया है। परन्तु उत्पलभट्ट कृत 'सप्तति' पर अपनी विवृति लिखने वाले श्रीदत्त निश्चय ही १४ वीं शताब्दी में हुए हैं।[२९] ये अपने समय के महान् दैवज्ञ थे तथा सप्तपादार्थिक, समयप्रदीप आदि के कर्त्ता भी। इन्होंने सप्तति विवृति में लिखा है —

"यत्प्रायोत्पलभट्टउत्तमयशाः प्रश्नस्य विज्ञापकम्।
दैवज्ञस्य हितेच्छया बहुमतं लुप्तं विनाध्यापकम्॥
तत्सत्तार्किकचक्रपूजित नगेशात्मप्रसूतः स्वयम्।
श्रीदत्तो विवृणोति विष्णुविनतो विज्ञाय बुद्ध्याधुना॥"

४५. *श्रीनिवास मिश्र* — १६ वीं शताब्दी में मिथिला के 'सिंघासो' ग्रामवासी श्रीनिवास मिश्र कालिदास कृत 'सेतुबन्ध' नामक प्राकृत महाकाव्य

की 'सेतुदर्पणी' टीकाकार[३०] हैं। इन्होंने ही ज्योतिष में 'अद्भुतसागर' और 'शुद्धिदीपिका' की रचना की थी। शुद्धिदीपिका में आप लिखते हैं — "तृष्णातरङ्गदुस्तरसंसाराम्भोधिलङ्घने तरणिः।

उदयवसुधाधरारुण मुकुटमणिः पातु वस्तरणिः॥
अस्तङ्गतवति मिहिरेऽतिमलिनि दोषाकुले च गोविभवे।
उद्वाहादि शुद्धिग्रहणार्थं दीपिका क्रियते॥
विफलान्यन्यशास्त्राणि विवादस्तेषु केवलम्।
सफलं ज्योतिषं शास्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ॥"

इसी ग्रन्थ के अन्त में जैसे —

"सविस्तरे ज्योतिषि यत्नतः कृतां समस्त धर्मव्यवहार दर्शनीम्।
श्रीश्रीनिवासेन समाहृतामिमाममत्सराः पश्यत शुद्धिदीपिकाम्॥"

४६. *सीताराम झा* — आधुनिक मैथिल ज्योतिषियों में सर्वाधिक प्रसिद्धि प. सीताराम झा को ही मिली है, जिनका सर्वाधिक जीवन काशी में व्यतीत हुआ। कहना अनुचित न होगा कि म.म. प. मुरलीधर झा के बाद आपही थे, जिन्होंने काशी में ज्योतिष विद्या के माध्यम से मिथिला का प्रतिनिधित्व भी किया।

१८९० में दरभंगा के चौगमा ग्राम में आपका जन्म हुआ। ज्योतिष की प्रारम्भिक शिक्षा अपने ही गाँव में पाकर आप कलकत्ते से ज्योतिषतीर्थ किये। महेश्वरलता संस्कृत विद्यापीठ, लोहना के प्राध्यापक और कन्हौली ग्रामवासी मूर्द्धन्य ज्यो. प. श्रीनन्दन झा आपके गुरु थे। अनन्तर आप काशी आ गये और यहीं राजकीय संस्कृत कॉलेज से ज्योतिषाचार्य की परीक्षा पास की।

१९२१ में आपकी नियुक्ति काशी के अपारनाथमठ स्थित संन्यासी पाठशाला में हुई, जो बाद में संन्यासी संस्कृत महाविद्यालय के नामसे जाना जाने लगा। उन दिनों पाठशाला के प्रिंसपल म.म. देवीप्रसादजी शुक्ल हुआ करते थे, जो आपकी विद्वत्ता और अध्यापन शैली से बड़े प्रभावित थे। अपनी नियुक्ति से लेकर अवकाश ग्रहण पर्यन्त आप इसी विद्यालय की सेवा करते रहे; जब कि १९६० से ६२ पर्यन्त आप इसके

प्रिंसपल भी थे और इसी पद से आप अवकाश ग्रहण भी किये। फिर बाद में कुछ दिनों के लिए आप श्यामा विद्यालय के भी प्राचार्य बनाये गये।

दैवज्ञ प्रवर प. झा की रुचि लेखन में भी अद्भुत थी। आप न केवल संस्कृत में ही रचना किया करते थे, वल्कि हिन्दी-मैथिली में भी ग्रन्थ प्रणयन की दिशा से विमुख नहीं थे। यहाँ तक कि मैथिली भाषा के तत्कालीन उत्कृष्ट कुछ कवियों में भी आपकी गणना हुआ करती थी। इनकी कोमल कान्त पदावली से युक्त मैथिली कविता बड़ी ही सुन्दर, हृदयावर्जक एवं प्रभावशाली होती थी। तभी तो आपकी कई रचनाएँ बिहार एवं झारखण्ड के कई विश्वविद्यालयों में पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत हैं। मैथिली में आपकी कविता तो विलक्षण होती ही थी, वल्कि संस्कृत की व्युत्पत्ति और काव्यकौशल भी आपके प्रशंसनीय थे। आपने बहुत सारे ग्रन्थों की व्याख्यायें की, सम्पादन किया और स्वयं भी मौलिक कृतियों की रचना की। आपकी संस्कृत रचनाओं में गणित सोपान, गोल परिभाषा, जन्मपत्र विधान, गणित चन्द्रिका, गोलबोध, ग्रहफल दर्पणम्, अहिबलचक्र, ताजिक नीलकण्ठी, बृहज्जातक, सूर्यसिद्धान्त, मुहूर्त्तमार्त्तण्ड, मानसागरी, जातकाभरण आदि की व्याख्यायें मुख्य हैं। जब कि आपके सम्पादन में बृहत्पाराशर होराशास्त्र के अनुशीलन से आपकी वैदुषी का परिचय सहज प्राप्त हो जाता है। हिन्दी में वर्णव्यवस्था का इतिहास और काल पंचांग विवेक जहाँ आपकी अपूर्व रचनाएँ हैं; वहीं मैथिली में आपने अम्बचरित महाकाव्य, अलंकारदर्पण, भूकम्पवर्णन, श्रीमद्भगवद्गीता का पद्यानुवाद, मैथिलीकाव्योपवन आदि कई रचनाएँ की हैं। इसी प्रकार व्यवहार विवेक, केशवीय जातकपद्धति, खेटकौतुक, गर्ग मनोरमा, ग्रहलाघव, जातकालंकार, लघुजातक, जैमिनिसूत्र, भावफलाध्याय, मुहूर्त्तचिन्तामणि टीका, रेखागणित, लग्नवाराही, लघुपाराशरी, लीलावती टीका, सारावली, शीघ्रबोध आदि कुल ४०-४५ रचनायें आपकी देन हैं।

मिथिला नरेश महाराज रामेश्वर सिंह एवं कामेश्वर सिंह के द्वारा आप क्रमशः 'धौतपत्र' एवं 'स्वर्णपदक' से सम्मानित किये गये थे। १९५९ में जहाँ आपको वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय ने दो सौ

रूपये की मासिक वृत्ति देकर सम्मानित किया था, वहीं १९६१ में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने १५००/- रुपयों के साहित्यिक पुरष्कार से भी आपको गौरवान्वित किया था। काशी की गीर्वाणवाग्वर्धिनीसभा द्वारा प. झा को 'ज्योतिषरत्नाकर' की उपाधि दी गयी थी, जब कि संन्यासी संस्कृत महाविद्यालय ने आपको 'ज्योतिषसम्राट्' की विरुद से विभूषित किया था। अनेक सभा-सम्मेलनों में सम्मानित किये गये प. जी का स्वभाव निश्छल और सौम्य था, प्रगतिवादी उदार विचारों से युक्त था। किसी भी जिज्ञासु की समस्या का समाधान आप बड़ी प्रसन्नता से कर दिया करते थे। किसी ने सही ही कहा है —

"यत्पुण्यं ज्योतिषं शास्त्रमनभिज्ञैः प्रदूषितम्।
संशोध्य सुधिया येन तत्पवित्री कृतं पुनः॥
त्रिस्कन्धज्योतिषाचार्यो मैथिलीकाव्यकोकिलः।
श्रीसीतारामझाविद्वद्विदितोऽसौ विराजते॥"

१५ जून १९७५ को काशी में आपका इहलौकिक लीला समाप्त हो गयी।

४७. हरदत्त ठाकुर (१४ वीं श.) — बिसइवार बिसफी मूलक दैवज्ञ शिरोमणि हरदत्त ठाकुर कर्मादित्य ठाकुर के पौत्र एवं सान्धिविग्रहिक देवादित्य के पुत्र थे और ये 'स्थानान्तरिक हरदत्त' से ख्यात थे[३१]। इन्होंने 'गणितनाममाला' और 'दैवज्ञबान्धव' इन दो ज्योतिषशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की है।

"गणितस्य नाममालां वक्ष्ये गुरुप्रसादतः।
बालानां हि सुबोधाय हरदत्तो द्विजागणीः॥"

तथा — "कर्णेन ज्ञातिविप्रेण हरदत्तेन धीमता।
नाममाला कृता श्रेष्ठा गुरोः प्रसादतो मया॥"

इसी प्रकार दैवज्ञबान्धव में यथा —

"यस्याशा वसनं गतिश्च वृषभः खट्वाङ्गशूलं करे
चन्द्रश्चारुविभूषणं वरतनौ यज्ञोपवीतं फणी।
दुर्जेयस्त्रिपुरो जितोऽथ मदनो येनान्धको निर्जितो

गङ्गामूर्ध्नि धृता च पुण्यतटिनी तस्मै नमः शम्भवे ।।
कृष्णः करोतुकल्याणं कंसकुञ्जरकेसरी ।
कालिन्दीकूलकल्लोल कोलाहलकुतूहली ।।"

४८. हरपति उपाध्याय (१५ वीं श. उत्तरार्ध) — आगमाचार्य हरपति खौआड़य बेजौली मूलक काश्यपगोत्रीय म.म. रुचिपति के कनिष्ठ पुत्र थे ।[३२] श्राद्धदर्पणकार म.म. धनपति इन्हींके अग्रज थे। आगम में 'मंत्रप्रदीप' और ज्योतिष में 'व्यवहारप्रदीप' या 'व्यवहार प्रदीपिका' नामक ग्रन्थों का प्रणयन इन्होंने किया था। ये अपने ग्रन्थों में स्वयं को 'मुद्राहस्तक' विरुदधारी कहते हैं। व्यवहारप्रदीपिका में आप लिखते हैं — "नमस्तस्यै महेशाय जगत्त्रय हितैषिणे ।

बालिशा यत्प्रसादेन भवन्ति सुमनीषिणः ।।
नानाग्रन्थात्समाकृष्य श्रीहरपतिधीमता ।
क्रियते बालबोधाय व्यवहारप्रदीपिका ।।"

इसी के अन्त में जैसे —

"एवं ग्रामे चतुःशाले दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।
पतिना नीयमानायाः पुरः शुक्रो न दुष्यति ।।
यात्रा पुंशवनं तथा परिणयः स्त्रीशुद्धितः शस्यते
शुद्ध्या वा पुरुषस्य योतिषि पुनः स्याद्गोचरेन्दोर्बलम् ।
यद्वा दैववशादुपप्लववशात्कालाति पाताद्विना
शुद्ध्या चन्द्रनवांश गोचरबलात्सर्वं बुधः प्रारभेत् ।।"

४९. हरिनाथ उपाध्याय (१३ वीं श.) — परमनिविष्ट धर्मशास्त्री और 'स्मृतिसार' के रचयिता हरिनाथ उपाध्याय की ज्योतिषशास्त्र में भी एक रचना प्राप्त होती है — 'संकेत कौमुदी'। एक और ज्योतिष रचना का नाम सुना जाता है 'ज्योतिःसार' का, पर यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। संकेत कौमुदी के आदि में आप लिखते हैं —

"ग्रहाणां षट्स्वभावाश्च शम्भुना गदिता पुरा ।
एतत्सर्वं प्रयत्नेन लिख्यते च मयाऽधुना ।।
लज्जितो गर्वितश्चैव क्षुधितस्तृषितस्तथा ।

मुदितः क्षोभितश्चैव ग्रहभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥
शयनश्चोपवेशश्च नेत्रपाणि प्रकाशने ।
गमनेच्छा च गमनं सभायां वसतिस्तथा ॥
आगमो भोजनश्चैव नृत्यलिप्सासु कौतुकम् ।
निद्रा ग्रहाणां चेष्टा च कथिता मुनि पुंगवैः ॥"

इसी प्रकार अन्त में यथा —

"सुप्तेरिपुभयंदुःखं धनहानि निपीडिते ।
मुषिते परिहीने च कार्याणामर्थ संशयः ॥
नानाशास्त्रं समालोक्य कृतोऽयं ग्रन्थसंग्रहः ।
बलाबल विचारेण युक्तया संचितयेद्बुधः ॥"

५०. *हेमाङ्गद ठाकुर (१६ वीं श.)* — खण्डवलाकुलदिवाकर मिथिलाराज्योपार्जक म.म. महेश ठाकुर के पौत्र और म.म. गोपाल ठाकुर के पुत्र म.म. हेमाङ्गद ठाकुर १५७१ ई. में अपने पिता से मिथिला राज्य की गद्दी प्राप्त की थी। उन दिनों दिल्ली में अकबर बादशाह का शासन था। मिथिला राज्य पर बहुत दिनों का शाही-कर बाँकी था। मिथिलेश के पास उसे चुकाने का आदेश आया, पर ये समय पर चुका न सके। फलतः इन्हें दिल्ली ले आया गया और कारागार में बन्द कर दिया गया। ये कारागार की दिवाल पर कुछ लिखते चले गये, बाद में लेखन सामग्री भी मिली। लेकिन भूखे-प्यासे आप लिखते ही रहे, गणना करते रहे। जिससे जेल कर्म्मचारियों को लगा कि राजा साहब पागल हो गये। इसकी खबर बादशाह तक भी पहुँची तो वह स्वयं इन्हें देखने आया।

बादशाह ने पूछा — "क्या हो रहा है ?" इस पर हेमांगद ठाकुर ने जबाब दिया — "गणना कर रहा हूँ जहाँपनाह !"

"किस बात की गणना ?"

"जहाँपनाह ! एक हजार वर्ष के ग्रहण विचार पर पुस्तक लिख रहा हूँ, उसी से सम्बन्धित गणना, जहाँपनाह !"

"अगर आप ज्योतिषी हैं तो बताएँ कि ग्रहण कब लगेगा ?" इस प्रश्न का इन्होंने जब जबाब दे दिया तो इन्हें छोड़ दिया गया और कहा

गया — "यदि उस दिन ग्रहण लग गया तो सात वर्षों से बाँकी शाहीकर सात लाख रूपया माफ कर दिया जाएगा और नहीं तो दण्ड स्वरूप कर को दूना कर दिया जाएगा।" फिर क्या था, ये लग गये अपने इष्टदेव की आराधना में कि यदि उस दिन मेरी लाज रह गयी तो मिथिला जाकर हम आपकी पूजा करबायेंगे, जो आज तक कहीं नहीं हो रही है।

भगवान् ने इनकी सुन ली और मिथिला आकर इन्होंने एक विद्वत्सभा बुलायी। जिसमें यह तय हुआ कि अब से मिथिला में भाद्र शुक्ल चतुर्थी को प्रतिवर्ष चतुर्थीचन्द्र (चौठ चन्द्र) की पूजा की जाएगी और वह आज तक निरवच्छिन्न रूप से चली आ रही है। आज के दिन महाराष्ट्र में जहाँ लोकमान्य तिलक के समय से गणेश चौठ मनाया जाता है, वहीं मिथिला में 'चौठचन्द्र', जिसका श्रेय इन्हें ही जाता है।

वही हजारवर्ष के ग्रहण पर लिखा गया ग्रन्थ 'ग्रहणमाला' है, जिस का दूसरा नाम 'राहूपरागपञ्जी' भी कहा जाता है। ये न केवल ज्योतिष के मूर्द्धन्य आचार्य थे, वल्कि अच्छे साहित्यिक भी थे। शास्त्र चिन्तक तो ऐसे कि इन्होंने राज्य चलाने से साफ मना कर दिया। पिता गोपाल ठाकुर दुःखी तो हुए पर कुछ कर नहीं पाये। ये अपने अध्यवसाय में लगे रहे। ग्रहण माला में इन्होंने लिखा है —

"खण्डवलाकुलतरणे र्गोपालदाप यं गौरी।
हेमाङ्गदस्सतनुते पञ्जी राहूपरागस्य॥"

अज्ञातकालिक **वैद्यनाथ** एवं **मुरलीधर ठाकुर** का जहाँ ताराचन्द्रोदय तथा परवलयक्षेत्रम् सुप्रसिद्ध हैं, वहीं अज्ञातनामा आचार्य की ग्रहमंजरी ज्योतिर्विज्ञान की अन्यतम रचना कही जाती है। १८ वीं श. के अन्त में विद्यमान रहे प्रसिद्ध ज्योतिषी **बनुजन** प्रसिद्ध **बबुआ झा** काशी नरेश उदितनारायण सिंह (१७८३-१८३५ ई.) के आश्रित थे, जिनका समय १७५६ ई. से लेकर १८१६ ई. पर्यन्त कहा जाता है। इनके बाद १९ वीं श. में हुए दैवज्ञ **दामोदर मिश्र** की लीलावती वासना, **मोदनाथ झा** की ताजिक चिन्तामणि जहाँ इस विद्या की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं, वहीं मोहना ग्रामवासी **तूफानी झा** — जो बरुआरी नरेश राजा सुरेन्द्र नारायण

सिंह के द्वारपण्डित थे, ज्योतिषी होते हुए भी धर्मशास्त्र को ही अपना पाण्डित्य का क्षेत्र बनाये। इनका लिखा 'अब्दचिन्तामणि' ग्रन्थ प्रसिद्ध है।

इन्हीं तूफानी झा के पुत्र **नागेश्वर झा** अपने समय में फलित ज्योतिष के प्रामाणिक आचार्य माने जाते थे। अपने पिता की ही भाँति इन्होंने भी अपना प्रधान विषय धर्मशास्त्र को ही चुना था। इसी समय में स्थित रहे नेपाल राज्य के तिलाठी ग्रामनिवासी ज्योतिर्विद् **नन्दकिशोर मिश्र** के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन दिनों ज्योतिष में सबसे प्रखर रहते हुए भी भाग्यहीन थे, जिस कारण बाद में आप पागल भी हो गये थे।[३३] इसी तिलाठी ग्राम के एक और ज्योतिर्विद् थे प. **यदुनन्दन मिश्र**, जो नेपाल नरेश राजा चन्द्रशमशेर बहादुर से अपनी विद्या के बल पर पर्याप्त धन प्राप्त किये थे। कहते हैं जब चन्द्रशमशेर बहादुर के पिता बीमार थे, तो उन्होंने इन्हें बुलाया और पूछा कि मुझे इस बीमारी से मुक्ति कब मिलेगी ? इस पर पण्डितजी ने कहा था कि अमुक समय में राजकुमार राजगद्दी प्राप्त करेंगे। महीना, दिन, तिथि और समय सब मिल गये। इसी अवसर पर चन्द्रशमशेर बहादुर ने इन्हें पर्याप्त धन 'वृत्ता' (ब्रह्मोत्तर) कहकर दिया था। तिलाठी के ही थे प. **परमेश्वरदत्त मिश्र**, ज्योतिषभूषण, जो श्रीनगर, जिला-पूर्णियाँ में राजा कीर्त्यानन्द सिंह के द्वारपण्डित थे। जन्मकुण्डली, वर्ष प्रवेश, प्रश्नादि का फल बहुत ही अच्छा बताते थे तथा आपकी बतायी बातें यथावसर मिलती भी थीं। आपके नाम में कुछ लोग 'परमेश्वरीदत्त मिश्र' रूप ही सही मानते हैं, पर आपका नाम ईकारान्त नहीं था, परमेश्वरीदत्त मिश्र तो सतलखा ग्रामवासी मूर्द्धन्य दार्शनिक थे।

माधवपुर, दरभंगा के **बाबूजी पाठक** दर्शनीय व्यक्ति थे।[३४] अपने समय के मूर्द्धन्य ज्योतिर्विद् होते हुए भी प्रखर तांत्रिक होने के कारण भगवती काली के अनन्य भक्त थे। इनका उन दिनों की विद्वन्मण्डली में पर्याप्त मान और सम्मान था। इनके ही सम-सामयिक गुर्म्हा-पचाढ़ी के **बच्चेलाल झा** प्रसिद्ध ज्योतिषियों में अग्रगण्य थे। प्रवल शास्त्रार्थी पण्डित जी की सिद्धान्त भाग में विलक्षण गति थी। महावैयाकरण पण्डित खुद्दी झा के वरिष्ठ समकालिक ज्योतिषीजी तारानगर के राजा

नित्यानन्द सिंह के दरवार में राजज्योतिषी हुआ करते थे।[३५]

महाराज महेश्वर सिंह के आश्रित पूजापङ्कजभास्करकार ज्यौतिषी **मुक्तेश्वर झा** नवानी ग्राम के निवासी थे, इनके मित्र और ग्रामीण ज्योतिर्विद् **नन्दी झा** भी प्रखर दैवज्ञ थे। परन्तु मुक्तेश्वर झा को ज्योतिष से अधिक तंत्र में ही प्रसिद्धि मिली। इनसे भिन्न और अर्वाचीन एक और **मुक्तेश्वर झा** हुए हैं, वे भी महान् दैवज्ञ, जो स्वयं दरभंगा शहर के निवासी और प्रकाण्ड ज्योतिषी **चतुर्भुज मिश्र** के सहपाठी थे। कहते हैं ज्यौतिष में आपकी असाधारण प्रतिभा थी, तथा गणित भाग में आपके सदृश कोई नहीं थे। एक वार किसी बात को लेकर दरभंगा नरेश के दरवार में आपका सहोड़ा-पतोर निवासी ज्योतिर्विद् प. **मन्नूलाल झा** से शास्त्रार्थ छिड़ गया। पर महाराज नहीं चाहते थे कि इन दोनों में से कोई भी एक विद्वान् अप्रस्तुत हों, फलतः उस वाक्यार्थ को बीच में ही रोक दिया गया।

परमधर्मनिष्ठ आचार्य **द्रव्येश्वर झा** (बाजितपुर, मुजफ्फरपुर) कमलपुर के ज्योतिर्विद् **फतूरी मिश्र** के शिष्य थे। ये हाँजीपुर की धर्मसंजीवनी पाठशाला में ज्योतिषाध्यापक थे, फिर बाद में कन्हौली रियासत के जमीन्दार बाबू जमुना प्रसाद शुक्ल के दरवार में द्वारपण्डित रहे। इन्हींके मित्र दरिहरे रतौली मूलक लोहना ग्रामवासी वैदिक नित्यानन्द झा से भिन्न, ज्योतिषी **नित्यानन्द झा** धर्मसमाज संस्कृत महाविद्यालय में अध्यापक थे। मानेचक निवासी प. शशिपाल झा सिद्धान्त दृग्गणित में विलक्षण प्रतिभाशाली थे। कहा जाता है कि महाराजाधिराज रामेश्वर सिंह आपही को अपने दरवार में नियुक्त कर दृग्गणितानुसार पंचाङ्ग बनवाते थे और उन्हींके आदेश से आपने देवीचरित की भी रचना की थी।[३६]

चिकनौटा ग्रामवासी महावैयाकरण लालजी झा से भिन्न ज्योतिषी **लालजी झा** मुजफ्फरपुर के मालपुर ग्रामवासी थे। २० वीं श. के पूर्वार्द्ध में आपकी ख्याति निःस्वार्थ पण्डितों व ज्योतिषियों में काफी अच्छी थी। जब कि इसी समय के ज्योतिषी प. **रामप्रसन्न झा** अपने गाँव बाघी (मुजफ्फरपुर) के जमीन्दार बाबू रामधारी प्रसाद की आर्थिक सहायता से पंचांग छपबा कर लोगों में निःशुल्क बाँटते थे।[३७] मुजफ्फरपुर

के ही लावापुर निवासी ज्योतिषी **रघुनन्दन झा** अपने शास्त्र में तो निविष्ट थे ही, धर्मशास्त्र में भी परम व्युत्पन्न थे। ये भी प्रतिवर्ष पंचांग निकाल कर लोगों में बाँटते थे तथा तिरहुता लिपि में दशकर्मपद्धति लिखकर लिपि के जानकार विद्वानों को निःशुल्क दिया करते थे। जब कि राधाउर ग्राम निवासी (मुजफ्फरपुर) मूर्द्धन्य ज्योतिर्विद् **गेनालाल मिश्र**[३८] (रामनगर, पूर्णियाँ के वैयाकरण गेनालाल मिश्र से भिन्न) के पुत्र महँगू संस्कृत विद्यालय के प्रधानाध्यापक ज्योतिर्विद् **अभिराम मिश्र** भी पंचांग प्रकाशित करवाते थे। स्मरणीय है कि ये अभिराम मिश्र सुहई (हाँजीपुर) ग्रामवासी प्रवल शास्त्रार्थी वैयाकरण पण्डित अभिराम मिश्र से भिन्न, किन्तु समसामयिक थे।

सतलखा ग्राम निवासी वैयाकरण जगदीश झा से भिन्न दरभंगा के रामभद्रपुर ग्राम निवासी ज्योतिर्विद् **जगदीश झा** लक्ष्मीपुर ड्यौढ़ी के संस्कृत विद्यालय में ज्योतिषाध्यापक थे। जब कि चनौर (मनीगाछी) के प. **नन्दलाल झा** अच्छे पौराणिक के साथ - साथ निविष्ट ज्योतिषी भी थे, जो अपने घर पर ही विद्यार्थियों को ज्योतिष पढ़ाया करते थे। इसी समय के आप-पास हावी-भौआड़ ग्राम में प. **गेनालाल चौधरी** नामक एक परम प्रतिष्ठित ज्योतिषी हुए जो काशी में कहीं, किसी विद्यालय में ज्योतिष के अध्यापक थे। परन्तु पण्डित **तुरन्तलाल झा**, जो बलहा (दरभंगा) ग्राम के निवासी तथा प. **किशोरी झा** जैसे महान् ज्योतिषी के शिष्य थे, अपने घर पर ही छात्रों को ज्योतिष की शिक्षा देते थे। जब कि सकरी (दरभंगा) के पास के कन्हौली ग्राम निवासी ज्योतिर्विद् **श्रीनन्दन झा**, ज्योतिषाचार्य प. सीताराम झा (चौगमा) के गुरु थे, जो पहले तो म.म. लता संस्कृत विद्यापीठ लोहना में अपने मित्र म.म. कृष्णसिंह ठाकुर के आग्रह पर अध्यापनरत थे, पर बाद में दरभंगा नरेश के कहने से रमेश्वरलता संस्कृत महाविद्यालय में दरभंगा आ गये। उन दिनों इनकी गणना महान् ज्योतिर्विदों में हुआ करती थी।

१९ वीं शताब्दी में कठरा-तुमौल निवासी 'दैवज्ञबान्धव' से प्रसिद्ध **यदुनन्दन मिश्र** व्यवहार कुशल न होते हुए भी ज्योतिष विद्या में परमनिपुण थे। ये पंचगछिया स्टेट (भागलपुर) के जमीन्दार रायबहादुर

प्रियव्रत नारायण सिंह के आश्रित होकर वहीं छात्रों को पढ़ाया करते थे।[३९] जब कि महाराज रामेश्वर सिंह के द्वारपण्डित म.म. शशिनाथ झा के बड़े भाई चनौर (मनीगाछी) ग्रामवासी **वासुदेव झा** उन दिनों मूर्द्धन्य ज्योतिषियों में गिने ज़ाते थे। इनकी भी कोई रचना प्राप्त नहीं होती। हाँ, पलिवार जमदौली मूलक सोनमणि झा के पुत्र **झड़ुला झा** से प्रसिद्ध सुकविगणक ज्योतिर्विद् पण्डित **श्रीकान्त झा** (१८ वीं श.) की एक रचना 'कन्दर्पी घाट की लड़ाई' जरूर प्राप्त होती है, जो ज्योतिष की रचना न होने पर भी उनके ज्योतिष ज्ञान को दरसाने में समर्थ हैं। इसी प्रकार पड़ुए महेन्द्रू मूलक प. पञ्चरथ झा के पुत्र **बुद्धिनाथ झा** ज्योतिश्शास्त्र में अद्वितीय थे। आप आचार्य करने से पहले ही धर्मसमाज संस्कृत महाविद्यालय में ज्योतिषाध्यापक बन गये थे। रामभद्रपुर निवासी पण्डितजी ने ज्योतिष के कई ग्रन्थों पर टीका-टिप्पणी की हैं, जब कि इनकी साहित्यिक कृतियों में तारा लहरी, प्रियालापकलाप, मातृविलाप आदि विलक्षण एवं उल्लेखनीय हैं। म.म. मुरलीधर झा के शिष्य प. **गंगाधर मिश्र**, पहले गेनालाल चौधरी से शिक्षा लेकर काशी गये थे। इन्होंने सिद्धान्ततत्त्वविवेकवासना, नीलकण्ठी की व्याख्या, वास्तवचन्द्र, शृंगोन्नतिवासना, प्रतिभाबोधकवासना, कृत्यसार टिप्पणी आदि कई ग्रन्थों की रचना की है; जिनमें सिद्धान्ततत्त्वविवेक पर एक मात्र आपही की टीका अत्युत्तम एवं प्रथम मानी जाती है।

२० वीं शदी के मूर्द्धन्य ज्योतिषी बाजितपुर, जिला-मुजफ्फरपुर के निवासी प. **कुशेश्वर कुमर** की प्रतिभा सर्वव्यापिनी थी। ये न केवल ज्योतिषी, कर्मकाण्डी एवं धर्मशास्त्री थे, प्रत्युत् काव्यकौशल में भी कोई सानी न थी। ज्योतिष में इनकी कोई रचना तो प्राप्त नहीं होती, पर व्यवहार मंजूषा, कृत्यमंजरी आदि धर्मशास्त्रीय निबन्धों से आपके ज्योतिष विषयक गहरे ज्ञान का भी परिचय हमें मिल जाता है। मैथिली में पद्यमय 'शिक्षासोपान' भी इनका पुस्तक भण्डार, लहेरियासराय से प्रकाशित है। इसी समय के प. **षडानन झा** भी प्रमुख ज्योतिर्विदों में परिगणनीय थे, जो नवहथ ग्राम के वासी एवं गिद्धौर नरेश के यहाँ राजज्योतिषी के पद पर आसीन थे।

मकुनाही (मुजफ्फरपुर) ग्राम निवासी दैवज्ञ प्रवर प. **सुन्दरलाल झा** अनन्य भगवद्भक्त थे, वे अपने परिसर के 'अभिनव चैतन्य' भी कहलाते थे। मूलतः ज्योतिषी प. झा एक सुकवि भी थे, जिनकी ख्याति ज्योतिष के साथ- साथ साहित्य में भी उतनी ही थी। इन्होंने 'सुन्दरीय सिद्धान्त', 'सुतिहारा माहात्म्य', 'उच्चैठ माहात्म्य' आदि अनेकों रचनाएँ की, जो ज्योतिष एवं साहित्य की धरोहर हैं। इनके अतिरिक्त देवधा के पास स्थित जोंकी ग्रामवासी प. **गंगाधर झा** का रेखागणित, **शम्भुनाथ झा** का कालभास्कर, **ललितनाथ** का सारसमुच्चय, ब्रह्मपुरा (चतरा-डुमरा) के ज्योतिष मार्त्तण्ड प. **विश्वेश्वर झा** का सुधावर्षिणी व्याख्या सहित वास्तविकचन्द्रशृंगोन्नति साधन भी कम महत्त्व की रचनाएँ नहीं हैं। जब कि विगत शताब्दी में ही मिथिला में और भी कई ग्रन्थकार ज्योतिर्विद् उल्लेख़ योग्य हुए हैं। इनमें सिद्धान्त शिरोमणि के स्पष्टाधिकारान्त अंश के टीकाकार सिद्धान्तसेतु के रचयिता **मुरलीधर ठाकुर**, सरल त्रिकोणमिति एवं आर्यभट्टीयम् के टीकाकार **बलदेव मिश्र**, टिप्पणी-विवरणकार **बुद्धिनाथ झा**, भ्राभ्रमबोध एवं विमण्डलवक्रविचार के प्रणेता **दयानाथ झा**, ग्रहलाघव के टीकाकार **युगेश्वर झा**, बीजगणित के टीकाकार और बृहत्पाराशर के सम्पादक **देवचन्द्र झा** (नगवास), सूर्यसिद्धान्त-मुहूर्त्तचिन्तामणि—जातकपारिजात आदि ग्रन्थों के टीकाकार **कपिलेश्वर चौधरी**, जातकालंकार-लघुजातक आदि के टीकाकार तथा व्यावहारिक ज्योतिषतत्त्व के प्रणेता **लखनलाल झा**, जातकालंकार टीकाकार **दीनानाथ झा**, गोलीय रेखागणित एवं चापीय त्रिकोणमिति के टीकाकार **चन्द्रशेखर झा**, मानससागरी आदि ग्रन्थों के व्याख्याकार **मधुकान्त झा**, बृहज्जातक-बीजगणित-जैमिनीयसूत्र-केशवीय जातक आदि ग्रन्थों के व्याख्याता जरिसों (दरभंगा) के **अच्युतानन्द झा** आदि प्रमुख हैं।

इन सब ज्योतिर्विदों किं वा आचार्यों के अतिरिक्त भी कई ऐसे दैवज्ञ हैं, जिनका परिचय और कृतित्व स्थानाभाव के कारण छूट गये हैं। यहाँ हम उनके मात्र नाम परिगणित कर देना चाहते हैं, जिससे भविष्य में उन पर लिखा जा सके। जिन लोगों के नाम, फिर भी यहाँ आने से रह गये हैं, वह हमारी कूपमण्डूकता के कारण ही। पाठकों से निवेदन है कि

वे इसमें हमारी अज्ञता के अतिरिक्त अन्यथा कुछ न सोचें तथा वे अपने परिचित — दैवज्ञों के नाम/परिचय प्रेषित कर अनुगृहीत करें।

१. अनूपलाल झा — बरहा ग्रामवासी, पुपरी विद्यालय में अध्यापक थे।
२. आमोद झा — दीप, प. श्रीहरिहर झा के पुत्र, लक्ष्मीवती संस्कृत महाविद्यालय, सरिसब में अध्यापक थे। प्रतिभाशाली, किन्तु अल्पायु हुए।
३. कुञ्जी झा — नागदह।
४. गङ्गाधर मिश्र — कमलपुर।
५. गङ्गेश्वर झा — डुमरा।
५. चन्द्रमाधव झा — बिट्ठो, व्याकरण और कर्मकाण्ड के साथ-साथ ज्योतिष के भी मर्मज्ञ थे।
६. छकौड़ी झा — राँटी।
७. जगदीश झा — रामभद्रपुर निवासी, लक्ष्मीपुर विद्यालय में अध्यापक थे।
८. जगदीश झा — रुपौली, लोहना पाठशाला के प्रधानाचार्य थे।
९. दामोदर झा — जोंकी, दरभंगा।
१०. नन्दलाल झा — चनौरवासी, पुपरी विद्यालय में अध्यापक थे।
११. निकानन्द ठाकुर — सर्वसीमा।
१२. नित्यानन्द झा — धर्मसमाज संस्कृत महाविद्यालय में अध्यापक थे।
१३. पुलकित झा — सिमरा।
१४. फतूरी मिश्र — कमलपुर।
१५. बचनू झा — बिट्ठो।
१६. बबुआजी झा — कोईलख।
१७. भगीरथ झा — तरौनी।
१८. भैयाजी झा — सरिसब।
१९. मधुरी झा — चतरा-डुमरा।
२०. मुकुन्द झा — चनौर ग्रामवासी, जो गंगौली में आकर बस गये।
२१. रामप्रसन्न झा — बाघी, जिला-मुजफ्फरपुर।
२२. लक्ष्मीकान्त झा — तरौनी।
२३. लेखनाथ कुँमर — बाजितपुर।
२४. विद्यानाथ झा — परवाना, दरभंगावासी खुरखुरा में अध्यापक थे।
२५. व्रजकिशोर झा — हनुमान नगर, दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय में विभागाध्यक्ष थे।
२६. श्रीदेव चौधरी — चनौर, गया के खुरखुरा विद्यालय में अध्यापक थे।
२७. हरिनन्दन झा — भवानीपुरवासी, कानपुर में किसी विद्यालय में ज्योतिष के

अध्यापक थे। इनके अतिरिक्त अनूपलाल ठाकुर, अभिनन्दन मिश्र, अयोध्या ठाकुर, काशी श्यामा विद्यालय के प. उपेन्द्र झा, पण्डित गणेश मिश्र आदि ज्योतिपियों के ग्रामादि परिचय भी ज्ञात नहीं है।

आज भी कई ऐसे ज्योतिर्विद् हैं, जो ग्रन्थकार भी हैं, टीकाकार या सम्पादक भी हैं। विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालयों में अपने विभाग की शोभा बनते हुए कई छात्रों को व्युत्पन्न कर रहे हैं। यहाँ प्रसंगवश कुछ ऐसे ही ज्योतिर्विद्या विशारद आधुनिक अध्यापकों के नाम दिये जा रहे हैं, जैसे —

१. प्रो. रामदेव झा (दिल्ली),
२. प्रो. रामचन्द्र झा (दरभंगा),
३. प्रो. शिवाकान्त झा (दरभंगा),
४. प्रो. सत्यनारायण झा (लखनऊ),
५. प्रो. राधाकान्त ठाकुर (तिरुपति),
६. प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र (वाराणसी),
७. डॉ. शिवकान्त झा (दरभंगा),
८. डॉ. मदनमोहन पाठक (गरली हि.प्र.),
९. डॉ. फूलकान्त मिश्र (दरभंगा),
१०. प. हरिनारायण झा (रुपौली, मधुबनी),
११. डॉ. दिलीपकुमार झा (देवघर),
१२. प. भगलू झा (पातेपुर),
१३. डॉ. रामजीवन मिश्र (वाराणसी),
१४. डॉ. कुलानन्द झा (पटना),
१५. डॉ. कृष्णेश्वर झा (तिरुपति),
१६. डॉ. हंसधर झा (गरली - काङ्गरा),
१७. डॉ. शिवाकान्त मिश्र (जयपुर),
१८. डॉ. श्रीमती शुभस्मिता मिश्र (पुरी) आदि।



१. मि.त.वि. पृ. - ७० ।
२. मि.त.वि. पृ. - १५७ ।
३. मिथिलांक, पृ. - १२५ ।
४. मिथिलांक, पृ. - १२२ ।
५. मिथिलांक, पृ. - ५८, ज. स्मा. ग्र., पृ. - १७ ।
६. मिथिलांक, पृ. - १२२ ।
७. मिथिलांक, पृ. - ५८ ।
८. ज. स्मा. ग्र., पृ. - ४०७ ।

९. सं. सा. का इति. (गैरोला), द्वि. सं., पृ. - ६८१ तथा सं. सा. कोश (राजवंश सहाय हीरा), प्र. सं., पृ. - १९१ ।
१०. मि. त. वि., पृ. - ४० ।
११. सारस्वती सुषमा, ३७/१-४ में डॉ. जयमन्त मिश्र का लेख, सं. सं. वि.वि. वाराणसी । तथा 'अनुपमकालिदास:' (डॉ. गौतम पटेल) पृ.- ३७३-३८०, संस्कृत साहित्य अकादमी गुजरात ।
१२. मिथिलांक, पृ. - ५७ ।
१३. मि. त. वि., पृ. - १६९ ।
१४. मि. त. वि., पृ. - १७१ ।
१५. गौतम के सम्बन्ध में अधिक जानकारी हेतु द्रष्टव्य है, मेरा ही ग्रन्थ "भारतीय दर्शनशास्त्र और मिथिला" ।
१६. ज. स्मा. ग्र., पृ. - ४ ।
१७. ज. स्मा. ग्र., पृ. - ३० ।
१८. मि. त. वि., पृ. - ११९ ।
१९. ज. स्मा. ग्र., पृ. - २५ ।
२०. सं. सा. का इतिहास, द्वितीय संख्या, पृ. - ६८४ ।
२१. मिथिलांक, पृ. - १२४ ।
२२. ज. स्मा. ग्र., पृ. - १४ ।
२३. मि. त. वि., पृ. - १५५ ।
२४. मिथिलांक, पृ. - ६०, १२६ ।
२५. ज. स्मा. ग्र., पृ. - २० तथा मिथिलांक, पृ. - १२६ ।
२६. मिथिलांक, पृ. - ६०, १२६ ।
२७. ज. स्मा. ग्र., पृ. - १८ ।
२८. मिथिलांक, पृ. - ५९ ।
२९. मिथिलांक, पृ. - ९४ ।
३०. मि. त. विं., पृ. - १०७ ।
३१. मि. त. वि., पृ. - ७१ ।
३२. मि. त. वि., पृ. - १२८ ।
३३. मिथिलांक, पृ. - १२७ ।
३४. ज. स्मा. ग्र., पृ. - २५ ।
३५. ज. स्मा. ग्र., पृ. - २९-३० ।
३६. ज. स्मा. ग्र., पृ. - २७ ।
३७. ज. स्मा. ग्र., पृ. - ३० ।

परिशिष्ट

चर्चित वेद-विशारदों / वैदिकों की सूची

उपवेद - विशारदों की सूची

चर्चित वैयाकरणों की सूची

नोट — इन वैयाकरणों के अतिरिक्त कुछ वैयाकरणों के नाम (ग्राम सहित) पृ. २०४ -

अचर्चित कुछ वैयाकरणों की सूची

सं.	नाम	ग्राम	सं.	नाम	ग्राम
१.	अच्युतानन्द झा –	बिट्ठो ।	३४.	जयमाधव झा ।	
२.	अच्युतानन्द मिश्र –	बड़साम ।	३५.	जालेश्वर झा –	शाहपुर ।
३.	अर्कनाथ मिश्र –	लालगंज ।	३६.	जिष्णुनाथ मिश्र –	लालगंज ।
४.	अभिराम मिश्र –	सुहई, हाँजीपुर ।	३७.	जीवन झा –	हरिपुर ।
५.	अयोध्यानाथ मिश्र –	गमैल ।	३८.	जीवानन्द ठाकुर –	सर्वसीमा ।
६.	अवधनारायण चौधरी –	लखनपट्टी ।	३९.	ठक्कन झा –	पाहीटोल ।
७.	आद्याचरण झा –	मङरौनी ।	४०.	ठाकुरप्रसाद झा –	मेहदाशाहपुर, बेगूसराय।
८.	इन्द्रकान्त मिश्र –	तरौनी ।	४१.	ताराचरण झा –	मङरौनी ।
९.	उग्रानन्द झा –	ककरौड़ ।	४२.	तारानाथ झा –	उजान ।
१०.	कन्तलाल चौधरी –	भागलपुर ।	४३.	तेजनाथ झा –	दीप ।
११.	कलानाथ झा –	महरैल ।	४४.	तेजनाथ झा –	पाहीटोल ।
१२.	कल्याण झा[१] –	उजान ।	४५.	तेजनारायण झा –	अवाम ।
१३.	कामेश्वर झा –	नरुआर ।	४६.	तेजनारायण झा –	बल्लीपुर ।
१४.	कालीचरण झा –	मङरौनी ।	४७.	दामोदर झा –	पौना ।
१५.	काशीनाथ झा –	बिट्ठो ।	४८.	दामोदर झा –	शाहपुर ।
१६.	कुलपति झा –	शकराढ़ी ।	४९.	दामोदर मिश्र –	गजहरा ।
१७.	केदारनाथ झा –	अथरी ।	५०.	दीनानाथ झा –	माँउबेहट ।
१८.	केशव झा –	शाहपुर ।	५१.	दीनानाथ झा –	लगमा ।
१९.	केशवनाथ झा –	नरुआर ।	५२.	दीर्घनारायण झा –	बलौर ।
२०.	कृपाकान्त ठाकुर –	लोहना ।	५३.	दुःखमोचन झा –	कोइलख ।
२१.	कृष्णचन्द्र झा –	चानपुरा ।	५४.	दुर्गादत्त झा –	सुलतानपुर ।
२२.	कृष्णेश्वर झा –	बेनीपट्टी ।	५५.	दुर्गानाथ झा –	नरुआर ।
२३.	खगेन्द्र झा –	लखनौर ।	५६.	दुलार झा –	पण्डितपुर, छपरा ।
२४.	गिरिधर उपाध्याय –	मङरौनी ।	५७.	देवचन्द्र झा –	नगवास (मूलतः ज्यौ.) ।
२५.	गोपीनाथ झा –	नरुआर ।	५८.	धनुर्धर झा –	टटुआर ।
२६.	गौरीनाथ झा –	महरैल ।	५९.	धर्मनाथ झा –	गंगौली ।
२७.	गंगाधर चौधरी –	कोर्थु ।	६०.	नन्दलाल झा –	भदोन ।
२८.	गंगाधर झा –	शहौरा ।	६१.	नरेशचन्द्र झा –	चानपुर ।
२९.	चन्द्रदेव झा –	मङरौनी ।	६२.	निरसन मिश्र –	हरिनगर ।
३०.	चन्द्रमणि मिश्र –	चानचौर ।	६३.	नीरस झा –	उजान ।
३१.	चन्द्रशेखर झा –	सूर्यगढ़ा, मुंगेर ।	६४.	नेनन झा –	पिलखवार ।
३२.	चेतनाथ झा –	नरुआर ।	६५.	परशुराम झा –	भिट्ठा ।
३३.	जयनन्दन झा शास्त्री –	पचगछिया ।	६६.	पलटू झा ।	

१. राजा राघवसिंह के दरवारी, शिवप्रतिष्ठापद्धतिकार ।

सं.	नाम	ग्राम
६७.	पिनाकर झा –	सरिसब ।
६८.	पुण्यनाथ झा –	नरुआर ।
६९.	बदरीनाथ मिश्र –	गोसपुर, भागलपुर ।
७०.	बन्धु झा –	उजान ।
७१.	भुवनेश्वर मिश्र –	चौगमा ।
७२.	भूपनारायण झा –	बेहटा ।
७३.	मतिनाथ झा –	गंगौली ।
७४.	मथुरानाथ झा –	महरैल ।
७५.	मधुकान्त मिश्र –	रघुनाथपुर ।
७६.	मधुसूदन मिश्र –	गजहरा ।
७७.	महावीर झा –	नरुआर ।
७८.	महावीर झा –	महरैल ।
७९.	महावीर मिश्र –	पाही ।
८०.	महावीर मिश्र –	भट्टपुरा ।
८१.	महीश्वर झा –	पाही ।
८२.	महेश झा –	लगमा ।
८३.	माधव चौधरी –	गन्धवारि ।
८४.	मार्कण्डेय ठाकुर –	नवटोली, धगजरी
८५.	मुकुन्द झा –	गंगौली ।
८६.	मुक्तिनाथ मिश्र –	खोजपुर ।
८७.	मुसली झा –	हरिनगर ।
८८.	मोदनाथ झा –	शारदापुर ।
८९.	यदुपति मिश्र –	तरौनी ।
९०.	रघुनाथ झा –	उजान ।
९१.	रघुनाथ झा –	हटाढ़ ।
९२.	रघुवर कुँवर –	कन्है ।
९३.	रमाकान्त झा –	सनहा ।
९४.	रमाकान्त ठाकुर –	लोहना ।
९५.	रमानन्द झा –	गंगौली ।
९६.	राजेश्वर झा –	डोकहर ।
९७.	राजेश्वर झा –	शुम्भा ।
९८.	राधाकृष्ण झा –	तरौनी ।
९९.	राधाकृष्ण झा –	बाराही ।
१००.	राधानाथ झा –	धनेरामपुर ।
१०१.	रामनारायण चौधरी –	नरुआर ।
१०२.	रामभद्र मिश्र –	बटुरी ।
१०३.	रामेश्वर झा –	पटसा ।
१०४.	रामेश्वर मिश्र –	गलमा ।
१०५.	लम्बोदर झा –	ठाढ़ी ।
१०६.	ललित नाथ झा –	रुपौली ।
१०७.	लक्ष्मीनाथ झा –	नरुआर ।
१०८.	लक्ष्मीनाथ झा –	विचारी, भागलपुर ।
१०९.	लक्ष्मीनारायण झा –	टटुआर ।
११०.	विदेश्वर झा –	पाही ।
१११.	विलट झा –	नरही ।
११२.	विश्वनाथ मिश्र –	गोसपुर, भागलपुर ।
११३.	विश्वम्भर झा –	ठाढ़ी ।
११४.	व्रजनन्दन झा –	नवानी ।
११५.	शशिकान्तपाठक –	करियन ।
११६.	शिवनाथ झा –	सरिसब ।
११७.	शिवनारायण झा –	हाटी ।
११८.	शिवशंकर झा –	भट्टपुरा ।
११९.	शिवानन्द झा –	करमौली ।
१२०.	शिवानन्द झा –	गंगौली ।
१२१.	शिवानन्द ठाकुर –	सर्वसीमा ।
१२२.	शिवेश्वर झा –	लालगंज ।
१२३.	शोभाकान्त जयदेव झा –	खुटवारा ।
१२४.	शोभित मिश्र –	भुसकौल ।
१२५.	श्यामानन्द झा –	हैंठी ।
१२६.	सदानन्द झा –	विशौल ।
१२७.	सदानन्द मिश्र –	लक्ष्मीपुर, खजौली ।
१२८.	सरयूरमण झा –	एकहारा ।
१२९.	सीतानाथ झा –	नरुआर ।
१३०.	सुधाकर झा –	पोखराम ।
१३१.	सुन्दर झा –	पिपरौली ।
१३२.	सूर्यनारायण चौधरी –	सझुआर ।
१३३.	सूर्यनारायण झा –	सूर्यगढ़ा, मुंगेर ।
१३४.	हरिदेव झा –	कलिगाँव ।
१३५.	हरिनारायण झा –	हाटी ।
१३६.	हरि मिश्र –	पचाढ़ी ।
१३७.	हरिवंश झा –	रामभद्रपुर ।

छन्द:शास्त्रीयों की सूची

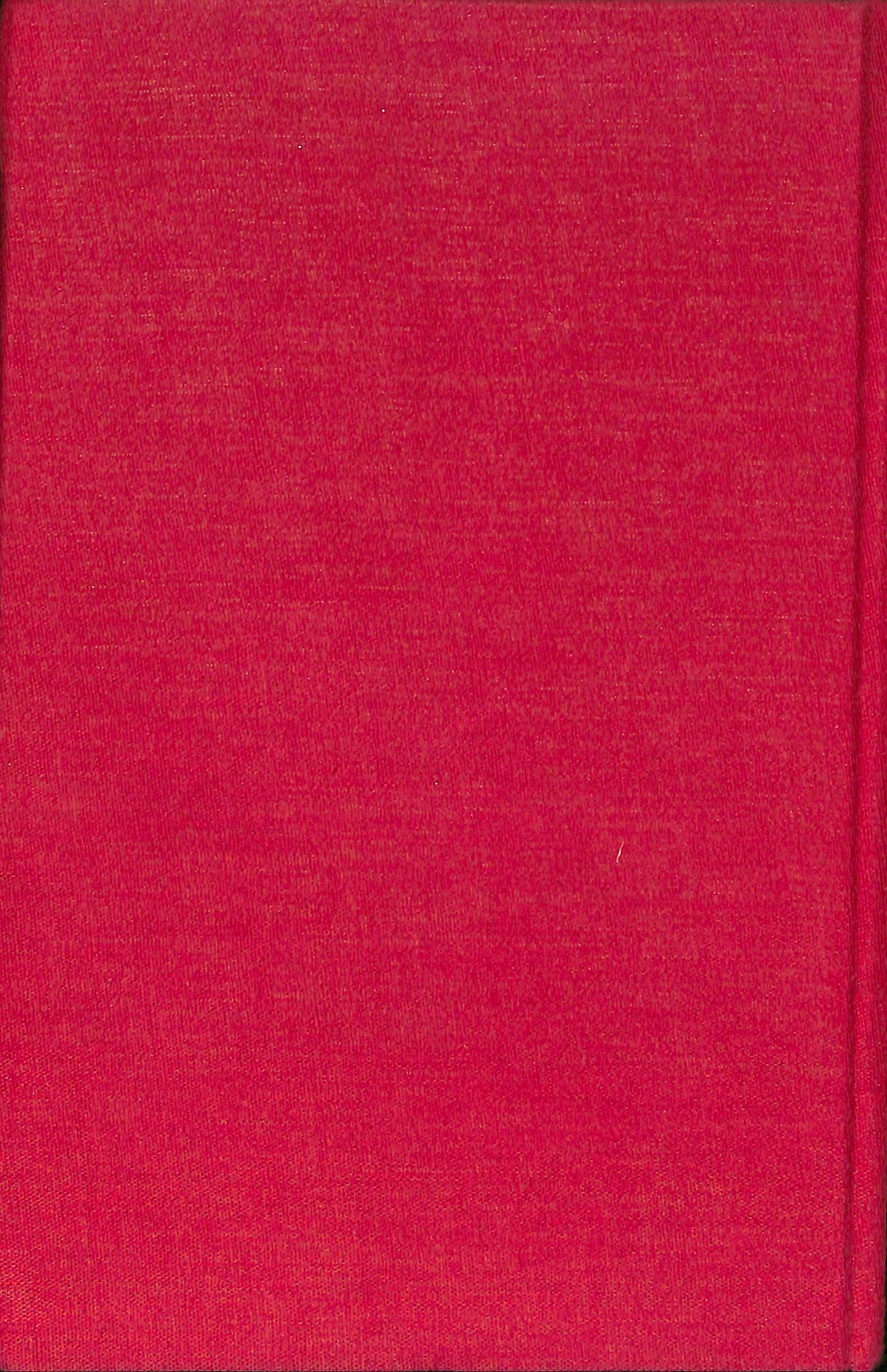
सं.	नाम	पृ.सं.	सं.	नाम	पृ.सं.
१.	उमापति	२०९	२२.	बबुजन झा	२१२
२.	कात्यायन	२०७	२३.	बैद्यनाथ उपाध्याय	२०९
३.	कालिदास मिश्र	२०८	२४.	भीष्म मिश्र	२१२
४.	केशव उपाध्याय	२१२	२५.	मधुसूदन मिश्र	२१२
५.	गोकुलनाथ उपाध्याय	२११	२६.	मनोहर मिश्र	२०८
६.	गोवर्द्धन झा	२१२	२७.	माधव मिश्र	२०८
७.	गङ्गादास	२१०	२८.	रघुनाथ उपाध्याय	२११
८.	गङ्गाधर	२१२	२९.	रमापति उपाध्याय	२०९
९.	चतुर्भुज मिश्र	२१२	३०.	रमापति मिश्र	२०९
१०.	चिरञ्जीव शर्मा	२१२	३१.	रविकर मिश्र	२०७
११.	जानकीनन्दन	२१२	३२.	राघव उपाध्याय	२१०
१२.	दामोदर मिश्र	२०७	३३.	राघव झा	२१०
१३.	दिगम्बर ठाकुर	२११	३४.	लक्ष्मीधर	२११
१४.	दिवाकर	२११	३५.	लक्ष्मीनारायण मिश्र	२०८
१५.	दु:खभञ्जन कवि	२१२	३६.	वसन्त मिश्र	२१२
१६.	दुर्गादत्त झा	२०९	३७.	विद्यानाथ	२०९
१७.	दुर्गादत्त मिश्र	२०९	३८.	वंशीधर झा	२१०
१८.	नरहरि	२११	३९.	हरिदास मिश्र	२०९
१९.	पद्मनाभ मिश्र	२०८	४०.	हरिहर उपाध्याय	२१०
२०.	प्रीतिकर	२११	४१.	हर्षकीर्त्ति उपाध्याय	२०८
२१.	बदरीनाथ	२१२	४२.	हलायुध शर्मा	२०७

चर्चित दैवज्ञों की सूची

सं.	नाम	पृ.सं.	सं.	नाम	पृ.सं.
१.	अच्युतानन्द झा	२५८	१०.	कलाधर	२१८
२.	अजबलाल ठाकुर		११.	कालिदास	२१९
३.	अनूप मिश्र	२४३	१२.	काशीनाथ उपाध्याय	२२०
४.	अनूपलाल झा	२५८	१३.	किशोरी झा	२५५
५.	अपूछ झा	२१७	१४.	कुञ्जी झा	२५८
६.	अभिराम मिश्र	२५५	१५.	कुशेश्वर कुमर	२५७
७.	उमाकान्त झा	२४३	१६.	कृष्णदत्त उपाध्याय	२२१
८.	कपिलेश्वर चौधरी	२५७	१७.	गणपति	२१४
९.	कमलनयन मिश्र	२१७	१८.	गेनालाल चौधरी	२५५


17766
संस्कृत भवन, लखनऊ





ALL MAHAPURANAS

Text with Shloka Index and Introduction

Agni Mahapurana
pp 664 Rs. 800.00

Bhagavata Mahapurana
pp 2304 4 Vols.Set Rs.3000.00

Bhavishya Mahapurana
pp 1400 3 Vols.Set Rs.2000.00

Brahma Mahapurana
pp 728 Rs. 900.00

Devi Bhagavata Mahapurana
pp 1154 Rs.1500.00

Ganesha Purana
pp 832 1993 Rs.1000.00

Garuda Mahapurana
pp 668 Rs. 800.00

Harivansha Purana
मूल, हिन्दी अनुवाद तथा श्लोकानुक्रमणी सहित
pp 1802 2 Vols. Rs.2200.00

Kurma Mahapurana
pp 298 Rs. 400.00

Linga Mahapurana
pp 774 Rs. 900.00

Markandeya Mahapurana
मूल, हिन्दी अनुवाद तथा श्लोकानुक्रमणी सहित
pp 828 Rs.1000.00

Narada Mahapurana
pp 932 Rs.1200.00

Padma Mahapurana
pp 2381 4 Vols. Set Rs.3000.00

Shiva Mahapurana
pp 1504 2 Vols. Set Rs.1800.00

Skanda Mahapurana
pp 5600 8 Vols. Set Rs.6500.00

Vamana Mahapurana
pp 472 Rs. 600.00

Varaha Mahapurana
pp 606 Rs.1200.00

Vayu Mahapurana
pp 540 Rs. 700.00

Vishnudharmottara Mahapurana
pp 1246 Rs.1500.00

Vishnu Mahapurana
with two commentaries
pp 680 Rs. 800.00

fo".kqegkiqjk.k
मूल, हिन्दी अनुवाद तथा श्लोकानुक्रमणी सहित
– डॉ. श्रद्धा शुक्ला
pp 1000 2 Vols. Rs. 700.00

मत्स्य पुराण
मूल, हिन्दी अनुवाद तथा श्लोकानुक्रमणी सहित
– डॉ. श्रद्धा शुक्ला
2 Vols. Set Rs. 700.00

आद्युप पुराणम्
(मूल तथा हिन्दी अनुवाद सहित)
pp 456 Rs. 250.00

Kalki Purana
pp 316 Rs. 200.00

Ekamara Purana
pp 490 Rs. 150.00

Kuber Purana (Text with Study)
pp 752 Rs. 500.00

Narashimha Purana
pp 380 Rs. 100.00

Saura Purana
pp 290 Rs. 200.00

Srimadbhargavopapuranam
-Brijesh Kumar Shukla
pp 348 Rs. 200.00

Vasuki Purana
pp 260 Rs. 250.00

Ashtadasha Purana Darpana
Contents of 18 Puranas
pp 432 Rs. 300.00

PURANAS WITH TEXT, TRANS & NOTES IN ENGLISH VERSWISE

Harivansa Purana
-Dr.K.P.A.MENON
pp 544 Rs.1000.00

Vishnu Purana
-H.H. WILSON
pp 1065 2 Vols. Rs.1000.00

Matsya Purana
-N.S. SINGH
pp 1252 2 Vols. Rs.1000.00

Kalika Purana
- *Prof. Biswanarayan Shastri*
pp 898 Rs.1500.00

Shiva Purana (Uttara Khanda)
(Text with Eng. Trs. & Introduction)
pp 818 Rs. 800.00

Narasimha Purana
(Text with Eng. Trs. & Introduction)
pp 744 Rs.1000.00



NAG PUBLISHERS